

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	आठ रुपया
प्रथम संस्करण	:	१ ९ ५ ९
आवरण	:	ना० मा० दुगोले
मुद्रक		नवीन प्रेस, दिल्ली-६

प्रकाशकीय

श्री केदारनाथ शास्त्री का सिन्धु-सभ्यता के आदिकेन्द्र—हड़प्पा से उत्खनन के रूप में बीस वर्ष तक अखण्ड सम्बन्ध रहा है। इस लम्बे काल में उन्हें इस अतीत-कालीन सभ्यता के विविध अंगों पर अनुसंधान करने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ है। विस्तृत भारतीय एवं विदेशी प्रागैतिहासिक ज्ञान के कारण वह इस ग्रन्थ में इस काल का निष्पक्ष एवं सन्तुलित अध्ययन प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं। उन्होंने अनेक विवादग्रस्त तथ्यों का, जो अब तक सिद्ध न किए जा सके थे और जिनकी सत्यता अब तक अन्धकार में थी, बहुत ही तर्कपूर्ण और प्रामाणिक उत्तर दिया है।

अभी तक सभी पुरातत्त्वज्ञ सिन्धु-सभ्यता में नारी अंश की प्रधानता मानते थे। उनके अनुसार उन लोगों की आराध्य मातृदेवी थी। लेकिन सर्वप्रथम श्री शास्त्री ने इस भ्रम का खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि सिन्धु-कालीन देवता भी वैदिक काल की भाँति पुरुष-लिंग ही थे। उन्होंने इस तथ्य की सत्यता के लिए कितने ही अकाट्य और मान्य प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं।

सिन्धु-सभ्यता के काल-निर्धारण में भी विद्वानों में मतभेद रहा है किन्तु श्री शास्त्री जी इसमें भी तनिक संदिग्ध नहीं हैं। उनका अध्ययन इस दिशा में अनुसंधान-कर्त्ताओं के लिए विशेषतः महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने इस सभ्यता के आदि के सम्बन्ध में अनेक खोजपूर्ण सामग्री संग्रह की है और इस प्रकार से इस उपादेय ग्रन्थ के प्रकाशन से प्रागैतिहासिक सभ्यता के इस अन्धकारमय पक्ष पर पूर्ण प्रकाश पड़ सका है। श्री शास्त्री ने इस पुस्तक में अद्यतन खनन से प्राप्त सामग्रियों का भी उपयोग किया है।

इस ग्रन्थ में तत्कालीन कला, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, धर्म आदि सभी विषयों का सर्वांगीण विवरण किया गया है। सिन्धु-देश की लिपि पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है। लिपि के विषय में अब तक यह मान्यता थी कि यह उर्दू की तरह दाहिनी ओर से लिखी जाती थी किन्तु श्री शास्त्री ने सिद्ध किया है कि ब्राह्मी लिपि की जननी यह लिपि भी उसी की ही तरह बाँयी ओर से लिखी जाती थी।

प्रस्तुत पुस्तक इस तरह के अनेक खोजपूर्ण तथ्यों से भरी हुई है और इस काल की सभ्यता का अध्ययन करने वाले अनुसंधाताओं के लिए प्रामाणिक एवं उपादेय ग्रन्थ है। जनसाधारण के लिए भी यह अत्यन्त रोचक और ज्ञानवर्धक सिद्ध होगी।

इसी विषय पर लेखक की अंग्रेजी पुस्तक 'New Light on the Indus Civilization' जिसकी भूमिका श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखी है, पत्र-पत्रिकाओं द्वारा बहुप्रशंसित हुई है और इतिहासकारों में अत्यन्त लोकप्रिय हुई है।

भूमिका

सिंधु-सभ्यता पर प्रकाशित साहित्य—सिंधु-सभ्यता के विषय पर सर जॉन मार्शल, डॉ० मेके और श्री माधोस्वरूप वत्स के लिखे हुए विशद ग्रंथ पहले आंग्ल भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमे मार्शल-सम्पादित 'मोहेंजो-दडो एण्ड दि इंडस वेली सिविलाइजेशन' ग्रंथ दूसरो की अपेक्षा अधिक मौलिक एवं प्रामाणिक है, क्योंकि देशकाल, धर्म, समाज, लिपि आदि मार्मिक विषयों पर अन्य विद्वानों ने प्रायः मार्शल का ही अनुसरण किया है। सिंधु-सभ्यता पर हिन्दी मे श्री सतीशचन्द्र काला की लिखी हुई 'मोहेंजो-दडो तथा सिंधु-सभ्यता' नामक केवल एक ही पुस्तक इस समय मार्केट मे उपलब्ध है। श्री काला जी का यह प्रयास श्लाघनीय है, परन्तु जहाँ तक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है यह मार्शल आदि विद्वानों के विचारों का केवल अनुवाद मात्र है। इसमे उनके अपने मौलिक विचार बहुत कम समाविष्ट हैं।

हड़प्पा से लम्बा सम्बन्ध—सिंधु-सभ्यता के आदि केन्द्र हड़प्पा से सहायक उत्खाता के रूप में मेरा बीस वर्ष तक अखण्ड सम्बन्ध रहा है। इस लम्बे काल मे मुझे इस सभ्यता के विविध अंगों पर अनुसंधान करने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप यह पुस्तक मैं पाठकों की सेवा मे समर्पण कर रहा हूँ। सिन्धुनद के कांठे तथा आस-पास के क्षेत्रों से पुरातत्त्वज्ञों को जो अनन्त वस्तु-सामग्री मिली उसमे मुद्राएँ, मुद्राछापें, चित्रित कुम्भकला आदि विविध वस्तुएँ सम्मिलित थीं। इनका अधिकांश अब नयी दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय मे सुरक्षित है।

उत्खाताओं से मेरा मतभेद—पूर्वोक्त वस्तु-सामग्री के सूक्ष्म परीक्षण के अनन्तर कई प्रमुख विषयों पर उत्खाताओं से मेरा मतभेद हो गया है। मोहेंजो-दडो के प्रधान उत्खाता और वर्तमान शती के प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ सर जॉन मार्शल के मत मे सिंधुकालीन लोगों का परम-देवता मातृदेवी थी, और उससे उतरकर एक त्रिमुख पुरुषलिंग देवता था (फलक १८, क), जिसे उन्होंने ऐतिहासिक काल के पशुपति शिव का पूर्वरूप माना है। इन्हीं की सम्मति मे सिंधु काल के देवता अधिकांश देवियाँ थीं। नारी-अंश की प्रधानता को उन्होंने सिंधुकालीन लोगों तथा वैदिक आर्यों मे विद्यमान विरोधी धर्मों मे से एक बतलाया है, क्योंकि उनके मत मे आर्यों के देवता अधिकांश

पुरुषलिंग थे। डॉ० मेके तथा श्रीवत्स मार्शल के पूर्वोक्त सिद्धान्त से सहमत हैं। परन्तु अनुसन्धान से प्रतीत होता है कि वैदिक देवताओ की तरह सिंधुकालीन देवता भी प्रधानत पुरुषलिंग ही थे, और उनका प्रधान-देवता मातृदेवी नही किन्तु अश्वत्थ-अधिष्ठातृ नर-रूप देवता था। प्रस्तुत निबन्ध मे मैंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सिंधुयुग के देवता अधिकतर सकीर्ण रूप, अर्थात् अशत नररूप और अशत पशुरूप थे। उनकी भुजाएँ साक्षात् कनखजूरे थे जिन्हे पुरातत्त्ववेत्ताओ ने "कन्धे से लेकर कलाई तक कगणो से लदी हुई मानुषी भुजाएँ" कहकर वर्णन किया है। कई देवताओ के ऊर्ध्वभाग कभी मानुषी और कभी पशुरूप हैं जबकि अधोभाग विहगाकार है। अर्ध-विहगाकार इन विचित्र जीवो के पखदार अधोभाग को उत्खाताओ ने भ्रम से 'तिरछे कटे हुए कोट' समझा था। मुझे अपनी गवेषणा से यह भी प्रतीत हुआ है कि तथाकथित पशुपति शिव का पूर्वरूप देवता जो मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० ४२० (फलक १८, क) पर अकित है न केवल त्रिमुख ही नही किन्तु मनुष्य मुख भी नही है। यह देवता महिष-मुण्ड है और इसका शरीर सकीर्ण है। इसकी भुजाएं साक्षात् कनखजूरे और टाँगे नाग हैं। धड बाघ के शरीर का आभास देता है। सुमेरियन लोगो के समान सिंधुकालीन लोगो मे भी 'देवद्रुम-कथानक' प्रचलित था। पीपल और शमी को ये लोग पूज्य मानते थे। पीपल 'ज्ञानतरु' और शमी 'जीवन-तरु' समझा जाता था। वृक्षनिवासी यक्ष के अतिरिक्त जीवनतरु की रक्षा करने वाले जीवो मे नर-मुण्ड सकीर्ण पशु तथा तीन सिरो वाला एक अन्य काल्पनिक चतुष्पाद भी था।

डॉ० व्हीलर का दोषग्रस्त काल-निर्णय—सिंधु-सभ्यता के काल के विषय मे सर मार्टीमर व्हीलर से भी मेरा मतभेद है। सन् १९४६ मे हड़प्पा मे जो खनन हुआ उसके आधार पर उन्होने सिंधु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल को २५०० से १५०० ई० पू० की सीमाओ के अन्दर नियत करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार प्रौढ़ सिंधु-सभ्यता के सम्वाहक हड़प्पा और मोहेंजो-दडो के केन्द्र-स्थानो मे २५०० ई० पू० के लगभग पहुँचे थे और उनसे पहले हड़प्पा के स्थान पर कोई विजातीय लोग निवास करते थे। अत उनके विचार मे हड़प्पा मे सिंधु-सभ्यता का आरम्भ २५०० ई० पू० के लगभग और अन्त १५०० ई० पू० के आस-पास हुआ। आन्तरिक एव पारिस्थितिक साक्ष्य के सूक्ष्म परीक्षण से पता लगता है कि प्रौढ सस्कृति के सम्वाहको द्वारा टीला ए-बी मे निर्मित दुर्गप्राकार की अपेक्षा 'टीला-एफ' एक हजार वर्ष अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर सिद्ध होता है कि मोहेंजो-दडो के टीलो मे उद्घाटित सातवें स्तर के भग्नावशेष ३००० ई० पू० के बाद के नही हो सकते। इससे नीचे जलमग्न स्तरो की आयु के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है परन्तु सातवें स्तर मे उत्खात विकसित सस्कृति के साक्ष्य पर यह अनुमान लगाना

अयुक्त नहीं, कि इस प्रौढ सास्कृतिक-भूमिका तक पहुँचने के लिए कम से कम एक हजार वर्ष लगे होंगे। हडप्पा और मोहेंजो-दडो के टीलो की स्तर-परीक्षा तथा अन्य देशो से उपलब्ध भारतीय वस्तुओ के तुलनात्मक अध्ययन से भी पता लगता है कि सिंधु-सभ्यता का प्रारम्भ निस्सन्देह चौथी सहस्राब्दी के प्रथम चरण मे हुआ होगा।

डॉ० व्हीलर द्वारा प्रतिपादित सिंधु-सभ्यता के काल-निर्णय के समर्थन मे प्रो० पिगट ने जो प्रमाण दिये हैं वे अत्यन्त दुर्बल और अपर्याप्त हैं। इस निर्णय के विरुद्ध बलवत्तर और सगत प्रमाणो की उन्होने अशेषत अवहेलना की है। दोनों पक्षो के प्रमाणो की तुलनात्मक समालोचना के अनन्तर मैंने उनसे उचित निष्कर्ष निकालने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

'एन्शेंट इण्डिया न० ३' मे डॉ० व्हीलर ने 'कब्रिस्तान-एच' के निर्माताओ को वैदिक आर्य सिद्ध करने की बलवती क्लिष्ट-कल्पना की है। उनके मत मे ये आर्य ही थे जिन्होने १५०० ई० पू० के लगभग आक्रमण करके सिंधु-सभ्यता को निर्दयता से निर्मूल कर दिया। अपनी समालोचना मे मैंने दिखलाया है कि 'कब्रिस्तान-एच' के निर्माता वैदिक आर्य नही थे।

क्रीट द्वीप का साक्ष्य—सिंधु-सभ्यता के अति प्राचीन होने मे एक और अद्धेय प्रमाण दो सिंधु-मुद्राएँ हैं जिन पर देव-पुरोहितो द्वारा अभिनीत वृषोत्प्लव-क्रीड़ाएँ अंकित हैं (फलक २७, ३, ५)। इनमे से एक मुद्रा पर ये धार्मिक खेल जीवनतरु शमी के सामने महिष-मुण्ड देवता की अध्यक्षता मे खेले जा रहे हैं। दोनो मुद्राएँ मोहेंजो-दडो के टीलो मे बहुत गहरी तहो से मिली थी। स्तर-परीक्षा के आधार पर ये ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के प्रथम चरण के बाद की नही हो सकती। भारत पुरातत्त्व-विभाग की १९३४-३५ की रिपोर्ट मे डाक्टर सी० एल० फाब्री ने अपने लेख मे सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये धार्मिक-क्रीडाएँ भारत ने क्रीट-द्वीप की प्रागैतिहासिक मिनोअन सभ्यता से सीखी थी। इस द्वीप मे मातृदेवी की पूजा, देवद्रुम, दिव्य कपोत आदि उसके लक्षणो द्वारा होती थी। मैंने दिखलाया है कि क्योंकि क्रीट की ये समानरूप क्रीडाएँ १७५० ई० पू० के लगभग धार्मिक-रूप धारण करके १५वी से १२वी शती तक वहाँ प्रचलित रही, इसलिए इनका सिंधुकालीन वृषोत्प्लव-क्रीडाओ पर प्रभाव नही पड सकता था, क्योंकि १८वी शती ई० पू० के लगभग सिंधु-सभ्यता स्वय नामशेष रह गयी थी। विविध प्रमाणो का सयुक्त साक्ष्य केवल एक ही निर्णय की ओर निर्देश करता है और वह यह कि यह क्रीट-द्वीप था, न कि भारत, जिसने तीसरी सहस्राब्दी के अन्त में इस क्रीडा को साक्षात् अथवा किसी माध्य के द्वारा सिंधु-प्रान्त से प्राप्त किया। यह सर्वसम्मत तथ्य है कि मिनोअन-काल के क्रीटवासियो की धर्म-पद्धति और कला-रूढ़ियाँ पश्चिमी एशिया तथा मिश्र की उत्कृष्ट सभ्यताओ का प्रतिबिम्ब मात्र थी।

रंगपुर और रोपड़ का साक्ष्य—सौराष्ट्र के अन्तर्गत रंगपुर और पूर्वी पंजाब मे स्थित रोपड़ नामक खण्डहरो मे पुरातत्त्व विभाग ने जो खुदाई कराई उससे पता चलता है कि २००० ई० पू० के करीब सिंधु-सभ्यता के जो लोग यहाँ बसे थे वे सिंधु-कालीन उत्कृष्ट कलाओ और धर्म का भूल चुके थे। इन स्थानो से धार्मिक अभिप्राय की एक भी ऐसी वस्तु नही मिली जिससे पता लग सकता कि इन उपनिवेशो के रहने वाले अब भी महिषमुण्ड, अश्वत्थ देव आदि सिंधुकालीन देवताओ की पूजा करते थे। अत सिंधु-सभ्यता की विविध विलक्षणताओ का अत्यन्ताभाव इस सत्य का प्रतिपादक है कि रंगपुर और रोपड़ के रहने वाले सिंधु-सभ्यता के लोग चिरकाल से इस सभ्यता के केन्द्र-स्थानो (हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो) से सम्पर्क छोड़ बैठे थे, और अपनी मूल-सस्कृति की विशिष्टताओ को भूल चुके थे। प्रतीत होता है कि ये लोग उन सिंधु निवासियो के वंशज थे जो सिंधु-साम्राज्य के पतन पर नए घरो की तलाश मे पूर्व तथा दक्षिण की दिशाओ मे बिखर गए थे। उनकी सन्तानें कई पड़ावो मे ठहरती हुई अन्त मे इन स्थानो मे आ बसी। इतने लम्बे काल मे अपने मौलिक धर्मांगो और सास्कृतिक विशिष्टताओ को भूल जाना उनके लिए अनिवार्य ही था।

लोथल का खण्डहर—सन् १९५४-५५ मे भारत के पुरातत्त्व-विभाग ने सौराष्ट्र मे लोथल नामक एक और प्रागैतिहासिक टीले का खनन कराया। यह स्थान रंगपुर से तीन मील पूर्वोत्तर मे है। देश-विभाजन के अनन्तर आज तक जितने सिंधु-सभ्यता के खण्डहर उपलब्ध हुए उनमे इसका विशेष महत्त्व है। रंगपुर और रोपड़ की अपेक्षा लोथल का खण्डहर अधिक सुरक्षित और पाँच सौ वर्ष प्राचीनतर भी है। इसकी अन्य विलक्षणता यह है कि इसके समस्त जीवन-काल मे केवल सिंधु-सभ्यता के लोग ही यहाँ आबाद रहे, रोपड़ और रंगपुर की तरह उत्तरकाल में विजातीय लोग आकर नही बसे। इस बस्ती का आरम्भ २५०० ई० पू० के लगभग हुआ और इसकी खुदाई मे पाँच सिंधु-मुद्राएँ मिली जिनमे से एक पर एकशृंग पशु खुदा है। यह पशु, जैसा कि मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० ३८७ (फलक १८, ड) से पता चलता है अश्वत्थ-देवता का प्रिय पशु था। अत इसमे सन्देह नही रहता कि लोथल के निवासी सिंधु-सस्कृति के लोगो मे सिंधु-युग के धर्म का कुछ अंश अभी शेष था।

चित्रित सलेटी कुम्भकला (पेंटड ग्रे वेअर)—भारत के इतिहास का वह काल जो सिंधु-सभ्यता के अन्त और छठी शताब्दी ईसापूर्व के मध्य मे पड़ता है अन्धकाल माना गया है, क्योंकि इसके सम्बन्ध मे इतिहासकारो को बहुत थोड़ा ज्ञान है। हस्तिनापुर, रोपड़ और सलौरा आदि स्थानो मे चित्रित सलेटी कुम्भकला की उपलब्धि से पूर्वोक्त अन्धकाल पर अनुसन्धान की किरणें पड़ना शुरू हो गई हैं। इसी कुम्भकला के अंश उत्तरी शतद्रु तथा प्राचीन सरस्वती (घग्घर) की घाटियो मे स्थित

साठ अन्य खण्डहरो मे भी पाए गए हैं। पुरातत्त्व-विभाग के विद्वानो की सम्मति मे यह कुम्भकला वैदिक आर्यों की कृति थी और उस समय बाहर से आई जब इस जाति ने ईसापूर्व १३वी शती मे सरस्वती की घाटी मे प्रथम पदार्पण किया। "हस्तिनापुर के खण्डहर तथा महाभारत-काल" शीर्षक अपने लेख मे मैंने दिखलाया है कि यदि हम इस कुम्भकला को आर्य-जाति की कृति मानें तो हमे कितनी आपत्तियो का सामना करना पडेगा।

इस सदिग्ध परिस्थिति मे सिंधु-सभ्यता की तिथि को यथार्थ रूप से आँकने की परम आवश्यकता है। पूर्वोक्त अन्धकाल के इस ओर तो ईसापूर्व छठी शताब्दी है और अति दूर दूसरे किनारे पर सिंधु-सभ्यता के प्रकाश-स्तम्भ की धीमी किरण दिखाई दे रही है। यदि हम इस स्तम्भ के अन्तर को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से ठीक ठीक नाप सकें तो इस मानदण्ड से मध्यवर्ती अन्धकाल की बहुत-सी समस्याओ का सुलझाना सम्भव हो सकेगा। डॉ० व्हीलर और प्रो० पिग्गट ने सिंधु-सभ्यता की जो तिथि नियत की है वह भारत के प्रागैतिहासिक युग के ढांचे मे ठीक नही बैठती, जैसा कि रगपुर, लोथल आदि स्थानो के साक्ष्य से स्पष्ट है।

पीठ मन्दिर—मार्शल-प्रमुख उत्खाताओ की सम्मति मे सिंधुकाल के खण्डहरो की खुदाई मे देवालय या किसी अन्य धर्म-स्थान के कोई अवशेष नही मिले। इस पुस्तक के अन्तर्गत 'सिंधुकालीन पीठ-मन्दिर' नामक अपने लेख मे मैंने दिखलाया है कि हडप्पा और मोहेंजो-दडो के दोनो उत्तुग टीले, अर्थात् टीला 'ए-बी' और 'स्तूप-टीला', जो आरम्भ मे प्राकार-वेष्ठित थे, सम्भवत उस युग के पीठ-मन्दिर थे, क्योंकि आकार, विशालता तथा रचना मे ये मेसोपोटेमिया के 'जिग्गुरत' नामक पीठ-मन्दिरो के बहुत सदृश हैं।

सिंधु-लिपि—अठारहवें अध्याय में मैंने सिंधुकालीन चित्रलिपि पर प्रकाश डाला है। आज तक इस लिपि के मौलिक तथा उनके रूपान्तर जितने अक्षर मिल चुके हैं उनकी सख्या ६०० के ऊपर बैठती है। इस लिपि की तुलना जमदेत-नस्र काल की सुमेरियन तथा इलम की चित्रलिपियो मे है जो मेसोपोटेमिया मे ईसापूर्व ३५०० के लगभग प्रचलित थी। यह सादृश्य सिंधु-सभ्यता के ईसापूर्व ४००० वर्ष प्राचीन होने मे अवाच्य प्रमाण है। इस लिपि के सम्बन्ध मे जो अनुसन्धान मैंने किया है उससे मैं इस निर्णय पर पहुँच सका हूँ कि ब्राह्मी-लिपि की तरह यह भी बाएँ से दाएँ को लिखी जाती थी, न कि दाएं से बाएँ को, जैसा कि प्रो० लेंगडन, सिडने स्मिथ, गैड तथा डॉ० हटर आदि का मत है। सिंधुलिपि के सम्बन्ध मे इस पुस्तक मे मैं केवल एक ही अध्याय समाविष्ट कर सका हूँ जिसमे इस लिपि की साधारण विलक्षणताओ का ही वर्णन है। मुद्रण की कई एक अनिवार्य कठिनाइयो के कारण इसमें

फलक-परिचय

सिंधु-सभ्यता का आदिकेन्द्र

हड़प्पा

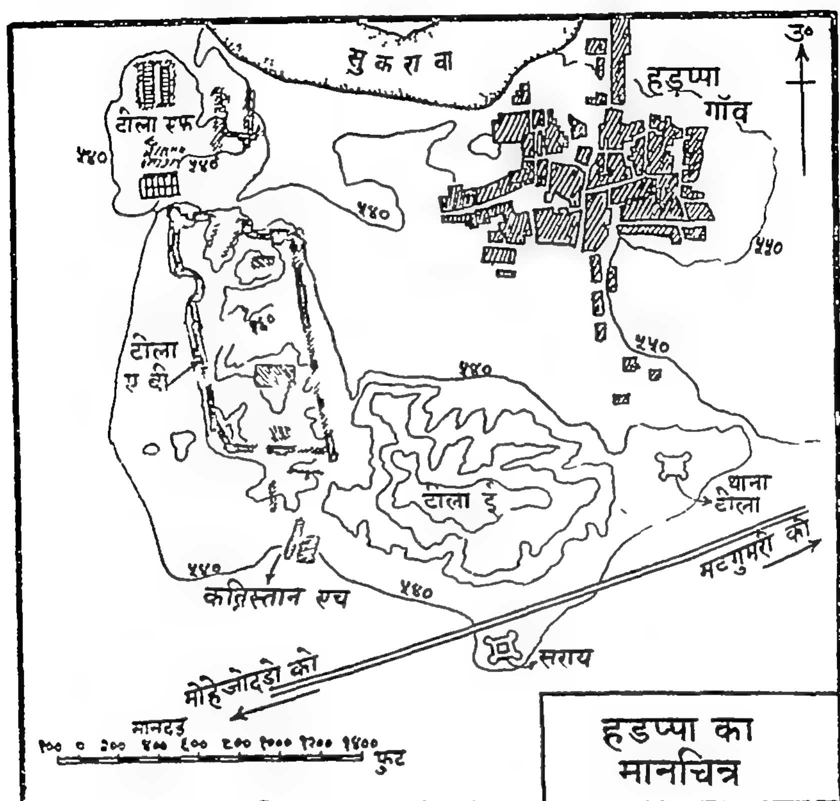
१

स्थिति तथा इतिहास

स्थिति तथा भौगोलिक रचना—हड़प्पा के खंडहर जो रावी नदी के तटवर्ती सब खंडहरों से अधिक विशाल हैं पश्चिमी पंजाब के मंटगुमरी जिला में आधुनिक हड़प्पा कसबे के साथ ही विद्यमान हैं। लंबाई और चौड़ाई में प्रायः पौन मील और परिधि में तीन मील के लगभग ये खंडहर ढाया नामक उस उच्च धरातल के उत्तरी किनारे पर स्थित हैं, जो इस स्थान पर रावी के आस-पास की निम्नतल भूमि में धीरे-धीरे लीन हो जाता है। यह धरातल मध्य में कछुए की पीठ के समान ऊँचा और किनारों की ओर ढलुआँ तमाम जिले के बीचोंबीच लंबाई के रुख अटा पड़ा है। लंबाई में लगभग साठ मील और चौड़ाई में प्रायः दस मील यह 'ढाया' जिले की भौगोलिक रचना का प्रधान अंग है। हड़प्पा के नीचे इसकी चौड़ाई क्रमशः संकुचित होती हुई अन्त में चीचावतनी के पास रावी के बाएँ किनारे में लीन हो जाती है। प्राचीन काल में इस पठार के उत्तर में रावी और दक्षिणी किनारे के साथ व्यास नदी बहती थी। इन नदियों के सूखे पाट, जिन्हें 'सुक-रावा' और 'सुक-व्यास' कहते हैं, आज भी उनके अतीत गौरव की स्मृति दिलाते हैं। 'सुक-रावा' हड़प्पा की उत्तरी सीमा पर और 'सुक-व्यास' वहाँ से दस मील दूर 'ढाया' पठार की दक्षिणी सीमा पर विद्यमान है।

इस पठार का मध्य भाग निर्जन और उजाड़ है, जिसमें छोटी-छोटी झाड़ियों व लोनी बूटी के सिवाय दूसरी वनस्पति बहुत कम है। इसी कारण चिरकाल से लोग इस भूमि को 'गजी-बार' नाम से पुकारते चले आए हैं। इस कठोर भूमि का एक बड़ा खंड जिसे 'बाड़ा' कहते हैं 'हड़प्पा रोड' रेलवे स्टेशन के पास कई मीलों तक व्याप्त है। दुपहर के समय सूर्य की किरणों के ताप से यहाँ साक्षात् मृगतृष्णा का भ्रम होता है। 'ढाया' पठार यद्यपि उजाड़ तथा बीहड़ है फिर भी इसका वह भाग जो रावी तथा सतलुज नदियों के निकटवर्ती है अत्यन्त उपजाऊ, वृक्षबहुल और मनोहर है। अतीत-काल में सुक-रावा और सुक-व्यास के सूखे पाटों में जब पूर्णस्रोत नदियाँ बहती थीं तो

इस छोटे से रम्य दोआबे मे स्थित प्राचीन हडप्पा अपने उत्कर्ष-काल मे उत्तरी भारत का अवश्य ही एक बहुत विशाल, रमणीक और समृद्ध नगर होगा ।



फलक १

हडप्पा के खंडहर, जिनमे बहुत से टीले और आस-पास के समतल क्षेत्र भी शामिल हैं, एक विषम-चतुर्भुज के आकार मे व्याप्त हैं (फलक १) । टीलो की ऊँचाई साथ के खेतो की अपेक्षा ८ से ६० फुट तक और समुद्रतल से ५३० से ५६० फुट तक है । यदि सबसे ऊँचे टीले पर खडे होकर चारो ओर दृष्टि दौडाई जाए तो कई मीलो तक मैदान ही मैदान दिखाई देता है जिसमे पीलु, जड, करीर और फराश के वृक्षो की भरमार है । विशेषत उत्तर की ओर जहाँ तक दृष्टि काम करती हैं, ये वृक्ष रावी की वर्तमान धारा का अनुसरण करते हुए सघन वन का रूप धारण कर लेते है । किसी समय यह जगल बहुत गुंजान था, परन्तु गत चालीस-पचास वर्षो मे जब से 'लोअर-बारी दोआब' नहर बनी है, लोगो ने जगल के बहुत बडे भाग को साफ करके

इसमे खेती बोना आरम्भ कर दिया है और अब इन खडहरो के आस-पास असख्य लह-लहाते खेत दिखाई देते हैं।

दो सहस्र वर्ष पहले इस प्रान्त की प्रकृति और यहाँ के निवासी प्राय ऐसे ही थे जैसे कि आजकल देखने मे आते हैं। इसका प्रमाण महाभारत के कर्णशल्य-सम्वाद प्रकरण मे, जहाँ वाहीक-निवासियो के गुण कर्म स्वभाव और देशप्रकृति का विस्तृत वर्णन किया गया है, मिलता है[1]। वहाँ लिखा है कि यह देश जड, पीलु और करीर के वनो से ढका हुआ था और वहाँ के निवासियो का स्वभाव चोरी करना, मद्य पीना गोमास और लहसुन खाना आदि था[2]।

जलवायु—'लोअर-बारी-दोआब' नहर खुदने से पहले पजाब का यह भाग जो अब मटगुमरी जिले के अन्तर्गत है चिरकाल तक एक उजाड और ऊपर प्रदेश था। ब्रिटिश राज्य के आरम्भ मे जो यूरोपीन अधिकारी इस जिले मे नियुक्त होते थे वे

---

१ सम्भव है कि यह प्रान्त जिसमे हडप्पा के खडहर विद्यमान हैं प्राचीन मद्रदेश के अन्तर्गत था। इसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) रावी और चनाब के मध्य मे थी। महाभारत मे इस प्रान्त के निवासियो का नाम 'वाहीक' लिखा है। सिकदर महान् के आक्रमण के समय ये लोग 'कठै' कहलाते थे और आजकल इनका नाम 'काठिया' है। अब ये लोग अपने को मुसलिम राजपूत कहते हैं और हडप्पा के आस-पास रावी के तट पर आबाद हैं। स्वभाव से ये उपद्रवी और झगडालू हैं।

२ तासा किलावलिप्तानां निवसन्कुरुजागले।
कश्चिद्वाहीक दुष्टाना नातिहृष्ट-मना जगौ॥
सा नूनं बृहती गौरी सूक्ष्मकम्बलवासिनी।
मामनुस्मरती शेते वाहीक कुरुवासिनम्॥
शतद्रु नु कदा तीर्त्वा ता च रम्यामिरावतीम्।
गत्वा स्वदेश द्रक्ष्यामि स्थूल जघा शुभा स्त्रिय॥
मृदगानकशखाना मर्दलाना च नि स्वनै।
खरोष्ट्राश्वतरैश्चैव मत्ता यास्यामहे सुखम्॥
शमीपीलुकरीराणा वनेषु सुखवर्त्मसु।
अपूपान्सक्तुपिण्डांश्च प्राश्नन्तो मथिनान्वितान्॥
गवस्य तृप्ता मासस्य पीत्वा गौड सुरासवम्।
पलाण्डु-गडूष-युतान्-खादन्ती चैडकान्बहून्॥

—महाभारत, कर्ण पर्व, ४४, १५-२८।

इसे कालापानी समझते और यहाँ की जलवायु से बहुत घबराते थे। जहाँ वार्षिक वर्षामान छ सात इच के लगभग हो और ग्रीष्मकाल अत्यन्त प्रचण्ड तथा लवा हो, जहाँ दिन को अर्धरात्रि वना देने वाले रेगिस्तानी तूफान प्राय दैनिक घटना हो, और रात के समय दश और मच्छर सताते हो, ऐसे प्रदेश को मनुष्य के निवास के अनुकूल नही कहा जा सकता। आज भी यह जिला भारत के अत्यन्त गर्म और सूखे जिलो मे एक माना जाता है। अपेक्षत शीतकाल अच्छा होता है। इसमे मनुष्य अदर बाहर का काम भली प्रकार कर सकता है।

किन्तु प्राचीन काल मे इस प्रान्त की जलवायु आजकल की अपेक्षा सुतरा भिन्न थी। इसमे सन्देह नही कि उस समय यहाँ वर्षा अत्यधिक होती थी। इस तथ्य का समर्थन निम्ननिर्दिष्ट प्रमाणो से मिलता है—

(१) 'ढाया' पठार और पूर्वोक्त दोनो नदियो के बीच का ढालुआँ प्रदेश असख्य बरसाती नालो से कटा पडा है, जिससे प्रतीत होता है कि प्रागैतिहासिक-युग मे यहाँ प्रचुर वर्षा होती थी और फलत जनसख्या भी अधिक थी।[1]

(२) टीलो की खुदाई से पता चलता है कि लोगो ने कच्ची ईंटो का प्रयोग केवल मकानो की बुनियादो मे ही किया था। ऊपरी भाग मे पकी ईंटें ही काम मे लाई गई थी।

(३) गैंडा, बाघ, हाथी, सूअर आदि पशुओ की जो असख्य मूर्तियाँ खुदाई मे मिली है उनसे सिद्ध होता है कि यह प्रान्त उस समय जलप्राय, वृक्षबहुल और दलदलो से घिरा हुआ था, क्योकि इन पशुओ के जीवन के लिये ऐसी भूमि ही अनुकूल है।

(४) हडप्पा के आदिनिवासियो ने जब टीलो के स्थान पर अपनी पहली बस्ती की नीव रखी तो उस समय सतह जमीन सुक-रावा के आधुनिक तल से दस बारह फुट और नीचे थी। परन्तु कालान्तर मे यह गहराई धीरे-धीरे नदी पक से भरती चली गई जो प्रतिवर्ष प्रबल बाढो के कारण नदी मे बह आता था।

ऐसे मनोहर और हरे-भरे भूखण्ड का धीरे-धीरे निर्जल और उजाड बन जाना निस्सन्देह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अनुसन्धान से प्रतीत होता है कि इस दारुण परिवर्तन का प्रधान कारण वर्षा की उत्तरोत्तर न्यूनता और अन्त मे उसका नितान्त अभाव ही था। प्रो० गार्डन चाईल्ड अपनी पुस्तक "न्यू लाईट आन दि मोस्ट एन्शेंट

---

१ इस प्रान्त मे 'चक पुराने स्याल' नामक एक खडहर है जो हडप्पा से प्राय १३ मील दक्षिण-पूर्व मे व्यासा नदी के सूखे पाट पर स्थित है। यह बस्ती सिन्धु-सभ्यता-युग की है और इसे श्रीमाधोसरूप वत्स ने सन् १९२८ मे उपलब्ध किया था।

ईस्ट" मे लिखते हैं कि अति प्राचीन युग मे जिसकी अर्वाचीन अवधि ५००० वर्ष ई० पू० के लगभग हो सकती है सिन्धुनद का काठा, बलूचिस्तान, ईराक, मिश्र और अफ्रीका का सहरा एक ही भूकक्षा मे स्थित होने के कारण समान जलवायु के भागी थे ; इन देशो को अन्धमहासागर (एटलाटिक ओशन) से प्रादुर्भूत जलधर-पवन (मानसून) सीचते थे और वर्षा-बहुलता के कारण ये देश उस समय प्रकृति के सुन्दर लीला-स्थल एव ससार की प्राचीनतम सभ्यताओ के केन्द्र बने हुए थे। किन्तु समय परिवर्तनशील है। कालान्तर मे जब यूरोप आत्यन्तिक हिमाटोप तथा उसके फलस्वरूप भारी वातावरण से विमुक्त हो गया तो अन्धमहासागर के मानसून पवनो को इस महाद्वीप मे प्रवेश करने का अवसर मिला, और उन्होंने अपना प्राचीन मार्ग छोडकर यूरोप के अदर नया मार्ग बना लिया। इस दारुण परिवर्तन से इस अक्षाश मे स्थित मिश्र, ईराक आदि सभी पूर्वोक्त देश मरुस्थल बन गये।

प्रो० चाईल्ड का सिद्धान्त यद्यपि सुगम और रोचक है, तथापि सर जान मार्शल के विचार मे इसे मान लेने मे कई आपत्तियाँ हैं। उनके मतानुसार सिंधुदेश, बलूचिस्तान और पश्चिमी पजाब को सीचने वाली मानसून पवनो का जन्म अन्धमहासागर से नही अपितु अरब सागर मे होता था। उनका यह मत भारत के जलवायु-विभाग की सम्मति पर आधारित है। मार्शल के इस सिद्धान्त के अनुसार जब तक ये देश इन पवनो से प्रभावित रहे इनमे प्रचुर वर्षा होती रही, परन्तु कालान्तर मे जब ये पवनें मार्गभ्रष्ट होकर दूसरी ओर बहने लगी तो इस भयकर परिवर्तन से पुरानी सभ्यता की इतिश्री हो गयी।

सक्षिप्त इतिहास—हडप्पा के खडहर के सम्बन्ध मे जो दन्तकथा परम्परा से चली आ रही है वह इस प्रकार है कि प्राचीनकाल मे यहाँ हरपाल नाम का एक दुराचारी राजा शासन करता था। उसके दुराचारो के कारण दैवी-कोप से एक ही रात मे सारा नगर नष्ट हो गया। कहा जाता है कि हडप्पा नाम भी उसी राजा के नाम पर पडा (हरपालपुर-हडप्पा)। सर अलेग्जैंडर कनिंघम का विचार है कि हडप्पा शहर और 'पो-फा-टो' नाम का स्थान, जिसका उल्लेख चीनी यात्री ह्वेनसाग ने अपनी 'भारत यात्रा' पुस्तक मे किया है, एक ही स्थान के सूचक है। परन्तु प्रमाणाभाव से न तो हडप्पा के नष्ट होने की दन्तकथा और न ही पो-फा-टो और हडप्पा की एकात्मता श्रद्धेय हो सकती हैं।

हडप्पा के सम्बन्ध मे जो पहला विश्वसनीय लेख मिलता है वह मेसन नाम का एक अग्रेज यात्री का है, जिसने इस स्थान को सन् १८२६ ई० मे देखा था। उसके पाँच वर्ष पीछे सन् १८३१ मे कर्नल बर्नस ने इन खडहरो का स्वत्र निरीक्षण किया जब वह इग्लैण्ड के राजा की ओर से दूत बन कर महाराजा रणजीतसिंह से मिलने लाहौर

आ रहा था। दोनो अंग्रेज यात्री लिखते है कि 'हड़प्पा के खडहर तीन मील की परिधि मे विशाल रूप से व्याप्त हैं और यहाँ पश्चिमी टीले पर एक टूटी-फूटी गढी अभी तक विद्यमान है।"

सर अलेग्जेंडर कनिघम—कनिघम महोदय ने जब पहले सन् १८५३ ई० मे और पुन १८५७ मे इन टीलो का निरीक्षण किया तो इस गढी का नामोनिशान मिट चुका था। इससे पता चलता है कि उस समय इन खडहरो मे 'ईंटो की लूट खसूट' कितने जोरो पर थी। अपनी 'सर्वे रिपोर्ट न० ५' मे कनिघम बडे खेद से लिखते हैं कि 'लाहौर-मुल्तान' रेलवे लाईन पर सौ मील तक जितना ईंट-रोडा पडा वह सब हड़प्पा के खडहरो की लूट का माल था। सन् १९२०-२१ से १९३२-३३ तक पुरातत्त्व विभाग ने जो खुदाई यहाँ कराई उसमे भी 'ईंटो की लूट' का पर्याप्त प्रमाण मिला था। सन् १९२०-२१ मे श्रव श्री दयाराम साहनी ने हड़प्पा मे पहली खुदाई कराई तो कनिघम के द्वारा वर्णित बहुत-सी इमारतें लुप्त हो चुकी थी। सन् १९२६ से १९३३ तक श्री माधोसरुप वत्स ने इन टीलो मे जो खनन कराया उसमे उन्हे १३ फुट की गहराई तक सुरगे मिली जो उन स्थानो मे स्वय बन गई थी जहाँ से लोगो ने ईंटे निकाल ली थी।

गत शताब्दी के मध्य मे कनिघम को हड़प्पा से जो अनेक प्राचीन वस्तुएँ मिलीं उनमे चित्रलिपि वाली मुद्राएँ भी थी (फलक ४६ घ)। इन्हें देख भारत तथा यूरोप के पुरातत्त्ववेत्ताओ मे बहुत कुतूहल पैदा हुआ। परन्तु हड़प्पा की प्रागैतिहासिक प्राचीनता का ज्ञान उस समय हुआ जब सन् १९२४ मे मोहेंजोदडो की खुदाई मे भी इसी शैली की वस्तुएँ प्रकाश मे आईं। तुलनात्मक समालोचना ने सिद्ध कर दिया कि हड़प्पा और मोहेंजोदडो की सभ्यताएँ न केवल परस्पर समान और एकरूप थी किन्तु इनका सुमेरियन सभ्यता से भी घनिष्ट सम्बन्ध था।

सन् १९२० की जनवरी मे भारत सरकार ने हड़प्पा के खडहर को 'प्राचीन-स्मारक-सरक्षण-धारा' के अधीन सुरक्षित कर दिया। तब से इन टीलो मे ईंटो की लूट खसूट सदा के लिये बद हो गई। यहाँ भारत पुरातत्त्व विभाग की ओर से खुदाई का प्रथम सूत्रपात सन् १९२० में श्री दयाराम साहनी ने किया था। इस काम को उन्होंने सन् १९२४-२५ तक जारी रखा। जब श्री माधोसरूप वत्स उनके स्थानापन्न हुए तो उन्होने सन् १९२६ से लेकर १९३३ तक इस काम को सम्हाला। हड़प्पा मे अधिकाश खननकार्य श्री वत्स जी का ही किया हुआ है। अनन्तर आर्थिक बाधाओ के कारण भारत सरकार को अन्य स्थानो की तरह हड़प्पा मे भी यह काम स्थगित करना पड़ा।

खडहर और उसकी खुदाई—हड़प्पा के खडहर मे कई टीले और उनके

दक्षिणी किनारे पर केवल एक-दो फुट के लगभग ही रह जाती है। उत्तरी भाग में दो आवर्तों का बना हुआ एक दोहरा कुआँ है जिसका अन्दर का आवर्त्त फन्नी के आकार की ईंटो से तैयार किया गया था। अन्दर से इसे ६२ फुट तक खाली किया गया था परन्तु फिर भी पानी की तह तक नही पहुँचा जा सका। कुएँ के अतिरिक्त इस खात में जो भग्नावशेष मिले उनमे दो वर्णनीय हैं। प्रथम तो एक १०६ फुट लम्बी ५८ टूटे मटको की पंक्ति थी जिसमे मटके अकेले अथवा दो-दो या तीन-तीन की राशि में एक दूसरे पर एक दीवार के सहारे रखे हुए थे। दूसरी उपलब्धि खात के दक्षिणी किनारे पर कच्ची ईंटो का एक बडा भराव था जो लम्बाई मे ७० फुट, चौडाई मे ५० फुट और मोटाई मे ६ फुट के लगभग था। यह भराव जिसे वत्स महोदय ने 'कच्ची ईंटो का असम्बद्ध तोदा' समझा था वस्तुत उस विशाल दुर्ग-प्राकार का खंड है जो टीला 'ए-बी' के चारो ओर हडप्पा के आदिवासियो ने बनाया था।

मध्यवर्ती खात—यह खात पूर्वोक्त खुदाई से प्राय ३०० फुट उत्तर मे स्थित है। इसकी लम्बाई १६४ फुट, चौडाई १३७ फुट और सर्वसाधारण गहराई १० फुट के लगभग है। इसमे उत्खात पाँच स्तरो के वास्तुखंडो मे निम्नलिखित मुख्य थे—(१) पाँचवें स्तर मे सम्बद्ध दोहरे फर्श की सुदृढ नाली जो २ फुट ३ इंच ऊँची थी, (२) १४० फुट लम्बी नोकीले छतवाली चौथे स्तर की नाली जो पूर्वोक्त बडी नाली के ठीक ऊपर बनी थी। इसके पश्चिमी सिरे पर दो जमीदोज कोष्ठ और कुछ दबे हुए मटके थे जो आस-पास की छोटी नालियो का बरसाती तथा गंदा पानी बडी नाली मे पहुँचाते थे। निस्सन्देह ये नालियाँ और गडे हुए मटके नगर के नाली प्रबन्ध से सम्बन्ध रखते थे।

इस खात मे जो महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हुई वह तीन मानव पंजरो की खंडित अस्थियाँ (न० ५४४०) थी जो एक कच्चे फर्श पर बिखरी पडी थी। ये पिंजर चौथे और तीसरे स्तरो के मध्यकाल के थे और वत्स महोदय के विचार मे खंड-शव (Fractional Burials) गाडने की उस विधि का पूर्व रूप थे जो कब्रिस्तान 'एच' के प्रथम स्तर के शवभाण्डो के समय प्रचलित थी।

उत्तरी खात—यह खात टीला 'ए-बी' की उत्तरी सीमा पर नौगजा कब्र के पश्चिम मे टीले की चोटी मे खुदा है। इसीलिये इसकी गहराई, जो मध्य मे ३० फुट है, क्रमश घटती हुई किनारो पर आकर केवल एक या दो फुट ही रह जाती है। इसमे सात स्तरो की इमारतो के भग्नावशेष प्रकाश मे आए थे। तेज ढलवान के कारण समान-स्तर की इमारतो की गहराई मे परस्पर बहुत अन्तर था।

यहाँ ऊपर के स्तर मे गुप्तकालीन (चौथी या पाँचवी शती ई० की) कुछ वस्तुएँ मिली थी जिनमें मिट्टी की तीन खंडित मूर्तियाँ वर्णनीय हैं। इनमें एक पर कोई अलंकृत

स्त्री मृदंग बजा रही है[1]। इनके अतिरिक्त एक ही सांचे में ढले हुए चार मानव मस्तक और कई बड़े आकार की तथा घड़ी हुई ईंटें थी। इस उपलब्धि से प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में इस टीले पर एक छोटी सी बौद्ध बस्ती थी। खात के मध्य में पत्थर की खंडित मुंदरियों का एक बड़ा ढेर मिला था। इसी भांति की दो मुंदरियां अब भी नौगजा कब्र के पास पड़ी हैं जिन्हें स्थानीय लोग नौगजा पीर की अंगुली की मुंदरियां बतलाते हैं। इमारती पत्थरों के बहुत से खंड जो यहां पाए गये उनमें से कई में धातु के खोखले बरमे से निकाले हुए छेद थे। इसी खात में पशुओं की हड्डियों का एक ढेर भी निकला था जिसमें कुत्ते का सिर और दांत तथा बैल, घोड़े आदि की अस्थियां मिश्रित थी।

टीला 'एफ'

नौगजा कब्र के पीछे खड़े होकर पश्चिमोत्तर की ओर देखने से टीला 'ए-बी' से सटा हुआ जो नीचा टीला दिखाई देता है वह टीला 'एफ' है। इसमें बाहर के लगभग खात खुदे हैं और दूर से देखने पर यह टीला शहद के छत्ते की तरह छिदा हुआ प्रतीत होता है। लम्बाई में यह पूर्व से पश्चिम के रुख ६७० फुट, चौड़ाई में ७८० फुट और ऊंचाई में आस-पास के खेतों से १२ फुट के लगभग है। इसकी उत्तरी सीमा पर सुकरावा (रावी का सूखा पाट) है, जहां प्राचीन समय में नदी की पूर्णस्रोत धारा बहती थी। अब यह धारा पांच मील उत्तर को बहती है। दूसरों की अपेक्षा इस टीले में प्राचीन वस्तुएँ और भग्नावशेष प्रचुर संख्या में मिले थे। यही कारण था कि यहां खुदाई अधिक मात्रा में की गई। इसमें छ बड़े और कुछ छोटे खात खुदे हैं जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है।

खात नं० १—यह खात टीले के पूर्व-दक्षिणी भाग में एक चतुर्भुज के आकार में खुदा है। इसकी गहराई दक्षिण में छ फुट से लेकर उत्तरी भाग में ३५ फुट तक है। इसके उत्तरी किनारे पर खड़े होकर देखने से उत्तरोत्तर आठ स्तरों की इमारतों के खंड स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि इस टीले पर क्रमशः आठ आबादियां हो चुकी है (फलक ६)। ऊपर के तीन स्तरों की इमारतें बनावट में घटिया, दुर्बल और खंडित हैं, परन्तु उनके नीचे के तीन स्तरों के वास्तु खंड दृढ़ और उत्कृष्ट रचना के हैं। सातवें और आठवें स्तरों के केवल थोड़े ही अवशेष मिले थे।

इस खात में उत्खात पुराण वस्तुओं में निम्नलिखित मुख्य हैं—कांसे का देगचा (नं० २७७) जिसमें एक सौ के लगभग तांबे के शस्त्रोपकरण तथा अन्य वस्तुएँ खचाखच भरी थी। पाषाण मुद्राओं तथा अन्य विविध वस्तुओं का एक वृहत् समुदाय,

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, भाग २, फलक ७२,५२।

दो पहिये वाला तांबे का रथ जिस पर सामने कोचवान बैठा है (फलक ४० ट)। टीला 'एफ' के स्तरज्ञान के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण खुदाई गहन-खात है, जहाँ उत्खनन का कुद्दाल सतह जमीन से ३५ फुट अर्थात् प्राचीनतम बस्ती मे भी १२ फुट नीचे की गहराई तक भूगर्भ मे प्रवेश कर चुका है। सबसे रोचक उपलब्धि जो इस स्थान पर हुई वह एक सौ के लगभग दूधिया पत्थर की क्षुद्राकार मुद्राएँ थी जो अधिकाश १० से १२ फुट की गहराई के बीच मिली थी। ये मुद्राएँ, जो प्रागैतिहासिक भारत की प्राचीनतम वस्तुएँ है, तथा उत्तरकालीन कब्रिस्तान 'एच' हड़प्पा की दो विशिष्टताएँ हैं जो अभी तक मोहेंजो-दडो व सिंधु प्रान्त मे अन्यत्र कही नहीं पाई गईं।

खात न० ३—यह खात पूर्वोक्त खुदाई से ८० फुट उत्तर मे है। इसमे बहुत सी उत्तम-उत्तम वस्तुएँ मिली थी जिनमे मुख्य ये है—मिट्टी की मुद्राछाप न० २२६२ जिस पर एक देव-पुरोहित एकशृंगवाली वेदिका उठाए खडा है[1], पत्थर का शिव-लिंग (न० ३४६३), बहुवर्ण चित्रों वाले मिट्टी के बर्तन, मिट्टी का एक वृहत् नांद (ऊँचाई २ फुट ७½ इच), और रगीन चित्रो वाले कई कुम्भखड आदि।

खात न० ८—यह खुदाई खात न० ३ से लगभग ६० फुट पूर्व को है। इसकी सबसे प्रधान इमारत चौथे स्तर का एक विशाल गृह (१००×४० फुट) था जिसमे नौ या दस कमरो के आसार मिले थे जो आँगन के पूर्वी और दक्षिणी भागो मे स्थित थे। उत्तरकाल मे यह मकान तीसरे स्तर के निवासियो के व्यवहार मे भी आता रहा।

खात न० २ (विशाल-धान्यशाला)—टीले के उत्तर-पश्चिमी भाग मे जो विस्तृत खुदाई है वह खात न० २ है। इसके मध्य मे एक अद्भुत स्मारक के भग्नावशेष हैं जिन्हे मार्शल महोदय ने अगत्या 'विशाल धान्यशाला' का नाम दिया है (फलक ३५ क)। सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु जो इस क्षेत्र मे मिली वह काले पत्थर की बनी हुई एक नर्तक मूर्ति थी।

खात न० ४—यह खात टीले के दक्षिण-पश्चिमी कोने मे खुदा है। इसकी साधारण गहराई १० फुट के लगभग है। जो इमारते यहाँ प्रकाश मे आईं उन सबमे मुख्य एक ही शैली के बने हुए चौदह चौकोन घर थे जो सात-सात की सख्या में दो श्रेणियो मे विभक्त पश्चिम से पूर्व की ओर फैले थे। इन मकानो के अन्दर तथा आस-पास सोलह भट्टियाँ मिली जिससे स्पष्ट था कि ये उन शिल्पियो के घर थे जो पत्थर, फियाँस, मिट्टी आदि की वस्तुएँ पकाने के लिए भट्टियो का प्रयोग करते थे। मकान न० २ के अन्दर एक भूषण समुदाय (न० ८०६०) मिला था।

---

१ देखो फलक २३ क।

'जी' प्रदेश

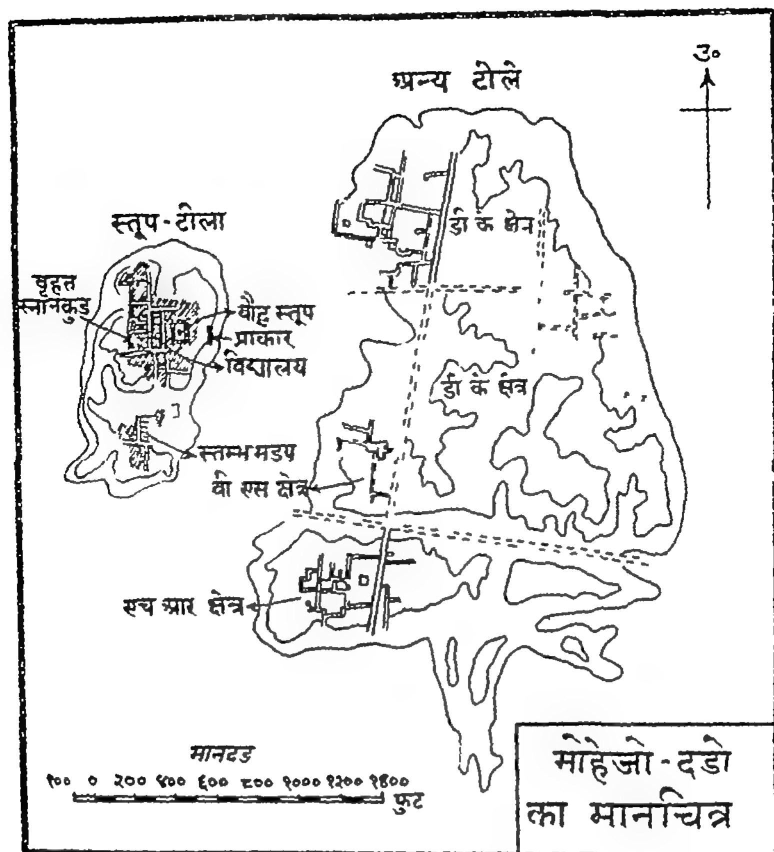
हड़प्पा के खंडहर का यह भाग 'थाना-टीला' के दक्षिण में 'करवांवाली' सड़क के पार स्थित है। हड़प्पा में आज तक जिन स्थानों में खुदाई हुई उनमें यह सबसे नीचा है। पूर्वी और दक्षिणी सीमाओं पर इसकी भूमि धीरे-धीरे पास के खेतों में लीन हो जाती है।

यहाँ तीन खात खोदे गये थे। एक छोटे से कुएँ के सिवाय इनमें से किसी में भी अन्य कोई वर्णनीय वास्तुखंड नहीं मिले। उपलब्ध वस्तुओं में निम्नलिखित वर्णनीय हैं—(१) मिट्टी की गोल शलाकाकार ३१ मुद्राछापें जिनके एक ओर चित्राक्षर हैं और दूसरी ओर एकशृंग पशु, (२) फियांस की बनी हुई मुद्राछाप जिस पर एक देवमूर्ति मन्दिर के अन्दर स्थानमुद्रा में खड़ी दिखाई गई है। इस देवता के सामने एक उपासक घुटना टेके बैठा है और उसके पीछे बकरा खड़ा है (फलक १९ घ), (३) मिट्टी के बर्तनों के दो बड़े समुदाय जो सिंधु-सभ्यता की प्राचीन कुम्भकला के उदाहरण हैं।

मानव पिंजर—सबसे अधिक महत्त्व की उपलब्धि जो इस खुदाई में हुई वह एक बहुत बड़ा मानव-अस्थि-समुदाय था, जिसमें मिट्टी के बर्तन और पशुओं की हड्डियाँ भी मिश्रित थी। यह समुदाय कुएँ से १४० फुट उत्तर में ४ फुट से लेकर ५ फुट १० इंच की गहराई तक भूमि में दबा पड़ा था। इसमें बीस मानव खोपड़ियाँ, एक मानव धड़, मनुष्य तथा पशुओं की मिश्रित हड्डियाँ और मिट्टी के बर्तन सम्मिलित थे। धड़ दूसरी हड्डियों से पाँच फुट दूर पड़ा था और मिट्टी के बर्तन प्रायः खोपड़ियों के साथ रखे हुए थे। हड्डियों के साथ या आस-पास कोई भूषण नहीं थे। डाक्टर बी० एस० गुहा, जिन्होंने इन हड्डियों का परीक्षण किया, लिखते हैं कि इस समुदाय में नौ युवा पुरुषों, दो युवतियों और पाँच बच्चों की खोपड़ियाँ थी।

ये मानव-पिंजर किसी प्रचंड हत्याकांड, महामारी आदि भयानक दुर्घटना के स्मारक थे। यह कहना कठिन है कि क्या इन शवों को यथावत् गाड़ा गया था अथवा पहले इन्हें खुले स्थान में फेंककर बची-खुची हड्डियों को पशुबलि तथा बर्तनों के साथ दफनाया गया था। शवों को इस प्रकार गाड़ने की दोनों विधियाँ कब्रिस्तान 'एच' के दफीनों में पाई गई हैं। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि इतने मनुष्यों का वध किसी महान् व्यक्ति की मृत्यु के उपलक्ष्य में किया गया था। इस प्रकार की सामूहिक नरबलि का उदाहरण केवल सर लियोनार्ड वूली को ईराक में 'उर' नामक खंडहर की 'राजकीय-कब्रों' (King's Graves) में मिला था। इस अस्थि-समुदाय के मिले हुए बर्तनों की बनावट के आधार पर वत्स महोदय ने इसका काल

और माधोसरूप वत्स के नामो पर रखे गये थे जिन्होंने इन टीलो पर सर्वप्रथम अपनी-अपनी खुदाई कराई थी।



फलक २

जलवायु—सिध का वह इलाका जिसमें ये खडहर विद्यमान हैं अपनी भीषण जलवायु के लिये चिरकाल से प्रसिद्ध है। शीतकाल मे तापमान हिमविन्दु से लेकर जून, जुलाई मे १२० डिग्री फेरेनहाईट तक पहुँच जाता है। सर्दी मे शरीर को जड बना देने वाली बर्फानी हवाएँ और गर्मी मे भयकर रेगिस्तानी तूफानें जलवायु की प्रचडता को और भी असह्य बना देती हैं। आजकल वार्षिक वर्षामान छ इच से शायद कभी ही बढ़ा हो, परन्तु चार अथवा पाँच हजार वर्ष पहले यहाँ वर्षा अत्यधिक होती थी और उसके फलस्वरूप जलवायु भी बहुत सुन्दर और अनुकूल थी। जिन प्राकृतिक

कारणो मे उस समय इस प्रान्त की रमणीकता थी उनका विशद वर्णन हड़प्पा की जलवायु के वर्णन-प्रसग मे ऊपर कर दिया है। मालूम होता है कि जलवायु मे जो इस प्रकार का दारुण परिवर्तन हुआ वह चौथी शती ई० पू० के पहले ही हो चुका था। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि इस शती मे भारत मे लौटती समय जब सिकन्दर की सेना मकरान मे से गुजरी तो यह इलाका पहले ही मरुस्थल बन चुका था, क्योंकि इसे पार करने मे यूनानी सेना का बहुत-सा भाग नष्ट हो गया।

नद और नदियाँ—इस समय सिंध प्रान्त को केवल सिंधुनद ही सींचता है। परन्तु बारह सौ वर्ष पहले जब अरब लोगो ने यहाँ पहला आक्रमण किया तो इस भूमि मे दो प्रतिद्वन्द्वी नद बहते थे। पश्चिम मे सिन्धु था और पूर्व मे महामिहरान, जिसका दूसरा नाम हकड़ा या वहिंदाह भी था। सातवी से चौदहवी शती ईसवी तक ये दोनो नद भिन्न-भिन्न प्रवाहो मे बहते रहे। वह अगाध जल जो उत्तर मे पजाब के पाँचो दरिया और पूर्व से घग्गर (प्राचीन सरस्वती) और चिटाग (प्राचीन दृषद्वती) नदियाँ लाती थी पूर्वोक्त दोनो नदों मे बँट जाता था। एक दूसरे के समानान्तर बहते हुए ये दोनो नद अपनी-अपनी धाराओ को स्वतत्र रूप मे अरब सागर मे विसर्जन करते थे। पता नही कि ताम्रयुग से लेकर अरब आक्रमण तक के अन्तराल मे इन नदो के प्रवाहो में क्या-क्या परिवर्तन हुए। ऐसा जान पडता है कि मोहेंजो-दड़ो के आदिनिवासी सिंधुनद की वार्षिक बाढो के आतक मे अतीव भयभीत रहते थे, क्योंकि इससे बचने के लिये उन्होंने मकानो के नीचे कच्ची मिट्टी के बडे-बडे भराव डाले थे जिससे बाढ का पानी ऊपर न आ जाए।

सिंधुनद के पात्र का उभार—वार्षिक बाढो के कारण सिंधुनद मे कीच की जो अनन्त राशि बहकर आती थी वह नदी के पात्र तथा आस-पास के तटवर्ती इलाके मे जमती गई। कई शताब्दियो की निरवच्छिन्न प्राकृतिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नदी का पात्र और किनारो के साथ का क्षेत्र ऊपर को उठ गया। प्रकृति का यह खेल धीमा होने पर भी निठुरता से काम कर रहा था। जैसे-जैसे शताब्दियाँ बीतती गई भूगर्भस्थ पानी की तह ऊपर को उठती गई और प्राचीन स्तरो के मकान जो पहले पानी की तह के ऊपर थे शनै शनै पानी की उठती हुई तह के नीचे डूबने गये। यही कारण है कि मोहेंजो-दड़ो और चन्हुदड़ो के टीलो के नीचे जो प्राचीनतम आबादियो के मकान है वे अब सभी जलमग्न हैं। इस समय भूगर्भस्थ पानी की तह पाँच हजार वर्ष पहले की तह से १० से २० फुट तक ऊपर उठ गई है।

खडहर और उनकी खुदाई—यद्यपि मोहेंजो-दड़ो के खडहर सिंध के अधिकारियो और पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्षो को चिरकाल से मालूम थे, इनकी यथार्थ प्राचीनता का ज्ञान उस समय हुआ जब पूना सर्कल के सुपरिटेंडेंट श्री राखालदास बनर्जी

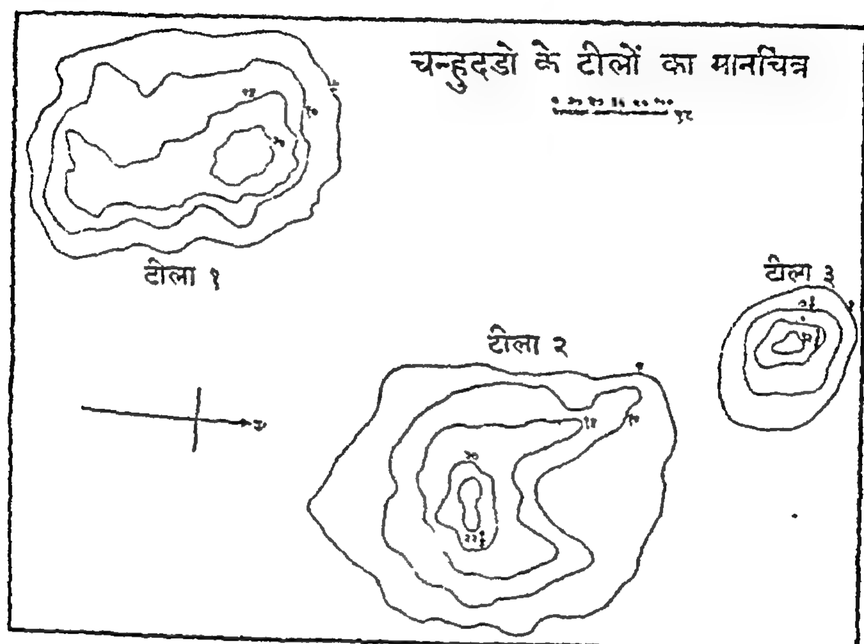
ने सन् १९२२-२३ मे यहाँ खुदाई का सूत्रपात किया। अनन्तर श्री माधोसरूप वत्स और श्री काशीनाथ दीक्षित ने १९२३-२४ और १९२४-२५ मे यहाँ खनन कराया। जब इनकी प्रागैतिहासिक प्राचीनता का पूर्ण ज्ञान हो गया तो भारत-पुरातत्व विभाग के तत्कालीन डायरेक्टर जनरल सर जान मार्शल ने १९२५-२६ के शीतकाल मे सर्कल-सुपरिटेंडेंटो के सहयोग मे बडे पैमाने पर काम शुरू कराया। इन सहयोगियो में हार्ग्रीव्ज, वत्स, दीक्षित, घोष, सनाउल्लाह आदि पुरातत्त्वज्ञ सम्मिलित थे। इन खुदाई का विशद वर्णन मार्शल-सम्पादित "मोहेंजो-दडो एड दि इडस वेली सिविलाइजेशन" नाम की पुस्तक मे दिया हुआ है। सन् १९२६-२७ मे डाक्टर ई० मेके की विशेषज्ञ के रूप मे नियुक्ति हुई। उन्होने १९३१ तक मार्शल के काम को चालू रखा। इस परिशिष्ट खनन का विस्तृत वर्णन "फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो-दडो" नामक उनकी पुस्तक मे सगृहीत है।

मोहेंजो-दडो के टीलो मे भिन्न-भिन्न काल की सात आबादियो के लक्षण मिले हैं, जो टीलो की चोटी मे लेकर पानी की तह तक व्याप्त हैं। उत्खाताओ ने इन सात आबादियो को प्रारम्भिक युग, 'मध्ययुग' और 'अन्तिम-युग' सज्ञक तीन कालो मे विभक्त किया है। इनमे से हर काल के तीन अवान्तर भाग है। सात स्तरो मे से ऊपर के तीन स्तरो के भग्नावशेष बहुत घटिया है और इस बात का समर्थन करते हैं कि इस अन्तिम काल मे नगर तीव्र गति से अवनति की ओर लुढक रहा था। पूर्वोक्त तीनो कालो का सक्षिप्त वर्णन नीचे 'सिन्धु-सभ्यता का काल-निर्णय" नाम अध्याय मे दिया गया है।

चन्हुदडो

मोहेंजो-दडो और हडप्पा मे उतर कर चन्हुदडो सिंधु-सभ्यता का तीसरा केन्द्र था। इसके खडहर मोहेंजो-दडो से ८० मील दक्षिणपूर्व सिंध के नवाबशाह जिले मे विद्यमान है (फलक ४)। स्थानीय दन्तकथा के अनुसार इसका यह नाम चन्हियो और बोहियो नाम की दो बहनो के नाम पर पडा था। परन्तु इन बहनो के सम्बन्ध मे इससे अधिक और कुछ ज्ञात नही है। ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी मे सिंधुनद जो अब चन्हुदडो के बारह मील पश्चिम मे है नगर के दामन मे बहता था। यहाँ से ३७ मील दूर बलूचिस्तान की सीमा पर कीर्थर पर्वतावली है। इसमे जो दर्रा है उसमे से होकर सिंध के लोग स्थल-मार्ग से ईरान आदि देशो से व्यापार करते थे। आज भी यह दर्रा पहले की तरह इसी काम मे आता है। इस प्रकार जल तथा स्थल मार्गो के द्वारा अन्य देशो से सम्बद्ध होने के कारण प्राचीन चन्हुदडो अवश्य ही एक प्रसिद्ध वाणिज्य केन्द्र था।

चन्हुदड़ो के खंडहर जिनमें केवल तीन टीले हैं जो एकड़ भूमि पर व्याप्त हैं। परन्तु आरम्भ में यह नगर इन सीमाओं के बाहर भी फैला हुआ था (फलक ३)। इस स्थान की उपलब्धि सन् १९३१ के फरवरी महीने में श्री ननीगोपाल मजुमदार ने की



फलक ३

थी जब वे सिंध के प्रागैतिहासिक खंडहरों की गवेषणा कर रहे थे। तीन सप्ताह खुदाई करने के अनन्तर उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि चन्हुदड़ो का खंडहर हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो का समकालीन था। अनन्तर सन् १९३५-३६ के शीतकाल में 'बास्टन संग्रहालय' की पुरातत्व-संस्था के नेता डा० मेके ने यहाँ विधिपूर्वक खनन कराया।

वर्णन के सुभीते के लिये उन्होंने चन्हुदड़ो के टीलों को १,२ और ३ के अंकों से निर्दिष्ट किया है। टीला नं० २ सबसे बड़ा है। इसकी परिधि १०६० फुट और ऊँचाई २८ फुट के लगभग है। इसके पश्चिमोत्तर भाग में टीला ३ है जो सबसे छोटा है। परिधि में यह ४५० फुट और ऊँचाई में १३ फुट है। तीसरा टीला (नं० १) टीला नं० २ के दक्षिण पश्चिम में १५० फुट के अन्तर पर ६५० फुट की परिधि में फैला है। ऊँचाई में यह २२ फुट है। तीनों टीले एक ही समय के हैं और आरम्भ में एक ही बड़े टीले के आकार में व्याप्त थे। उत्तरकाल में सिन्धुनद की प्रचण्ड बाढ़ों के कारण इनमें दरारें पड़ गईं और एक के तीन टीले दिखाई देने लग गये।

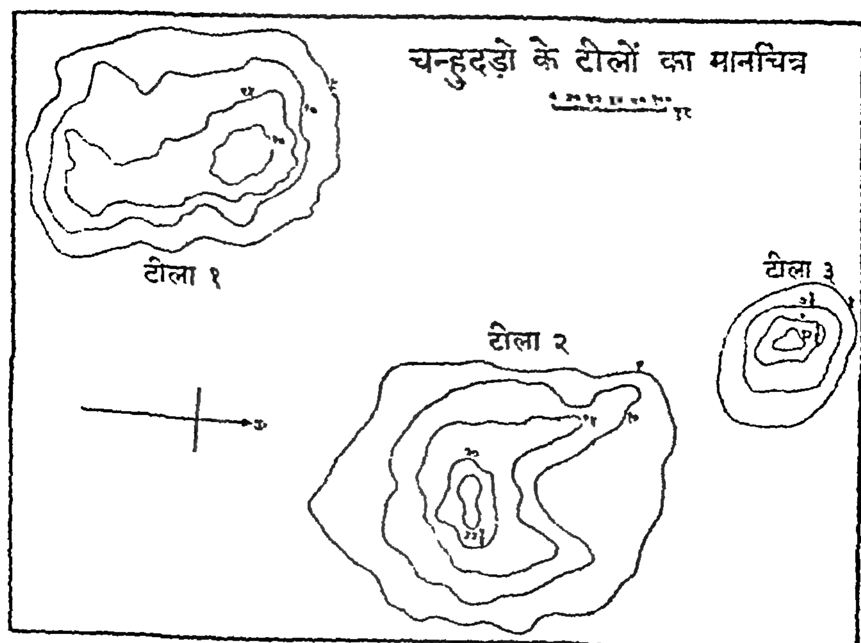
ने सन् १९२२-२३ मे यहाँ खुदाई का सूत्रपात किया। अनन्तर श्री माधोसरूप वत्स और श्री काशीनाथ दीक्षित ने १९२३-२४ और १९२४-२५ मे यहाँ खनन कराया। जब इनकी प्रागैतिहासिक प्राचीनता का पूर्ण ज्ञान हो गया तो भारत-पुरातत्त्व विभाग के तत्कालीन डायरेक्टर जनरल सर जान मार्शल ने १९२५-२६ के शीतकाल मे सर्कल-सुपरिटेंडेंटो के सहयोग मे बडे पैमाने पर काम शुरू कराया। इन सहयोगियो में हार्ग्रीव्ज, वत्स, दीक्षित, धामा, मनाउल्लाह आदि पुरातत्त्वज्ञ सम्मिलित थे। इस खुदाई का विशद वर्णन मार्शल-सम्पादित "मोहेंजो-दडो एड दि इडस वेली सिविलाइजेशन" नाम की पुस्तक मे दिया हुआ है। सन् १९२६-२७ मे डाक्टर ई० मेके की विशेषज्ञ के रूप मे नियुक्ति हुई। उन्होने १९३१ तक मार्शल के काम को चालू रखा। इस परिशिष्ट खनन का विस्तृत वर्णन "फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो-दडो" नामक उनकी पुस्तक मे सगृहीत है।

मोहेंजो-दडो के टीलो मे भिन्न-भिन्न काल की सात आबादियो के लक्षण मिले हैं, जो टीलो की चोटी मे लेकर पानी की तह तक व्याप्त हैं। उत्खाताओ ने इन सात आबादियो को प्रारम्भिक युग, 'मध्ययुग' और 'अन्तिम-युग' सज्ञक तीन कालो मे विभक्त किया है। इनमे से हर काल के तीन अवान्तर भाग हैं। सात स्तरो मे से ऊपर के तीन स्तरो के भग्नावशेष बहुत घटिया हैं और इस बात का समर्थन करते हैं कि इस अन्तिम काल मे नगर तीव्र गति से अवनति की ओर लुढक रहा था। पूर्वोक्त तीनो कालो का सक्षिप्त वर्णन नीचे 'सिन्धु-सभ्यता का काल-निर्णय" नाम अध्याय मे दिया गया है।

चन्हुदडो

मोहेंजो-दडो और हडप्पा मे उतर कर चन्हुदडो सिधु-सभ्यता का तीसरा केन्द्र था। इसके खडहर मोहेंजो-दडो से ८० मील दक्षिणपूर्व सिंध के नवाबशाह जिले मे विद्यमान हैं (फलक ४)। स्थानीय दन्तकथा के अनुसार इसका यह नाम चन्हियो और बोहियो नाम की दो बहनो के नाम पर पडा था। परन्तु इन बहनो के सम्बन्ध मे इससे अधिक और कुछ ज्ञात नही है। ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी मे सिंधुनद जो अब चन्दुहडो के बारह मील पश्चिम मे है नगर के दामन मे बहता था। यहाँ से ३७ मील दूर बलूचिस्तान की सीमा पर कीर्थर पर्वतावली है। इसमे जो दर्रा है उसमे से होकर सिंध के लोग स्थल-मार्ग से ईरान आदि देशो से व्यापार करते थे। आज भी यह दर्रा पहले की तरह इसी काम मे आता है। इस प्रकार जल तथा स्थल मार्गो के द्वारा अन्य देशो से सम्बद्ध होने के कारण प्राचीन चन्हुदडो अवश्य ही एक प्रसिद्ध वाणिज्य केन्द्र था।

चन्हुदड़ो के खण्डहर जिनमें केवल तीन टीले हैं नौ एकड़ भूमि पर व्याप्त हैं। परन्तु प्रारम्भ में यह नगर इन सीमाओं के बाहर भी फैला हुआ था (फलक ३)। इस स्थान की उपलब्धि सन् १९३१ के फरवरी महीने में श्री ननीगोपाल मजुमदार ने की



फलक ३

थी जब वे सिंध के प्रागैतिहासिक खण्डहरों की गवेषणा कर रहे थे। तीन सप्ताह खुदाई करने के अनन्तर उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि चन्हुदड़ो का खण्डहर हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो का समकालीन था। अनन्तर सन् १९३५-३६ के शीतकाल में 'बास्टन संग्रहालय' की पुरातत्त्व-संस्था के नेता डा० मैके ने वहाँ विधिपूर्वक खनन कराया।

वर्णन के सुभीते के लिये उन्होंने चन्हुदड़ो के टीलों को १,२ और ३ के अंकों से निर्दिष्ट किया है। टीला नं० २ सबसे बड़ा है। इसकी परिधि १०९० फुट और ऊँचाई २८ फुट के लगभग है। इसके पश्चिमोत्तर भाग में टीला ३ है जो सबसे छोटा है। परिधि में यह ४५० फुट और ऊँचाई में १३ फुट है। तीसरा टीला (नं० १) टीला नं० २ के दक्षिण पश्चिम में १५० फुट के अन्तर पर ९५० फुट की परिधि में फैला है। ऊँचाई में यह २२ फुट है। तीनों टीले एक ही समय के हैं और प्रारम्भ में एक ही बड़े टीले के आकार में स्थित थे। उत्तरकाल में सिंधुनद की प्रचण्ड बाढ़ों के कारण इनमें दरारें पड़ गईं और एक के तीन टीले दिखाई देने लग गये।

(फलक ४)। सन् १९२८ में जब श्री मजुमदार ने यहाँ खुदाई कराई तो उन्हें तीन संस्कृतियों के अवशेष मिले। नीचे की तह में हड़प्पा की संस्कृति थी, अनन्तर झुकर की और सबसे ऊपर इंडो-सासानियन संस्कृति के चिह्न थे। झुकर के लोग यद्यपि निर्धन थे, तथापि अपनी वैयक्तिक सभ्यता के स्वामी थे। उनकी कुम्भकला, मनके, मुद्राएँ और अन्य वस्तुएँ हड़प्पा-संस्कृति की वस्तुओं से नितान्त भिन्न थीं। डा० मैके के विचार में चन्हुदड़ो के टीलों में झुकर-संस्कृति के लोग १७०० ई० पू० के लगभग निवास करते थे। इस समय यह अनुमान लगाना कठिन है कि इन लोगों का मूल-स्थान कहाँ था जहाँ से ये चन्हुदड़ो आए।

झाँगर-संस्कृति—इसे झाँगर-संस्कृति इसलिये कहते हैं कि यह सर्वप्रथम सिंध में झाँगर नाम के खण्डहर की खुदाई में श्री मजुमदार को उपलब्ध हुई थी। यह स्थान चन्हुदड़ो से पश्चिमोत्तर में ४३ मील की दूरी पर है।

चन्हुदड़ो का महत्त्व—डा० मैके की अध्यक्षता में अमेरिकन एक्सपेडीशन ने चन्हुदड़ो में जो खुदाई कराई उसमें पुरातत्त्व सम्बन्धी अनन्त सामग्री मिली। इसमें सिंधु-युग की मुद्राएँ, मुद्रा-छापें, पशु और मनुष्यों की पार्थिव मूर्तियाँ, मिट्टी के खिलौने आदि विविध वस्तुएँ सम्मिलित थीं। इनके अतिरिक्त ताँबे और काँसे के शस्त्रोपकरण और बर्तन, तथा पत्थर, सीप, हाथीदाँत आदि के नानाविध पदार्थ थे। परन्तु सबसे अधिक रोचक उपलब्धि जो यहाँ हुई वह रंगीन चित्रित बर्तनों के खंड थे जिन पर कई भाँति के विलक्षण चित्र जो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में नहीं मिले, अंकित थे।

३

सिन्धु-सभ्यता

हडप्पा और मोहेजो-दडो मे जिस सभ्यता की उपलब्धि हुई उसे 'सिन्धु-सभ्यता' का नाम इसलिये दिया गया कि वह एक समय सिन्धु नद के काठे मे व्याप्त थी। पुरातत्त्ववेत्ताओ मे यह प्रथा है कि वे किसी प्रागैतिहासिक सस्कृति को उस स्थान के नाम से पुकारते हैं जहाँ वह सर्वप्रथम प्रकाश मे आई हो। इस प्रथा के अनुसार इस सस्कृति को 'हडप्पा-सस्कृति' कहना सगत है, परन्तु वस्तुत 'सस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दो मे महान् अन्तर है। 'सस्कृति' परिभाषा मे वे कतिपय रूढियाँ और कलाकृतियाँ समाविष्ट हैं जो किसी छोटे से क्षेत्र मे सीमित हो। इसके विपरीत 'सभ्यता' शब्द उन कतिपय समानधर्म सस्कृतियो का समुदाय है जो किसी विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र पर व्याप्त पाया जाए। यही कारण था कि आरम्भ मे सर जान मार्शल ने हडप्पा-सस्कृति को सिन्धु-सभ्यता के नाम से व्यवहृत किया था। सन् १९४६ मे डॉ० मार्टिमर ह्वीलर ने इस परिभाषा को त्याग कर इसे 'हडप्पा सस्कृति' के नाम से निर्दिष्ट करना उचित समझा। उसने अपनी पुस्तक 'एन्शेंट इडिया न० ३' मे प्राय इसी परिभाषा का व्यवहार किया था। परन्तु हर्ष की बात है कि अन्त मे उन्होने अपनी भूल को मान लिया, क्योकि अपनी दूसरी पुस्तक 'इडस सिविलाइजेशन' मे वे 'सिन्धु सभ्यता' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानने को बाध्य हो गये है[1]।

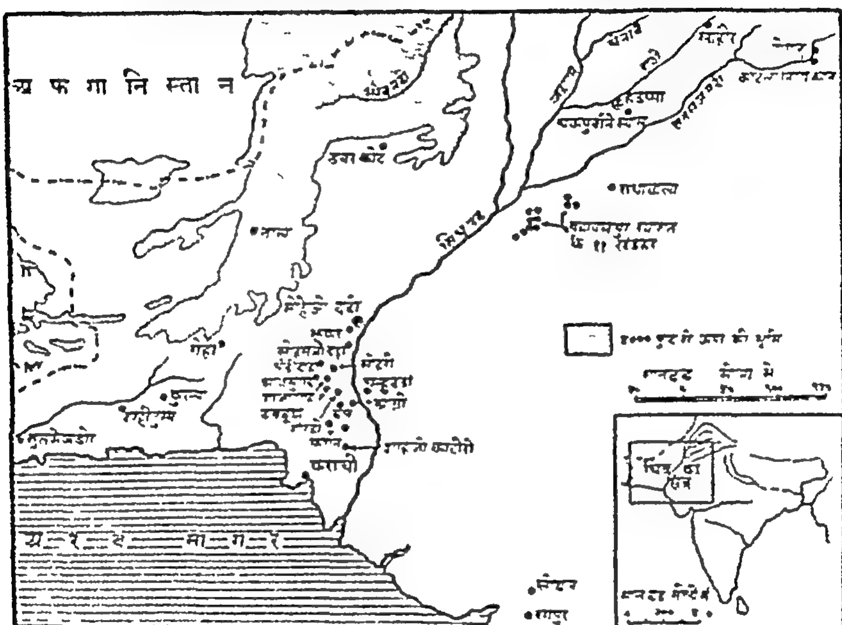
सिन्धु-सभ्यता की व्यापकता—सिन्ध का काठा और उसके आस-पास का प्रान्त जो अन्त मे सिन्धु-सभ्यता के प्रभाव मे आया एक बहुत विस्तृत क्षेत्र है। यह एक हजार मील लम्बा और ४०० मील के लगभग चौडा है (फलक ४)। इसका क्षेत्रफल ससार की दो प्रसिद्ध प्राचीनतम सभ्यताओ, अर्थात् मिश्र और बेबीलोनियन, के सयुक्त क्षेत्रफल से भी बडा था। श्री ननीगोपाल मजुमदार के अनुसन्धान से सिन्ध मे सिन्धु-सभ्यता के समान लक्षण २४ और प्रागैतिहासिक स्थानो की उपलब्धि हुई थी (फलक ४)। इनमे कई सिन्धु नद के साथ के मैदान मे और कई कीर्थर पर्वतावली की अधित्यका मे विद्यमान हैं। इनमे आठ आम्री-सस्कृति के, दस सिन्धु-सभ्यता के और शेष मिश्रित आम्री-सिन्धु सस्कृतियो के हैं। सिन्धु सभ्यता के खण्डहरो मे झुकर, लोहुम्जो-दडो,

---

१ ह्वीलर—इडस सिविलाइजेशन, पृ० २।
(सप्लीमेंट टु दि कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ् इण्डिया)।

चन्हूदड़ो, अलीमुराद, लाखियो, ढल, दर्चन, शाहजो-कोटीरो, कचनी और दिलोई हैं। मिश्रित आर्य्य-सिन्धु सभ्यता वालों में आम्री, पंडी वाही, लोहूरी, गाजीशाह और डम्ब बूथी वर्णनीय हैं[1]।

सिंध तथा पश्चिमोत्तरी भारत का मानचित्र



फलक ४

सर आरेल स्टाईन को बलूचिस्तान में हड़प्पा-संस्कृति के कई टीले मिले थे[2]। इन सब में मुख्य डाबर कोट, सुतकजेंडोर, कुल्ली और मेही हैं (फलक ४)। डाबर कोट उत्तरी बलूचिस्तान के लोरालाई क्षेत्र में और सुतकजेंडोर मकरान प्रान्त में अरब सागर के तट पर स्थित है। इन साक्ष्य से स्पष्ट सिद्ध होता है कि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के केन्द्रों से धीरे-धीरे प्रगति करती हुई सिन्धु-सभ्यता क्रमशः समस्त सिन्धु-काँठे पर छा गई थी और अन्त में इस भौगोलिक सीमा को लांघ कर बलूचिस्तान की पश्चिमी सीमा पर भी व्याप्त हो गई थी।

१ मजुमदार—एक्सप्लोरेशन्स इन सिन्ध, पृ० ८१-११५।

२ स्टाईन—मेमॉयर्स आफ दि आर्कियोलाजीकल सर्वे आफ इण्डिया, नं० ३७ और ४३।

सिन्धु प्रान्त से सिन्धु-सभ्यता का पसार पश्चिमोत्तर की ओर ही नही अपि पूर्व दक्षिण की ओर भी हुआ। इस तथ्य का प्रमाण कोटला-निहग, रोपड, रग और लोथल आदि प्रागैतिहासिक स्थानो की उपलब्धि से होता है जो इस सीमा बाहर पाए गये हैं। इनमे पहले दो स्थान पूर्वी पजाब मे और दूसरे दो काठियावाड हैं। कुछ समय हुआ पुरातत्त्व विभाग के अनुसन्धान से सतलज और घग्गर (प्राचं सरस्वती) नदियो के तटो पर कई प्रागैतिहासिक टीले मिले थे। परन्तु अभी त इस विभाग की ओर से इन उपलब्धि पर कोई विस्तृत विवरण प्रकाशित नही हुआ आशा की जा सकती है कि गगा के मैदान तथा उत्तरी भारत मे विकीर्ण प्राचीन टी का यदि वैज्ञानिक विधि से अनुसन्धान किया जाए तो इन भूभाग मे भी सिन्धु-सभ्य के अवशेष अवश्य मिलेगे। सम्भव है कि इन गवेषणा से उस अन्धकाल पर प्रक पडे जो सिन्धुयुग तथा मौर्यकाल के मध्यकाल मे पडता है।

स्मरण रहे कि रगपुर और रोपड मे सिन्धु-सभ्यता का जो रूप मिला है इस सभ्यता की अवनति का प्रतीक है। इसमे इसके यौवन काल की कला विलक्षणता और उन्नत-कृतियो का अशेषत अभाव है। मालूम होता है कि उस समय जो ल यहाँ रहते थे वे हडप्पा और मोहेजो-दडो की उत्कृष्ट शिल्पकला को अविनाश चुके थे। रगपुर और रोपड मे जो प्राचीन वस्तु-सामग्री मिली उसमे न तो मि मुद्राएँ हैं और न ही स्त्री पुरुषो तथा पशुओ की मूर्तियाँ। उन्नत शैली की चि कुम्भकला, फियान्स, शख और हाथीदाँत के विविध भूषणो और अलकरणो का एकदम लोप है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब ये लोग यहाँ आकर बसे तो उन सम्बन्ध इस सभ्यता के केन्द्रो (हडप्पा और मोहजो-दडो) से चिरकाल से टूट चुका और वे अपनी सस्कृति की उत्कृष्ट बातो को अशेषत भूल चुके थे। सम्भवत ये लोगो की सन्तान थे जिनके पूर्व-पुरुष कई पीढियाँ पहले सिन्धु साम्राज्य के पतन जन्मभूमि छोड नये घरो की तलाश मे इधर आ गये थे। पूर्व-पुरुषो के सिन्धु त्यागने और उनके वशजो के रगपुर और रोपड पहुँचने मे लम्बा समय लगा ह जिसमे वे अपनी सभ्यता की उत्कृष्ट कला-शैलियो और रूढियो को भूल गये।

इसमे सन्देह नही कि सिन्धु सभ्यता की कई रूढियाँ और कला-परम्प देश की भौगोलिक सीमाओ को लाघ कर मेसोपोटेमिया, ईरान और भूमध्य-सागर क्रीट-द्वीप तक भी जा पहुँची। मेसोपोटेमिया मे प्राप्त २३ सिन्धु मुद्राएं और विविध भारतीय वस्तुएं इस बात की साक्षी हैं कि सारगोन-काल से लेकर सा प्रथम के शासनकाल और उसके बाद तक भी सिन्धु देश का मेसोपोटेमिया से सम्पर्क रहा। यही निष्कर्ष उन भारतीय वस्तुओ और अभिप्रायो से निकल सकता जो सूसा, हिसार, सिआल्क आदि ईरानी टीलो से उपलब्ध हुई हैं। इस विषय

पुस्तक के पांचवें अध्याय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है ।

सिन्ध और बलूचिस्तान में सिन्धु-सभ्यता के अतिरिक्त और भी कतिपय संस्कृतियों के चिह्न मिले हैं । सिन्ध की संस्कृतियों में आम्री, झुकर और झांगर और बलूची संस्कृतियों में झोब, कोयटा, कुल्ली-मेही, नाल और शाहीटुम्प वर्णनीय हैं ।

मनुष्य की ताम्रयुग तक प्रगति—उचित होगा कि यहां संक्षेपतः इस बात का उल्लेख भी किया जाए कि वन-मानव दशा में प्रगति करता हुआ मनुष्य किस प्रकार सभ्यता के द्वारभूत ताम्रयुग तक पहुंचा । ताम्रयुगीन उन संस्कृतियों का वर्णन करना भी प्रासंगिक होगा जो पश्चिमी एशिया में सिन्धु-सभ्यता की समकालीन थीं ।

इस भूगोल पर मनुष्य के अस्तित्व का प्रमाण उसके बनाए हुए पत्थर के शस्त्रोपकरण हैं । इनके अतिरिक्त पाषाण युग के मनुष्य की खोपड़ियां तथा शरीर के इतर अंग भी मिले हैं । प्रारम्भिक पाषाण युग, जो दस लाख वर्ष के लगभग लम्बा था, असभ्य मनुष्य की सामूहिक आयु में सबसे लम्बा विकासकाल था । उसमें मनुष्य असभ्यता की दशा से आगे नहीं बढ़ा । इस दशा में उसकी कृतियां केवल कतिपय बेढंगे और बेडौल पत्थर के शस्त्रोपकरण थे जिनसे वह शिकार करता, शत्रुओं से लड़ता और खाने के लिये कन्द-मूल उखाड़ता था । आदि-पाषाण युग में वह वन-मानव की दशा में ही रहा । उसके नीचे का जबड़ा गोरिला की तरह बाहर निकला हुआ और मस्तिष्क अविकसित एवं विचारशक्तिहीन था । घर बनाकर स्थायी रूप से रहने का उसे ज्ञान नहीं था, न ही उसे पशुपालन व मिट्टी के बर्तन बनाने का ज्ञान था । पशुतुल्य असभ्य दशा के इस लम्बे काल में वह केवल आखेट तथा कन्दमूल से ही जीवन निर्वाह करता रहा । कृषि-ज्ञान उसके उत्तराधिकारी नव-पाषाण युग के मनुष्य का दीर्घकाल-व्यापी अनुभव-जन्य मन्द आविष्कार था ।

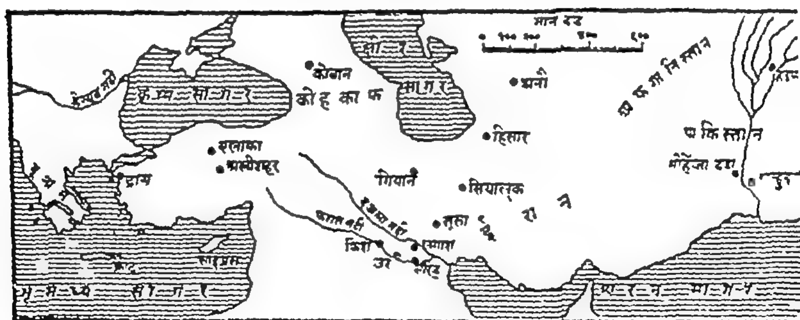
पुराण-पाषाण युग के अन्त पर, ईसा पूर्व १०००० वर्ष के लगभग, असभ्य मनुष्य के मस्तिष्क में एक विशिष्ट विकास हुआ, जिससे आगे चलकर बुद्धिमान ने नवीन पाषाण युग में प्रवेश किया । अब वह जो पाषाण के शस्त्र [illegible] बनाने लगा वे न केवल पहले से उत्कृष्ट ही थे, किन्तु [illegible] । [illegible] घिसे हुए होने से [illegible] चमकदार भी थे । इस [illegible] से [illegible] उत्कृष्ट होकर वह तीव्र गति से उन्नति करने लगा । नव-पाषाण युग के [illegible], अर्थात् छठी सहस्राब्दी के मध्य में उसने कृषि करना सीखा और आखेट के [illegible] जीवन को छोड़कर स्थायी ग्राम जीवन को अपनाया । कृषि-ज्ञान के [illegible] स्थायी [illegible] पशुपालन और मिट्टी के बर्तन बनाना [illegible] । पशुपालन और कुम्भ-[illegible] कृषि-[illegible] के आनुषंगिक [illegible] थे ।

[illegible], जो आदि [illegible] के बीजों की [illegible] और [illegible] में [illegible]-

दन से इस युग के मनुष्य के जीवन मे क्रान्ति की एक अपूर्व लहर उठी। फलत गमा मे जनसख्या प्रबल वेग से बढने लगी। भूमि का जो खड जो पहले, जब मनुष्य घुमन्त था, अपनी उपज से केवल एक हजार मनुष्यो को पाल सकता था, अब कृषि-युग मे दस लाख मनुष्यो के पालने के समर्थ हो गया। कृषिज्ञान के अनन्तर थोडे ही समय मे मनुष्य ने खानो से धातें निकालना सीखा। उन प्रान्तो मे जहाँ ताँबे की खानें थी नव-पाषाण युग के मनुष्य ने धातु मिश्रित पत्थरो को पिघला कर उनमे ताँबा निकालने का अनुभव प्राप्त किया और इससे नाना प्रकार के शस्त्रोपकरण प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया

ताम्रयुग—ताम्रयुग का आरम्भ ईसा पूर्व पचम सहस्राब्दी के लगभग हुआ यद्यपि ताँबे के हथियार पत्थर के हथियारो से बहुत श्रेष्ठ थे, फिर भी मनुष्य ने पत्थर के शस्त्रोपकरणो का प्रयोग एकदम नही छोड दिया। लम्बे काल तक पत्थर और ताँबा एक साथ प्रयोग मे आते रहे। इसका कारण सम्भवत ताँबे की कमी और पत्थर की बहुतायत थी। ताम्रयुग का यह प्रारम्भिक काल पुरातत्ववेत्ताओं मे 'ताम्र-प्रस्तर युग' के नाम से भी विदित है। सिन्धु-सभ्यता इसी युग के परिवार की सभ्यताओं मे से एक है।

पश्चिमी एशिया के ताम्रयुगीन खडहर



फलक ५

पश्चिमी एशिया की इस युग की सभ्यताओं मे मेसोपोटेमिया, मिश्र, ईरान और भूमध्य-सागर के पूर्वी तट की प्राचीन सभ्यताएँ वर्णनीय हैं। मेसोपोटेमिया मे प्राय आठ ऐसी सभ्यताएं मिली हैं। इनके नाम यथाक्रम सार्गानिक, वशावली कालीन, जमदेन-नसर, उरुक, अल-उबेद, हलाफ समारा और जर्मो या मर्सिन हैं, और ये उत्तरोत्तर एक दूसरी से प्राचीनतर हैं। इनमें से पहली सात 'प्रस्तर-ताम्र-युगीन' या ताम्रयुगीन हैं, परन्तु अन्तिम दो सभ्यताएँ सम्भवत नव-पाषाण युग की हैं। राजावली काल की

तिथि ३००० ई० पू० से २४०० ई० पू० है जब कि 'समारा' की तिथि छठी सहस्राब्दी ई० पू० तक व्याप्त होती है। स्मरण रहे कि सिन्धु-सभ्यता का आरम्भ-काल अल-उबेद के अन्त-काल अथवा 'उरुक-संस्कृति' के आरम्भ-काल के बराबर है और अन्त ईसा पूर्व २००० के लगभग है। इससे सिद्ध होता है कि इसका जीवन-काल १५०० वर्ष के लगभग रहा होगा।

मिश्र में प्राग्वंशावली-काल की कई संस्कृतियाँ मिली हैं। इनमें तासियन, बिडियन, बदारियन, अम्रेशियन, गर्जियन और वंशावली-कालीन वर्णनीय हैं। प्राचीनता में ये संस्कृतियाँ उत्तरोत्तर कम होती जाती हैं। गर्जियन-संस्कृति काल में कृषि का ज्ञान हो चुका था और सम्भवतः कृत्रिम उपायों से खेती सींचना भी लोग जानते थे। पूर्वोक्त संस्कृतियों की प्राचीनता नापने के लिये सर फ्लिंडर्स पिट्री ने 'सिक्वेंस-डेटिंग (क्रमिक-कालमान)' नाम की एक संख्यात्मक विधि निकाली। इस विधि का आरम्भ 'संख्या-३०' से होता है और अन्त संख्या-८० पर। इसके अनुसार मिश्र में वंशावली-शासन के प्रवर्तक नरेश फरऊन मेनीज का अभिषेक संख्या-७७ में पड़ता है और अम्रेशियन संस्कृति का काल संख्या-३० में। यह 'संख्या-३०' का काल मिश्र के कालमान के अनुसार छठी सहस्राब्दी ई० पू० में पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्र में यह गर्जियन संस्कृति थी जिसे निर्मूल करके मेनीज फरऊन ने वंशावली-शासन का सूत्रपात किया।

ईरान में भी कई प्रागैतिहासिक संस्कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं जिनका अस्तित्व-काल ईसा पूर्व छठी सहस्राब्दी से दूसरी सहस्राब्दी तक व्याप्त है। इनके नाम उन खण्डहरों के नाम पर पड़े हैं जहाँ वे सर्वप्रथम प्रकाश में आई थीं। इनमें सिआल्क, सूसा, गियान, ग्यनो, चश्मेह-अली, हिसार आदि वर्णनीय हैं (फलक ५) सिआल्क के निम्नतम स्तरों में धातु की वस्तुओं का नितान्त अभाव है। यद्यपि 'ग्यनो' टीले के निचले स्तर भी बहुत प्राचीन हैं, उनकी बाबत यह नहीं कहा जा सकता कि वे शुद्ध नव-पाषाण युग के हैं।

पूर्वोक्त विवरण से सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता की तुलना प्राचीन मिश्र, मेसोपोटेमिया और ईरान की ताम्र-पाषाण-युग काल की सभ्यताओं से है। इन काल की सभ्यताओं के उदाहरण मेसोपोटेमिया में अल-उबेद, मिश्र में गर्जियन और ईरान में सूसा (द्वितीय) और हिसार (द्वितीय) की संस्कृतियों में पाए जाते हैं। अतः सिन्धु-सभ्यता का तुलनात्मक अध्ययन पश्चिमी एशिया की पूर्वोक्त संस्कृतियों की पृष्ठभूमि में करना ही सङ्गत होगा, न कि एकाकी रूप से।

सिन्धु-सभ्यता के निर्माता—आज तक जो अनुसंधान हो चुका है उसके प्रकाश में सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं की जातीयता के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना

कठिन है। क्या वे भारत की मूल जातियो मे से थे अथवा विदेशीय उनका निर्धारण तभी हो सकेगा जब इनमे से किसी एक पक्ष के सम्बन्ध मे कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध होगा। कई भारतीय विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ये लोग आर्य थे। वाडल महोदय ने तो यह भी कह दिया है कि प्रागैतिहासिक काल मे सिन्धु देश सुमेरियन लोगो का उपनिवेश था। मार्शल महोदय के मत में पूर्वोक्त दोनो मत निराधार हैं क्योकि अब तक कोई ऐसा प्रमाण नही मिला जो इनमे से किसी पक्ष का समर्थन कर सके। इस विषय मे जो थोड़ा-बहुत ज्ञान हमे प्राप्त होता है वह निम्न निर्दिष्ट दो प्रमाणो के आधार पर आश्रित है—(१) हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो मे प्राप्त ताम्रयुगीन मनुष्य के शरीर-पंजर और खोपड़ियाँ, (२) मोहेंजो-दड़ो मे उत्खात पत्थर की मानव मूर्तियाँ।

नर वंश शास्त्रियो का निर्णय है कि मोहेंजो-दड़ो की खुदाई मे जो मानव अस्थि-शेष मिले उनमे चार जातियो का मिश्रण था, जैसे प्रोटो-आस्ट्रोलायड (आस्ट्रेलिया की मूल जाति के समान), एलाईन (आल्प्स पर्वतावली की मूल जाति के समान), भूमध्यसागर-कक्ष-निवासी (मेडिटेरेनियन) और मंगोलियन जाति के समान लक्षण। इस विषय मे मार्शल महोदय लिखते हैं—"आर्यजाति की अपेक्षा सिन्धु सभ्यता के लोग नाटे कद, स्याह वर्ण और चपटी नाक के थे, और सम्भवत भारत की मूलजातियो में से किसी एक के थे।" हड़प्पा के मानव-कपालों की पड़ताल से डा० गुहा को कब्रिस्तान 'एच' मे दो प्रधान मानव-जातियो के अस्तित्व के प्रमाण मिले। इनमे एक जाति के लोग दीर्घ-कपाल थे। इनके अस्थिशेष कब्रिस्तान 'एच' के दूसरे स्तर की कब्रो तथा 'जी' क्षेत्र के सामूहिक दफीने मे मिले थे[1]। दूसरी जाति के अवशेष कब्रिस्तान 'एच' के शवभांडो मे पाए गये। ये लोग भारत की मूलजातियो मे से किसी एक से सम्बन्ध रखते थे। इनके सिर छोटे तथा गोल थे और इनकी मस्तिष्क शक्ति निकृष्ट थी। डा० गुहा का पूर्वोक्त निर्धारण केवल कब्रिस्तान 'एच' के लोगों की खोपड़ियों की जाँच पर ही आश्रित है जो सिन्धु-सभ्यता के अवनति-काल मे हड़प्पा आकर बस गये थे। इनके पहले लोगों की जातीयता के विषय मे अभी तक कुछ पता नही चला। सन् १९३७ मे हड़प्पा-संस्कृति के निर्माताओ का जो कब्रिस्तान (आर-३७) मिला उसमे साठ के लगभग मानव अस्थि-पंजर और उनके साथ धरे हुए मिट्टी के बर्तन तथा अन्य अवशेष पाए गये थे। इन अस्थिशेषो का वैज्ञानिक अध्ययन करके जब तक विशेषज्ञ अपना निर्णय व्यक्त नही करते, इन मृतको की जातीयता के विषय मे ऊहा-

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० १, पृ० १९७-२०२ और ग्र० २, फलक ४०।

पोष करना व्यर्थ है। इसमें सन्देह नहीं कि 'आर-३७' कब्रिस्तान में मिले हुए अस्थिशेष उन लोगों के हैं जो सिन्धु-सभ्यता के निर्माता थे।

मोहेंजो-दड़ो के नागरिकों में कई जातियों का मिश्रण था। इसका समर्थन वहाँ से उत्खात पत्थर तथा मिट्टी की मनुष्य-मूर्तियों से भी होता है। इन मूर्तियों में दो आयत-कपाल, एक दीर्घ-कपाल और एक ही मध्य-कपाल मान का है। काँसे की नर्तकी में मध्यभारत की मूलजाति के लोगों की मुख-मुद्रा की झलक है। स्मरण रहे कि पाषाण-मूर्तियाँ जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है उत्तम शिल्पकला के उदाहरण नहीं हैं इसलिये उनके कपालों के साक्ष्य को विशेष महत्त्व देना अनुचित है। इस प्रसंग में मार्शल लिखते हैं कि "उत्कीर्ण पाषाण-मूर्तियों तथा कपालों के साक्ष्य को बहुत सावधानी से स्वीकार करना चाहिए।"

पहले निर्देश किया गया है कि मोहेंजो-दड़ो की आबादी में चार जाति के लोगों का मिश्रण था। परन्तु पता नहीं कि इनमें से किस जाति के लोगों का प्राधान्य था और कौन लोग सिन्धु-सभ्यता के आविष्कर्ता थे। मार्शल की सम्मति में यह सभ्यता किसी एक जाति का आविष्कार नहीं था किन्तु कई जातियों के सहयोग का फल था। जहाँ तक सिन्ध और पंजाब की जनसंख्या का प्रश्न है यह सदा से संकीर्ण चली आई है और सम्भवतः प्रागैतिहासिक काल में भी वह इसी प्रकार की थी।

सिन्धु-सभ्यता की उपलब्धि के कुछ वर्ष पहले डा० हाल ने लिखा था कि सुमेरियन जाति का मूलस्थान मेसोपोटेमिया के पूर्व में था। उनके मत में यह जाति सम्भवतः भारत की द्रविड़ जाति की ही शाखा थी। द्रविड़ जाति अब दक्षिण-भारत में ही सीमित है। परन्तु एक समय यह सारे भारत पर, जिसमें पंजाब, सिन्ध और बलूचिस्तान भी सम्मिलित थे, [illegible] थी। इस बात की पुष्टि में वे यह प्रमाण देते हैं कि बलूचिस्तान के एक प्रदेश में अब भी द्रविड़ भाषा की वंशज 'ब्राहुई' नामक भाषा बोली जाती है। सन् १९२२-२३ में जब सिन्धु-सभ्यता की उपलब्धि हुई तो डा० हाल के इस सिद्धान्त को और पुष्टि मिली।

मार्शल के विचार में डा० हाल का सिद्धान्त रोचक होने पर भी अखंड्य नहीं माना जा सकता। इससे [illegible] होता है कि सुमेरियन और द्रविड़ जातियों के शारीरिक लक्षणों के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। सर आर्थर कीथ के मत में सुमेरियन [illegible] और [illegible] के लोग थे। [illegible] से वे प्राक्[illegible] [illegible] के सिन्धी लोगों अथवा [illegible] के मेसोपोटेमियन लोगों के [illegible] रूप थे। वे लिखते हैं कि 'इन लोगों के [illegible] थे। इन्हें तुर्किस्तान, [illegible] और [illegible] के लोगों में भी [illegible] और [illegible] [illegible] मिला था।" [illegible] लिखते हैं कि [illegible] के अनुसार [illegible]

जाए तो सुमेरियन लोग इंडो-यूरोपियन जाति के थे और देखने में आजकल की अरब जाति से भिन्न नहीं थे। परन्तु प्रोफेसर लेंगडन के विचार में किश-मल टहर में उत्पन्न दीर्घ-कपाल मनुष्य सेमिटिक जाति के और आयत-कपाल सुमेरियन जाति के थे।

इस प्रकार जब सुमेरियन जाति के भौतिक स्वरूप के विषय में इतना मतभेद है तो भारतीय द्रविड़ जाति के शारीरिक लक्षणों के विषय में इससे भी अधिक मतभेद और संशय है। भारत की मूलजातियों के सांकर्य से द्रविड़-जाति के स्वरूप में इतना परिवर्तन हो गया है कि उसे पाँच हजार वर्ष की प्राक्तन द्रविड़ जाति से तुलना करनी दुराग्रह मात्र ही है।

अब इस प्रश्न पर विचार करना है कि क्या पाँच हजार वर्ष की द्रविड़ जाति भारत की मूल जातियों में से थी अथवा कहीं बाहर से आई थी। यदि बाहर से आई थी तो सम्भव है कि वह भूमध्यसागर की तटवर्ती जातियों में से एक हो जिसके अस्थि-शेष किश, अनौ, नाल और मोहेंजो-दड़ो में मिले हैं। कालान्तर में आस्ट्रोलायड तथा अन्य असभ्य जातियों के साथ सांकर्य से इसमें अवश्य भौतिक परिवर्तन आ गया होगा। यदि द्रविड़ जाति भारत की मूलजातियों में से एक थी तो मार्शल के विचार में हमें कल्पना करनी चाहिये कि आरम्भ में वह प्रोटोआस्ट्रोलायड (आस्ट्रेलिया की मूल जातियों के समान) थी और उसमें द्रविड़ जाति के लक्षण क्रमश विजातीय तत्त्वों के मिश्रण तथा क्रमिक विकास के फलस्वरूप आ गये होंगे। पूर्वोक्त कारणों से मोहेंजो-दड़ो से प्राप्त खोपड़ियों को, जिन्हें नरवंश-वैज्ञानिकों ने 'प्रोटो-आस्ट्रोलायड' अथवा 'भूमध्यसागरीय' कहा है, द्रविड़ जाति के लोगों की खोपड़ियाँ घोषित करना अनुचित होगा।

सिन्धु-सभ्यता के निर्माता आर्य नहीं थे—मार्शल महोदय का दृढ़ विश्वास है कि सिन्धु-सभ्यता के निर्माता वैदिक आर्यों से अशेषत भिन्न थे, क्योंकि दोनों जातियों की सभ्यताओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। वे लिखते हैं कि "आर्यजाति अभी पशुपाल-दशा में ही थी और हड़प्पा तथा मोहेंजो-दड़ो के नागरिक-जीवन से नितान्त अनभिज्ञ थी। आर्य-जीवन में घोड़े का प्रधान स्थान था, परन्तु सिन्धु-सभ्यता में यह पशु नाममात्र को नहीं मिलता। आर्यों के देवता प्रधानत पुरुषलिंग थे परन्तु हड़प्पा के लोगों का प्रधान इष्ट देवता 'मातृदेवी' थी। आर्यों में 'गाय' पवित्र और पूजनीय थी, परन्तु सिन्धु-सभ्यता में इसकी एक मूर्ति भी नहीं मिली। हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के लोगों को कवच का ज्ञान नहीं था, परन्तु आर्य लोग युद्ध में इसका प्रयोग करते थे। आर्यों में मछली अभक्ष्य थी, परन्तु सिन्धु-निवासियों का यह अभीष्ट खाद्य था। वेदों में बाघ का कहीं नामोद्देश नहीं है, और हाथी का वर्णन बहुत कम है, परन्तु सिन्धुवासियों को इन दोनों पशुओं का अच्छा ज्ञान था। वेदों में प्रधानत निर्गुणो-

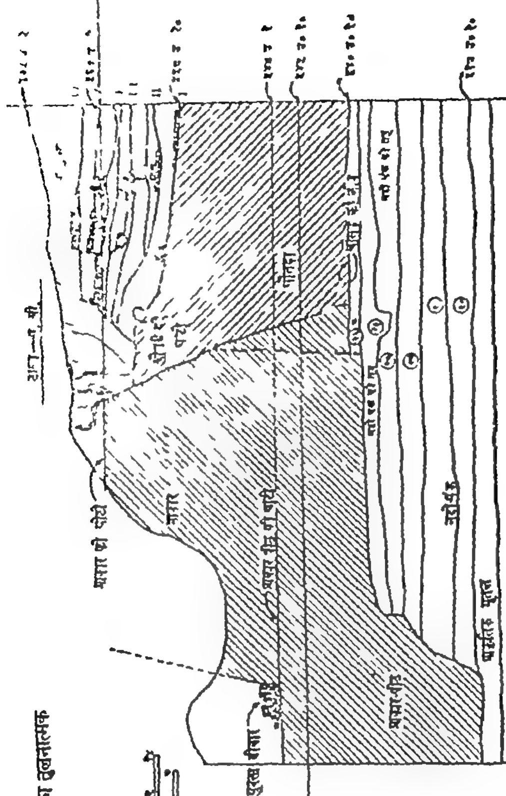
चलता है, परन्तु हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में मूर्तिपूजा का पद पद पर प्रमाण मिलता है। वैदिक आर्यों में शिव और मातृदेवी की उपासना का गंधमात्र भी नहीं था, परन्तु इन आदिवासियों के ये प्रधान इष्ट-देवता थे। आर्य अग्निपूजक थे और उनके घरों में हवन-कुंड होते थे, परन्तु हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो में कहीं भी इनके अवशेष नहीं मिले। सबसे महत्त्व की बात यह है कि वैदिक आर्य लिंग-पूजा को घृणित समझते थे, परन्तु सिन्धु-सभ्यता में इस पूजा-प्रणाली के प्रचुर प्रमाण मिले हैं।"

पूर्वोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि मार्शल के मतानुसार सिन्धु और वैदिक सभ्यताओं में महान् अन्तर है। दोनों की परस्पर तुलना के फलस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सिंधु-सभ्यता की अपेक्षा वैदिक सभ्यता न केवल अर्वाचीन ही है किन्तु इसका क्रमिक विकास भी स्वतन्त्र रूप में हुआ है। उनका विचार है कि जब आर्य जाति ने प्रथम भारत में पदार्पण किया तो हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो पहले ही उजाड़ हो चुके थे और सिन्धु-सभ्यता केवल कंकालमात्र ही शेष रह गई थी।

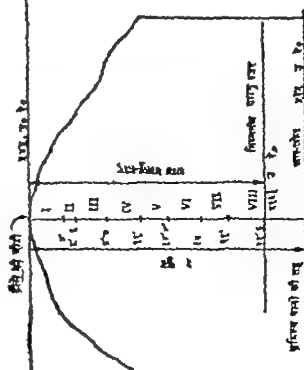
मार्शल के विचार में हिन्दू जाति की बहुत सी धार्मिक और सांस्कृतिक विलक्षणताएँ सिन्धु-सभ्यता से उद्भूत हैं। इनमें मातृदेवी, शिव, लिंग आदि की उपासना, नाग, पशु, वृक्ष, पाषाण आदि की पूजा, नदी, पर्वत, वेदिका आदि में धार्मिक भावना और यन्त्र, मन्त्र, भूत विद्या में विश्वास आदि वर्णनीय हैं। उनका कहना है कि ये सब बातें वैदिक-काल के आर्यों में नहीं थीं। केवल उत्तरकालीन संहिताओं और स्मृति, पुराण आदि साहित्य में ही इनका प्रथम उल्लेख पाया जाता है, जिससे स्पष्ट है कि आर्यों ने ये धर्म के विशेषाङ्ग अपने पूर्ववर्ती सिन्धुवासियों से प्राप्त किये और उन्हें अपने धर्मग्रन्थों में समाविष्ट कर लिया।

यद्यपि आर्य और अनार्य धर्मों की मार्शलकृत व्याख्या अधिकांश युक्तिसंगत है, तथापि मेरा उनसे इस विषय में मतभेद है कि सिन्धुवासियों की उपासना-पद्धति में 'नारी-अंश' अर्थात् देवीपूजा की विशेष महिमा थी। मेरा अपना निर्णय है कि उन लोगों में देवी-पूजा की उतनी महिमा नहीं थी जितनी कि 'देव-पूजा' की, अर्थात् उनकी पूजा-पद्धति में भी 'पुरुष-अंश' का ही प्राधान्य था। इस निर्णय की पुष्टि में जो प्रमाण हैं उनका विस्तृत विवरण आगे चलकर 'धर्म और धार्मिक अनुष्ठान' नामक अध्याय में दिया गया है।

फलक ६ टीला 'ए-बी' के उत्तर में कच्ची ईंटों का बुर्ज







फलक ७

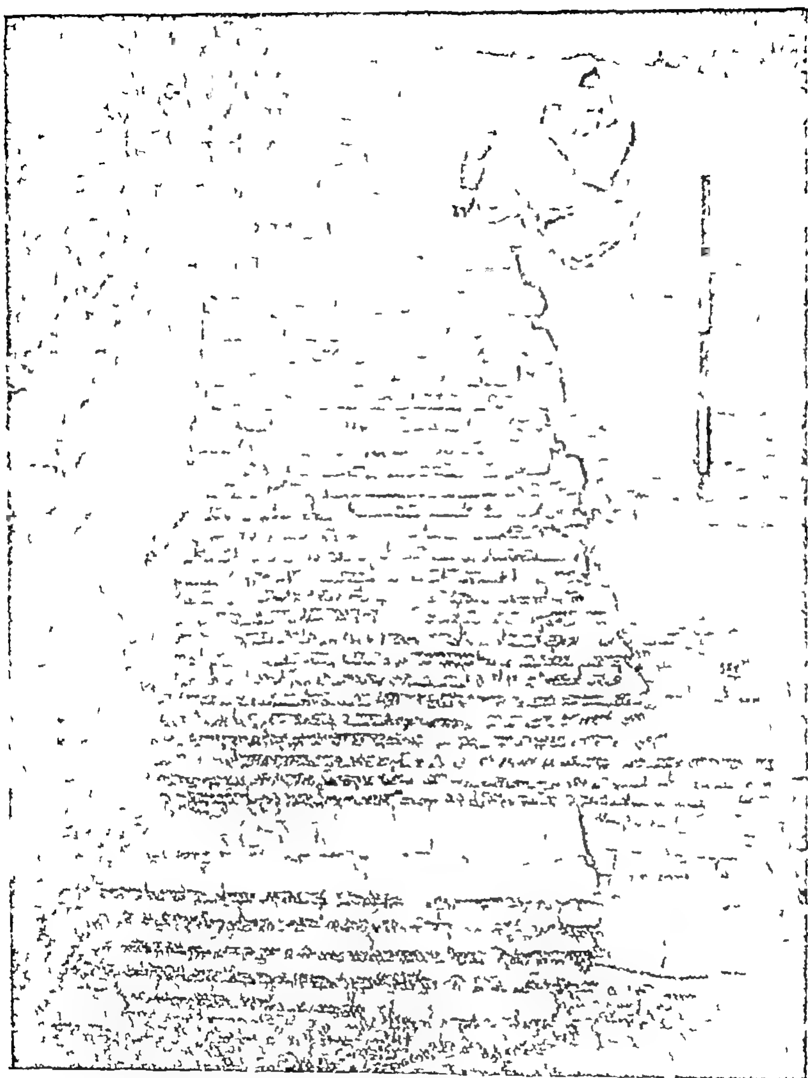
थे। ऐसा सन्देह उन उत्खनकों को भी कभी नहीं हुआ जिन्होंने उस टीले पर कई वर्ष लगातार खुदाई कराई थी। उन्नीसवीं शती के आरम्भ में मेसन और बर्न्स नाम के अंग्रेज यात्रियों ने हड़प्पा के खंडहर देखे। तदनन्तर शती के मध्य में पुरातत्त्व के अनुभवी पंडित सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने वैज्ञानिक रूप से इनका निरीक्षण और खनन किया। सन् १९२६-२७ में मार्शल महोदय ने इन टीलों का परीक्षण किया जब श्री माधोस्वरूप वत्स की अध्यक्षता में खुदाई का काम चल रहा था। सन् १९३१ में जब वत्स महोदय ने दक्षिणी खात में उस प्राकार का एक अंश उद्घाटित किया तो उसका यथार्थ स्वरूप एक रहस्य ही बना रहा। अपनी रिपोर्ट में उन्होंने उसे केवल "कच्ची ईंटों का भराव" मात्र कह कर ही छोड़ दिया। इस घटना के कई वर्षों के अनन्तर भी किसी को उसके वास्तविक रूप का पता नहीं लगा। सन् १९३७ में इंग्लैंड के प्रसिद्ध पुरातत्त्व-वेत्ता सर लियोनार्ड वूली ने जब इन टीलों का निरीक्षण किया तब तक भी यह प्राकार अज्ञात ही था। यद्यपि टीले की उत्तरी सीमा पर कच्ची ईंटों के दो बुर्ज (फलक ६) खड़े थे फिर भी उनके विषय में कभी किसी को सन्देह नहीं हुआ कि वे किसी प्राकार-रचना के अंग थे। लोग उन्हें टीला 'ए-बी' के उत्तर में केवल असम्बद्ध बुर्जों के रूप में ही देखते रहे।

प्राकार की उपलब्धि—सन् १९३७ में टीला 'ए-बी' की पश्चिमी ढलवान में मैंने एक खात खुदवाया जिसमें एक मोटी कच्ची दीवार प्रकट हुई जो टीले के साथ-साथ चलती हुई पूर्वोक्त 'ईंटों के भराव' के साथ सम्बद्ध मालूम होती थी। इस उपलब्धि से मुझे सन्देह हुआ कि सम्भवतः आरम्भ में यह टीला प्राकार से वेष्टित था। नवीन अनुभव के प्रकाश में टीला 'ए-बी' का सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण करने के अनन्तर मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि आरम्भ में इस टीले के चारों ओर अवश्य एक प्राकार था।

सन् १९४४ के मई महीने में जब डा० व्हीलर पहली बार हड़प्पा आए, तो मैंने उन्हें प्राकार के कई ऐसे स्पष्ट अंश भी दिखाए, जिनसे प्राकार के अस्तित्व का आभास होता था। दो दिन तक मेरे साथ टीला 'ए-बी' का परीक्षण करने के अनन्तर उन्हें भी इस उपलब्धि पर पूर्ण विश्वास हो गया। मुझे खेद से लिखना पड़ता है कि अपनी रिपोर्ट में उन्होंने इस उपलब्धि के सम्बन्ध में मेरे सहयोग की चर्चा तक नहीं की। वे लिखते हैं—"सन् १९४४ में जब मैं पहली बार हड़प्पा गया तो मुझे यह देखकर आश्चर्य नहीं हुआ कि कई पुरातत्त्ववेत्ताओं के पर्यवेक्षण के पश्चात् भी ऊँचा फटा टीला 'ए-बी' अब भी पीतवर्ण कच्ची ईंटों की मेखला से घिरा हुआ था[1]।" यहाँ उन्हें

1 एन्शियन्ट इंडिया नं० ३, पृ० ६२।

सिन्धु-सभ्यता का आदिकेन्द्र—हड़प्पा



फलक १० दुर्ग-प्राकार से सम्बद्ध पुश्ता दीवार का खण्ड

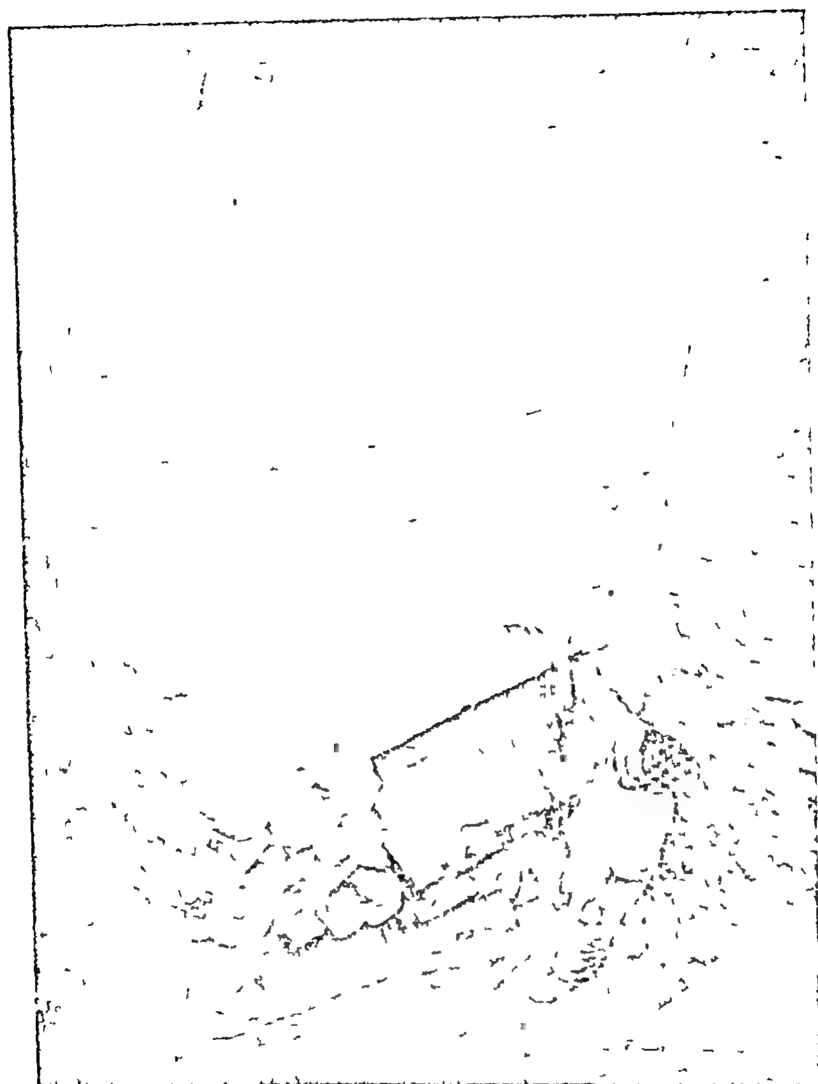
आबादियों में से किसी के भी समकालीन कोई आबादी नहीं थी क्योंकि टीला 'एफ' की सतह जमीन उ० रेखा ५४५ से ऊँची नहीं है। विशेषतः उस टीले के मुख्य मुख्य स्मारक यथा विशाल धान्यशाला, शिल्पियों के निवास गृह, गोल चौतरे आदि, जो उ० रेखा ५४० के नीचे स्थित हैं, टीला 'ए-बी' पर दुर्ग-प्राकार बनने से बहुत पहले नष्ट हो चुके थे।

इस अनुसन्धान से केवल एक ही न्याय्य निष्कर्ष निकल सकता है, और वह यह कि टीला 'एफ' के उजड़ जाने पर उत्तर-काल में दुर्ग-प्राकार की नींव डाली गई थी। जब इसका निर्माण हुआ तो न तो टीला 'एफ' और न ही किसी अन्य निम्नतल प्रदेश पर कोई बस्ती थी। केवल टीला 'ई' ही खण्डहर का दूसरा ऐसा क्षेत्र है जो टीला 'ए-बी' के समकालीन हो सकता है क्योंकि इसकी ऊँचाई भी ५५५ और ५६० उ० रेखाओं के बीच पड़ती है।

पूर्वोक्त समालोचना के प्रकाश में डा० व्हीलर की यह कल्पना कि "दुर्ग-प्राकार हड़प्पा के आदि-निवासियों की पहली कृति और उन खण्डहरों के आद्योपान्त इतिहास का प्रतीक है" परीक्षा की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। खात 'एच-पी-३०' हड़प्पा के न केवल सारे इतिहास का ही प्रतीक नहीं, अपितु इसमें टीला 'ए-बी' के पूरे जीवन की कहानी की भी झलक नहीं पाई जाती। इस तथ्य का समर्थन प्राकार की रचना तथा अन्य कारणों से, जिनका उल्लेख नीचे किया गया है, पुष्ट होता है।

दुर्ग-प्राकार, जैसे कि ऊपर निर्देश किया गया है, १० से ३० फुट तक ऊँचे सुदृढ़ कच्चे पीठ पर स्थित है। मूल में इसकी चौड़ाई ४० फुट, और प्रारम्भ में पूरी ऊँचाई ३५ के लगभग थी। प्राकार और पीठ दुर्ग-रक्षा के प्रधान साधन थे। पीठ की साधारण ऊँचाई १० फुट है, परन्तु एक स्थान पर जहाँ बाढ़ के कारण १० फुट गहरा गढ़ा पड़ गया था, इसकी ऊँचाई २० फुट तक है। नींव के प्रकार व बाढ़ के कारण बना हुआ यह २० फुट गहरा गढ़ा इस बात का साक्षी है कि तत्कालीन बाढ़ें कितनी प्रचण्ड थीं। इस पीठ की चोटी पर प्राकार के मूल में पाई गई थी उस पुरानी दीवार का भाग है जो पक्की प्राकार से पहले जमीन पर आत्मरक्षा में बनाई गई थी (चित्र १०)। दुर्ग दीवार का यह भाग बतलाता है कि जब दुर्ग बना तो इसकी बाहरी निचली नींव इस तट से समतल थी। बाढ़ों के पानी से बचाव के लिए बाहरी भित्ति ढलुआ-जैसी बनाई गई थी।

पीठ और प्राकार दोनों कच्ची ईंटों से बने हैं। प्राकार और चौतरे के संगम-स्थान पर रखी रेखा स्पष्ट बतलाती है कि दोनों भिन्न भिन्न काल के हैं। चौतरा प्राकार की नींव तक पहुँचता है और इसके ऊपर का भाग भी इस पर फैल गया है। प्रतीत होता



फलक ११ टीला 'एफ'—दुर्ग-प्राकार के नीचे पकी ईंटों के प्राचीनतर वास्तु

है कि यह तथा-कथित 'चौतरा' अन्दरूनी इमारतों को उठाने के लिये नहीं किन्तु प्राकार को थामने के लिये एक पुश्ते के रूप में बनाया गया था। पीठ के मूल में नह २६ में डा० व्हीलर को एक विलक्षण कुम्भकला के अंश मिले थे, जिन्हें वे उन लोगों की कृति बतलाते हैं जो सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं के आने से पहले वहाँ आबाद थे। ऊपर दिखाया गया है कि प्राकार के निर्माता हड़प्पा के आदि निवासी नहीं थे। हड़प्पा-सभ्यता प्राकार निर्माण-काल से एक हजार वर्ष पुरानी है। अतः जो थोड़े से असाधारण कुम्भ-खंड उन्हें इस तह में मिले थे भी उन्हीं लोगों के थे जो प्राकार बनने से पहले वहाँ आबाद थे। इस तथ्य के समर्थक कुछ प्रमाण डा० व्हीलर को टीले के पश्चिमोत्तरी कोने पर अपनी खुदाई में मिले थे। जब उन्होंने वहाँ प्राकार के मूल में खुदाई कराई तो उन्हें कुछ खण्डित इमारतें बुर्ज की नींव के नीचे दबी मिलीं[1] (फलक ११)। ये इमारतें निस्सन्देह प्राकार से पहले काल की थीं। मैंने ऊपर लिखा है कि पक्की ईंटों की पुख्ता दीवार ४८८ ऊ० रेखा पर प्रतिष्ठित हैं और किले के बाहर की निचली जमीन ऊ० रेखा ४५० की पहुँच में है। इसलिये दुर्ग निर्माण के समय टीला 'एफ' तथा शहर के अन्य निचले प्रदेशों पर कोई आबादी नहीं थी, क्योंकि ये सब स्थान इन रेखाओं से बहुत नीचे स्थित होने के कारण बाढ़ों के उपद्रवों से आक्रान्त थे। फीके रंग के जो थोड़े से असाधारण ठीकरे डा० व्हीलर को नह नं० २६ में मिले वैसे ही कुम्भ-खंड पहली खुदाइयों में लाल कुम्भकला के ठीकरों से मिश्रित बहुत पाए गये थे।

तथा-कथित चौतरा (प्लेटफार्म)—चौतरे के वर्णन-प्रसंग में डा० व्हीलर लिखते हैं—"पीठ तथा प्राकार से सम्बद्ध ३३ फुट ऊँचा एक समकालीन कच्चा चौतरा है जो किले की अन्दरूनी इमारतों की नींव के लिये बनाया गया था[2]।" उनका यह कथन भ्रान्तिमूलक है। चौतरा प्राकार से सम्बद्ध नहीं है, किन्तु पृथक् बना है क्योंकि दोनों के बीच एक मोटी विभाजक रेखा स्पष्ट दिखाई देती है (फलक ६)। न ही यह चौतरा किले की इमारतों की नींव का काम देने के लिये बनाया गया था। किले के अन्दर ४०० गज लंबे और २१० गज चौड़े विस्तृत क्षेत्र पर ३३ फुट ऊँचे पर्वताकार प्लेटफार्म के बनाने का क्या आशय था। बजाय इसके चार पाँच फुट ऊँचा चौतरा काम दे सकता था। और फिर इसकी नींव ऊ० रेखा ४८० पर क्यों रखी गई जब कि बाहर से उस समय प्राकार पीठ था, जिसकी नींव इससे १३ फुट अधिक गहरी है, मानो प्राकार पिछड़ा हुआ था। इससे साफ है कि दूसरी मोटी

१ एन्शेंट इंडिया नं० ३, पृ० ६३।
२ एन्शेंट इंडिया नं० ३, पृ० ६४।

उ० रेखा ५६२५ अर्थात् बाढो की पहुँच के ऊपर की रेखा से भी १४ फुट ३ इंच तक क्यो उठाई गई थी। इस परिस्थिति मे चार अथवा पांच फुट ऊँचा चौतरा सुरक्षा के दृष्टिकोण से पर्याप्त था।

पूर्वोक्त समालोचना के आधार पर मैं समझता हूँ कि व्हीलर महोदय का तथा-कथित प्लेटफार्म (चौतरा) किले की इमारतो को उठाने का पीठ नही था। यदि ऐसा होता तो टीला 'ए-बी' की पहली खुदाई मे इस तह पर कही न कही यह अवश्य प्रकट होता, क्योकि मध्यवर्ती तथा दक्षिणी ढलवान के खातो मे कई स्थान पर खुदाई चौतरे की चोटी से बहुत गहरी हुई है। न ही इसका कोई अंश उन गहरी दरारो मे कही देखने मे आया था जो सदियो की वर्षाओ के कारण नौ गजा कब्र के पास टीले की पूर्वी ढलवान मे कटी पडी हैं। मेरा अपना अनुमान है कि यह तथा-कथित प्लेटफार्म एक महान् पुश्ता था जो प्राकार तथा पीठ को अपने स्थान पर अटल रखने के लिये उस समय बनाया गया था जब किले की दीवार बाहरी दबाव से अंदर की ओर झुक रही थी। इस विकट परिस्थिति से बचने के लिये प्राकार के पूर्वी माथे का कुछ भाग जो अंदर की ओर झुका था तराश कर तिरछा कर दिया गया था, जिससे दबाव अंदर की ओर न पडे, और प्राकार को सुदृढ करने के लिये यह तथा-कथित चौतरा पुश्ते के रूप मे तराशे हुए माथे के साथ बना दिया गया था।

यह पर्वताकार पुश्ता प्राकार तथा पीठ का समकालीन नही किन्तु उत्तर-कालीन है। आबादियो के छ स्तर जो डा० व्हीलर को इस पुश्ते की चोटी पर मिले, दुर्ग की आयु के अन्तिम काल के अवशेष थे। वे उस समय अस्तित्त्व मे आए जब दुर्ग-प्राकार प्राय ध्वस्त हो चुका था। ये दुर्बल और मडियल इमारतें इस प्रकार के विशाल और सुदृढ़ दुर्ग के सम्बन्ध मे नही बनाई गई थी। इन छ तहो मे एक दूसरी के बीच इतना थोडा व्यवधान है कि इन सारी तहो की आबादियो की आयु दो या तीन सौ वर्ष से अधिक नही हो सकती। इतने ऊँचे टीले की आयु के लिये यह समय बहुत थोडा है।

प्राकार की आयु में तीन काल—डा० व्हीलर के मतानुसार प्राकार की शरीर-रचना मे तीन भिन्न-भिन्न कालो का आभास होता है। प्रथम वह काल जब सिंधु-सभ्यता के लोग हडप्पा आए और कुछ काल तक यहाँ बसने के अनन्तर उन्होने प्राकार बनाकर इसकी दृढता के लिये पकी ईंटो के खडो की पुश्ता दीवार से इसे सर्वत ढक दिया। द्वितीय-काल मे इस प्राकार मे उन्होने कुछ परिवर्तन किये। इस प्रसग मे डा० व्हीलर लिखते हैं—"चिरकाल तक वर्षातप के थपेडो की निरन्तर मार सह कर जब यह प्राकार दुर्बल हो गया तो पहली पुश्ता दीवार का पुनर्निर्माण हुआ और विशेषत. पश्चिमोत्तरी कोने पर इसे सुदृढ बनाया गया। इस समय पकी ईंटों के खडो

की बजाय पक्की ईंटें लगा कर इसे उत्तम कोटि की इमारत का रूप दिया गया। यह हड़प्पा की सभ्यता का उत्कर्ष-काल था।" तृतीय काल में, प्राकार के पश्चिमोत्तरी कोने में एक नवीन वप्र बना कर इसे दृढ़ किया गया। डा० व्हीलर के विचार में इस समय हड़प्पा के निवासी असुरक्षा के कारण किले को अभेद्य बनाने में व्यस्त थे। पूर्वोक्त तीन कालों के अतिरिक्त उन्होंने एक चौथे काल का भी अनुमान लगाया है। इस काल के भग्नावशेषों में निकृष्ट कोटि के कुछ वास्तु खंड उत्तरी पश्चिमी द्वार के पास मिले थे। और इनके आस-पास बिखरे हुए 'कब्रिस्तान एच' की कुम्भकला के अवशेष भी पाए गये थे।

प्राकार के इतिहास में पूर्वोक्त चार काल विभाग कहाँ तक युक्तिसंगत हैं अब इस विषय पर आलोचना की जाती है। डा० व्हीलर के मत में सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं का हड़प्पा में प्रथम आगमन और प्राकार के निर्माण का सूत्रपात ये दोनों घटनाएँ प्रायः एक ही समय हुईं। क्योंकि हड़प्पा की पुरानी ईंटें सिन्धु-सभ्यता के लोगों का ही आविष्कार था इसलिये इसमें सन्देह नहीं कि ये लोग जब यहाँ आए तो पहले पहल ईंटों का बनाना उन्होंने ही प्रारम्भ किया। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि उन्होंने कुरसी दीवार, जो प्राकार का प्रधान अंग था, ईंटों के टुकड़ों से क्यों बनाई। साधारणतः ईंटों के खंड उस समय प्रयोग में लाए जाते हैं जब वे प्राचीन रचना शेषों से प्रचुर मात्रा में सुलभ हों। इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता है, और वह यह कि जब नवागन्तुकों ने प्राकार बनाना प्रारम्भ किया तो टूटी फूटी ईंटें वहाँ प्रचुर मात्रा में सुलभ थीं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इस काम को प्रारम्भ करने के समय सिन्धु-सभ्यता वहाँ कई शताब्दियाँ पहले से विद्यमान थी और खंडहर वस्तुतः इस स्थान पर बिखरे पड़े थे जिनका परवर्ती लोगों ने दुर्ग बनाने में पहले दिन से उपयोग किया। तात्पर्य यह है कि दुर्ग-निर्माता लोग नवागन्तुक नहीं थे। वे एक लम्बे अर्से पहले से वहाँ आबाद थे। प्रतीत होता है कि प्रलयंकर सामयिक बाढ़ द्वारा तबाह हो गई तो उन्होंने सतर्कता से निचले भागों को त्याग कर ऊँचा टीला 'ए बी' और 'ई' जैसे ऊँचे स्थानों पर आ बसना ही उचित समझा और जब वे इन टीलों पर आ बसे तो उन्होंने उजाड़ स्थानों की टूटी ईंटों को [illegible] का पुश्ता [illegible] बनाने में इस्तेमाल किया।

उत्कर्ष काल—द्वितीय काल के विषय में डा० व्हीलर से मेरा [illegible] है। मैं मानता हूँ कि यह हड़प्पा का उत्कर्ष काल था और यह स्वाभाविक ही था कि इस समय कच्ची कुरसी दीवार के निर्माण में पक्की ईंटें लगाई गईं। परन्तु [illegible] इस बात से [illegible] कि जैसे ही सिन्धु सभ्यता के जीवन में [illegible] था, सिन्धु देश के सब [illegible] निरि-

गृह, गोल चौतरे आदि लोक-हितकर सार्वजनिक वास्तुओं का निर्माण हुआ। ये वास्तु तत्कालीन उच्च नागरिक जीवन के भव्य उदाहरण हैं। पहले निर्देश किया गया है कि टीला 'एफ' तथा अन्य निम्नतल प्रदेश 'ए-बी' और 'ई' टीलों से बहुत प्राचीन हैं। पूर्वकाल की नाली व्यवस्था और उसके अंगभूत कुएँ, स्नानागार, चौतरे आदि नगर के सुन्दर स्वास्थ्य प्रबन्ध के ज्वलन्त उदाहरण हैं। वत्स महोदय ने इस काल को 'मध्ययुग' के नाम से निर्दिष्ट किया है। इसका विशेष लक्षण यह है कि इस समय की इमारतें साबुत ईंटों की और सुदृढ़ बनी हैं।

अब इस बात पर विचार करना है कि क्या डा० व्हीलर के कथनानुसार तृतीय-काल के लोग वस्तुतः शत्रुभय से दुर्ग-रक्षा के उपायों में संलग्न थे। इसकी पुष्टि में जो प्रमाण उन्होंने उपस्थित किया है वह पर्याप्त नहीं है। प्राकार के पश्चिमोत्तरी कोने को दृढ़ बनाना और किले की पश्चिमी दीवार में एक छोटे से द्वार को बन्द कर देना ये इस कथन की पुष्टि में बलिष्ठ प्रमाण नहीं हो सकते। ये क्षुद्र परिवर्तन अन्य कारणों से भी हो सकते थे। स्मरण रहे कि किले का सिंह द्वार पूर्वी या पश्चिमी दीवार में नहीं किन्तु उत्तरी दीवार में था (फलक ८)। जहाँ कोनों पर खड़े दो बुर्ज प्रहरियों की तरह अब भी इसका संरक्षण कर रहे हैं (फलक ६)। इन बुर्जों के बीच टीले के उत्तरी माथे में एक गहरी दरार किनारे को काटकर दूर तक अन्दर चली गई है जिससे एक अर्धचन्द्राकार चौगान सा बन गया है। इसी प्रकार का एक बड़ा द्वार सम्भवतः किले की दक्षिणी दीवार में था जिसके संरक्षक दो बुर्जों के चिन्ह अभी तक वहाँ विद्यमान हैं। इसमें सन्देह नहीं कि किले की पूर्वी व पश्चिमी दीवारों में भी कई एक छोटे द्वार अवश्य होंगे। डा० व्हीलर ने पश्चिमी दीवार में जो द्वार खोदा वह इनमें से ही एक था। इस द्वार की चौड़ाई बाहर आठ फुट परन्तु दीवार के पास आकर पाँच फुट ही रह जाती है। प्राकार में पाँच फुट चौड़ा द्वार अवश्य ही एक तंग मार्ग था और किसी विशेष अवसर के लिये ही बनाया गया होगा। इस द्वार के बाहर प्रधान इमारतों में दो समानान्तर लम्बे चौतरे (प्लेट फार्म) और उनके साथ सम्बद्ध एक टेढ़ा मार्ग था। इनकी बनावट और योजना से प्रतीत होता था कि दुर्ग के जीवन काल में यह एक गुप्त सुरंगामार्ग था जिसके द्वारा संकट के समय दुर्ग निवासी भागकर अपने प्राण बचा सकते थे। जैसे ही यह संकुचित मार्ग प्राकार से बाहर निकलता था उस तंग गली में जा मिलता था जो चौतरों के बीच बनी थी और वहाँ से यह टेढ़े मार्ग में प्रवेश करता था। पूर्वोक्त तंग गली और टेढ़े मार्ग पर छत डाल देने से यह एक अत्यन्त गुप्त सुरंगा-मार्ग बन जाता था, जहाँ से मनुष्य प्राकार के मोड़ पर बने हुए एकान्त और अदृश्य स्थान पर पहुँच कर वहाँ से पास के जंगल में भाग सकता था। सम्भव है कि पश्चिमी द्वार के पास बने हुए ये वास्तुखंड दुर्ग की एक बड़ी आवश्यकता को पूर्ण करते थे।

डा० व्हीलर का यह कथन कि पूर्वोक्त चौतरे और उनके साथ का ढेरा मार्ग किन्हीं धार्मिक समारोहों के लिए थे, एक क्लिष्ट-कल्पना है। ऐसे समारोहों के लिये दुर्ग का विद्याला उपयुक्त स्थान नहीं हो सकता। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार के विशाल दुर्ग की रक्षा के लिए अत्यावश्यक था कि उसके चारों ओर एक गहरी खाई भी होती। अभी तक इसकी खोज में कोई खुदाई नहीं की गई और ऐसी दशा में इसका होना या न होना संशयित है। परन्तु यदि मान लें कि दुर्ग परिखावेष्टित था तो प्लेटफार्मों के सामने धार्मिक समारोहों के लिये कोई रिक्त स्थान नहीं रह जाता। इसके विपरीत यदि इसे गुप्तमार्ग मान लें तो वह दुर्गरक्षा-योजना के बहुत अनुकूल सिद्ध होता है।

चतुर्थ-काल—प्राकार की आयु के अन्तिम काल की समालोचना करने में डा० व्हीलर ऐसे निर्णय पर पहुँचता है जो अतीव विवादास्पद है। उन्हें अपनी खुदाई में जो निकृष्ट कोटि के मृत्कुम्भ और कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला के ठीकरे किले की पश्चिमी दीवार के साथ मिले वे उनके विचार में एक बड़ी क्रान्ति के प्रमाण हैं। उनका सुझाव है कि अन्तिम काल की हड़प्पा-सभ्यता में इन विजातीय अंशों के मिश्रण का तात्पर्य यह हो सकता है कि ईसापूर्व १५०० के लगभग आर्य जाति के लोगों ने यहाँ आक्रमण किया था। इस सुझाव के प्रस्तुत करने में यद्यपि पहले वे कुछ संकोच प्रकट करते हैं तथापि अन्त में वे इस सुझाव को निश्चित सिद्धान्त का रूप ही दे देते हैं। वे लिखते हैं कि "वे आर्य लोग थे जिन्होंने सिन्धु देश के दुर्गों का ध्वंस किया। सिन्धु-सभ्यता तथा उसके निर्माताओं का समूल विनाश करके सप्त सिन्धु देश पर आधिपत्य जमाया।" उनका यह भी कथन है कि मोहेंजो-दड़ो में जो उत्तरकालीन मुर्दे पाए गए हैं, वे आर्यजाति के हत्याकाण्ड के ही उदाहरण हैं। अन्त में वे इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आर्यजाति का देवता इन्द्र सिन्धु-सभ्यता की हत्या के अपराध में अभियुक्त सा प्रतीत होता है। अर्थात् यह आर्यजाति थी जिसने सिन्धु-सभ्यता और उसके निर्माताओं का समूलोच्छेद किया।

उचित होगा कि इस प्रसंग में कब्रिस्तान 'एच' और सिन्धु-सभ्यता में क्या परस्पर सम्बन्ध है इसके ऊपर भी विचार किया जाए। कब्रिस्तान 'एच' के स्तरों के साथ मिले हुए बर्तनों के सिवाय अन्य कोई सम्पूर्ण उपलब्धि नहीं हुई थी। अतः डा० व्हीलर के इस विचार से सहमत होना कठिन है कि चौतरे के ऊपर पड़े हुए निकृष्ट

१. स्मरण रहे कि मोहेंजो-दड़ो में कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला के कोई अवशेष नहीं मिले जिनसे वहाँ आर्यजाति के आक्रमण का अनुमान लगाया जाए। अतः यह मानना अनुचित है कि मोहेंजो-दड़ो का ध्वंस भी आर्यजाति ने ही किया था।

वास्तुखड आर्यजाति के निवासगृह थे[1] ।

वत्स महोदय की खुदाई मे यह दैनिक अनुभव था कि कब्रिस्तान की शैली के कुम्भखड प्राय हड़प्पा के अन्तिम तीन स्तरो से सम्बद्ध पाए जाते थे । इस साक्ष्य के आधार पर नि सकोच कहा जा सकता है कि कब्रिस्तान 'एच' के लोग सिंधु-सभ्यता के ह्रासकाल मे हड़प्पा आए और दो तीन शताब्दियो तक इस स्थान पर आदि-निवासियो के साथ मिलकर इकट्ठे रहे। प्रतीत होता है कि उन्होने समूची सिन्धु-सभ्यता को अपना लिया था, क्योकि उनकी पृथक् सस्कृति का केवल एक ही चिह्न जो अब हमे मिलता है वह उनकी विलक्षण कुम्भकला है (फलक २९-३२) । इसलिये यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि उनकी कोई अपनी स्वतन्त्र सभ्यता थी । इस बात की पुष्टि मे अणु-मात्र भी प्रमाण नही है कि कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला आक्रमणकारी आर्यजाति की कृति थी । यदि ऐसा होता तो इसके साथ आर्य सभ्यता की अन्य विविध वस्तुएँ भी अवश्य दृष्टिगोचर होती । यह सर्वसम्मत है कि आर्यजाति की अपनी स्वतन्त्र तथा विलक्षण सभ्यता थी जिसे वे पराजित जाति की सभ्यता से नितान्त उत्कृष्ट सम-झते थे । समझ मे नही आता कि उन्होने अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पराजित विजातीय जाति मे क्योकर डुबो दिया । और इसके विपरीत अपनी उत्कृष्ट सभ्यता को पराजितो पर क्यो नही ठूँसा । दूसरी विचित्र बात यह है कि दो तीन शताब्दियो तक हड़प्पा मे रहकर कब्रिस्तान 'एच' के लोग अकस्मात् कहाँ और क्योकर अदृश्य हो गये ।

जब से आर्यो ने भारत के पश्चिमोत्तर मे पदार्पण किया तभी से वे स्थायी रूप से यहाँ बस गये और कालान्तर मे यहाँ से प्रगति करते हुए गगा-यमुना के मैदानो तथा देश के अन्य भागो मे फैल गये । ऐसी दशा मे यह बात बुद्धिगम्य नही कि कब्रि-स्तान 'एच' की कुम्भकला केवल हड़प्पा मे ही क्योकर सीमित रही, अन्य स्थानो मे क्यो नही पाई गई । आर्य लोग हड़प्पा मे आकाश से नही उतरे थे । पश्चिमोत्तर से यहाँ तक पहुँचने के लिये जिस लम्बे मार्ग का उन्होने अनुसरण किया वहाँ वे कई स्थानो पर बस गये थे जहाँ इस विलक्षण कुम्भकला के अवशेष मिलने चाहियें थे । परन्तु अभी तक नही मिले, यद्यपि पश्चिमोत्तरी भारत मे पुरातत्त्व अनुसन्धान कार्य विस्तृत रूप से हो चुका है । यह बात भी विचारणीय है कि भारतीय आर्य अपने मृतको का अग्निदाह करते थे, उन्हे कब्रो मे नही गाडते थे । जैसा कि कब्रिस्तान 'एच' मे पाया गया है । अच्छा होता कि डा० व्हीलर इस निर्णय पर पहुँचने के पहले कि कब्रि-स्तान 'एच' के लोग आर्य थे, अन्य प्रमाणो का प्रतीक्षण कर लेते ।

---

१ एन्शेंट इंडिया न० ३, पृष्ठ ७५ ।

५

सिन्धु-सभ्यता का काल-निर्णय

(भौतिक प्रमाणों के आधार पर)

टीलों की अन्दरूनी स्तर रचना के अतिरिक्त बहुत से भौतिक प्रमाण भी हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता की प्राचीनता चौथी सहस्राब्दी ईसा पूर्व तक जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि इस सभ्यता का जीवन-काल १५०० वर्ष पर्यन्त रहा और इस अन्तर में इसने उन्नति और अवनति के अनेक चढ़ाव उतार देखे। पश्चिमी एशिया की तात्कालीन संस्कृतियाँ प्रायः इसकी सजातीय और समान धर्म हैं, इसलिये सिन्धु-सभ्यता की बहुत सी प्राचीन कला-कृतियों को मेसोपोटेमिया की समान कृतियों से तुलना करने से उनके काल का पता लगाना कठिन नहीं। [illegible] ने भौतिक प्रमाणों को तीन भागों में विभाजन कर दिया है जिससे उनकी तुलना मेसोपोटेमिया के प्राग्-वंशावली काल, वंशावली काल और उत्तर-वंशावली काल की विविध पुरातत्व वस्तुओं से सुगमतया हो सके। इनमें प्राग्-वंशावली काल ५००० ई० पू० से ३००० ई० पू० तक प्रायः दो हजार वर्ष-व्यापी है, और इसमें काल के लगभग संस्कृतियाँ समाविष्ट हैं जैसे प्राक्-[illegible], हलाफ, अल-उबैद, उरुक और जमेदत-नसर। वंशावली काल ३००० ई० पू० से २४०० ई० पू० तक और उत्तर-वंशावली काल २४०० ई० पू० से २००० ई० पू० तक।

प्राग्वंशावली काल के प्रमाण

घुग्घुआ और केशवेश (फलक १७)—प्राचीन सुमेरियन और सिन्धु-[illegible] निवासियों की घुग्घुओं की पारस्परिक तुलना महत्त्वपूर्ण है। लम्बी दाढ़ी रखना, मूँछें सफाचट रखना, सिर पर लम्बे बाल रखना और उन्हें [illegible] जूड़ा [illegible]—ये दोनों देशों के [illegible] सुमेरियन लोगों के प्रचलित फैशन थे। [illegible] के पीछे की तरफ जूड़ा भी [illegible]। मोहेन्जोदड़ो से जो [illegible] मूर्तियाँ मिली उनकी घुग्घुआ और केश रचना भी इसी प्रकार की है (फलक १७, क-ख)। ये मूर्तियाँ उन पुरुषों की हैं जो सिन्धु सभ्यता के उच्च कोटि के [illegible] थे। [illegible] सुमेरियन पुरोहितों की तरह [illegible] राज्य-शासन और धार्मिक व्यवस्थाओं के [illegible]



क १ 1(a)



क २ 1(b)



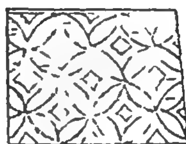
ख 2



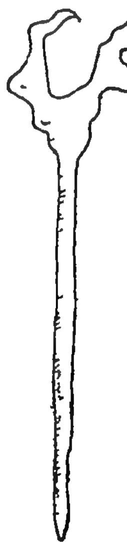
ग 3



घ 4



ङ 5





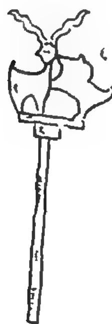
च 6



छ 7



ज ८



झ 9

ञ 10

फलक १२ प्राग्नशावली-काल के भौतिक प्रमाण

अधिकारी थे। दृष्टान्ततः खड़िया पत्थर के बने हुए दो नरमुंड[1], जो इस समय की मूर्तिकला के विलक्षण उदाहरण हैं, अति प्राचीन सुमेरियन लोगों की मुखमुद्रा से घनिष्ठ समानता रखते हैं। अल-उबैद काल में भी जार्डन महोदय को इसी प्रकार के केशवेश और आकृतियों वाली नर मूर्तियाँ मिली थीं। फ्रैंकफर्ट के मतानुसार पूर्वोक्त लक्षणोपेत मूर्तियाँ सुमेरियन लोगों की थीं। वे सुमेर के प्राचीनतम निवासी थे। उनके वर्णन प्रसंग में वे लिखते हैं—'यह तथ्य अत्यन्त रहस्यपूर्ण है कि मोहेंजो-दड़ो की मूर्तियाँ जो सिन्धु देश के तत्कालीन महापुरुषों का चित्रण करती हैं उसी वेश और मुखमुद्रा में हैं जो मेसोपोटेमिया में उरुक अथवा सम्भवतः उससे भी पहले अल-उबैद काल में प्रचलित थे। पुरुष कभी कभी लम्बे केशों को सिर के पीछे जूड़ा बनाकर बाँधते थे। जैसे कि 'ई-अन्नेटम' राजा के मूर्ति फलक पर स्पष्टतया से चित्रित है[2]। सुमेरियन लोगों के अपने आख्यानों के अनुसार उन्होंने पूर्वी समुद्र (अरब-सागर) की ओर से मेसोपोटेमिया में प्रवेश किया और 'एरिदु' नाम नगर को अपनी राजधानी बनाकर देश के दक्षिणी भाग को पहले बसाया (फलक ४)[3]। सुमेरियन और सिन्धु काल की सभ्यताओं में इस घनिष्ठ समता से प्रभावित होकर प्रो० चाइल्ड को ऐसी ही विचारधारा का अवलम्बन करना पड़ा था। वे लिखते हैं—'क्या सुमेरियन सभ्यता की विलक्षणताएँ भारत से ली गई थीं और क्या वस्तुतः सुमेरियन जाति ने मेसोपोटेमिया में विजेता के रूप में प्रवेश करके उन विलक्षणताओं का वहाँ प्रसार किया था[4]?'

लिपि का प्रमाण—सिन्धु-सभ्यता की प्राचीनता के विषय में अन्य अद्वितीय प्रमाण सिन्धु-लिपि की विलक्षणता है जो इस सभ्यता के आरम्भ-काल से लेकर अन्त तक एक ही रूप में मिलती है। लिपि-शास्त्रियों की सम्मति में सिन्धु-लिपि अपने प्रारम्भिक काल में भी जमदत-नस्र की लिपि से सादृश्य रखती है (फलक १४, क-ग)। इसी प्रकार एलम और सिन्धु देश की प्राचीन लिपियों में न केवल बहुत से रूप की सिन्धु ... को पहचान सकता है[5]। अतः निर्विवाद सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता उतनी ही पुरानी और ... जमदत-नस्र और सुमेर की प्राचीन सभ्यताओं के सम-

1 मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, खण्ड ३, फलक ९८, नं० १-६ और ७-६।

2 फ्रैंकफर्ट—सिलिण्डर सील्स।

3 वर्तमान समय में 'एरिदु' जो अब 'अबू-शहरैन' नाम के खण्डहर से प्रसिद्ध है, समुद्र तट से १२५ मील के फासले पर है।

4 चाइल्ड—न्यू लाइट ऑन मोस्ट एन्शेण्ट ईस्ट, पृष्ठ २०९।

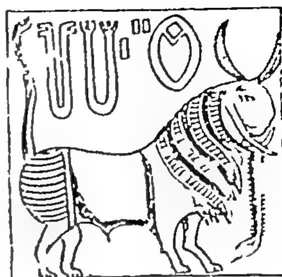
5 हण्टर—स्क्रिप्ट ऑफ हड़प्पा एण्ड मोहेंजो-दड़ो, पृष्ठ ४७-४८।



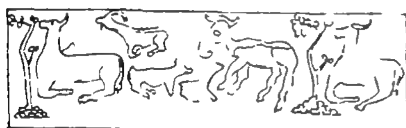
क



ख



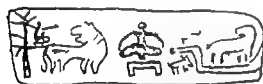
ग



घ



ङ

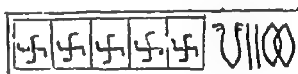




च



छ



ज

झ







ञ



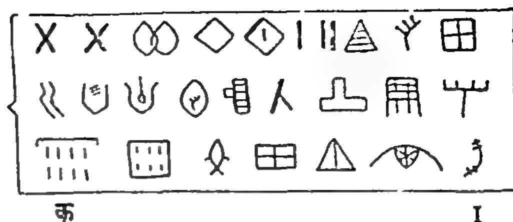
ट

ठ

फलक १२ प्राग्वशावली-काल के भौतिक प्रमाण

सिन्धुलिपि

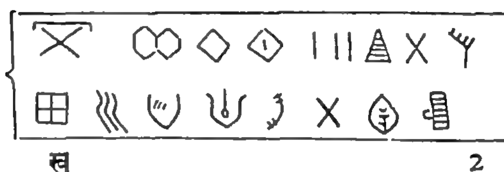
INDUS SIGNS



क I

इलम की लिपि

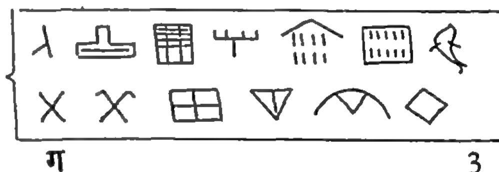
PROTO-ELAMITE SIGNS



ख 2

सुमेरियन लिपि

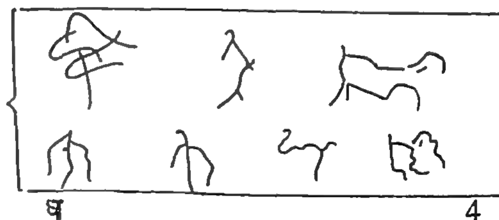
SUMERIAN SIGNS



ग 3

सुमेरियन काल की भित्तियों पर उत्कीर्ण चित्र

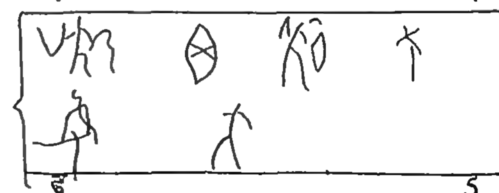
GRAFFITI ON SUMERIAN HOUSES



घ 4

हड़प्पा के कुम्भखंडों पर उत्कीर्ण चित्राक्षर

SIGNS ON HARAPPA POTTERY



ङ 5

फलक १४ सुमेर और इलम की प्राग्-वंशावली-काल की लिपियों का सिंधुलिपि से सादृश्य

खजूरा हाथी की सूंड का भ्रम पैदा करता है। मेसोपोटेमिया मे हाथी विदेशीय पशु था, इसलिये सुमेरियन लोगो ने यह अभिप्राय निस्सदेह भारत से लिया था जहाँ यह सदा से देशीय चतुष्पाद चला आया है। स्मरण रहे कि यह शलाका मुद्रा जमदेत-नसर काल की है, अत भारत से इस अभिप्राय का आदान अवश्य प्राक्-राजावली काल, अर्थात् चौथी सहस्राब्दी ई० पू० मे हुआ होगा। इन दोनो सकीर्ण पशुओ का न केवल रूप ही किन्तु काम भी परस्पर समान है। जमदेत-नसर काल के दूसरे उदाहरण जिनमे हाथी के समान आकृतियो का चित्रण है कुछ शलाका-मुद्राएँ हैं जिनके चित्र फ्रेंकफर्ट की पूर्वोक्त पुस्तक के फलक '६ बी' और '५ एच' मे प्रकाशित हुए हैं[1]।

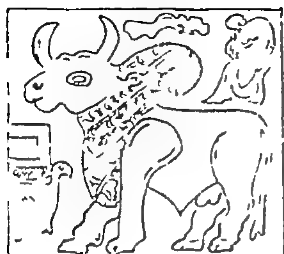
मोहेंजो-दडो की मुद्राछाप—मोहेंजो-दडो से प्राप्त पकी मिट्टी की मुद्रा-छाप पर पशुओ का समूह अकित है (फलक १५, ख)। छाप के मध्य मे घडियाल और उसके दायें बायें तीन पशु हैं। इस समूह मे रोचक बात यह है कि मध्यवर्ती घडियाल के कुछ अग पार्श्ववर्ती पशुओ के अगो का काम भी दे रहे हैं। घडियाल के खुले हुए जबडे पास के दो बैलो के सीगो का भी काम देते हैं, और इसकी गावदुम पूंछ हाथी की सूंड और एक मृग की पूंछ का बोध भी कराती है। इसी प्रकार घडियाल की ऊपर को मुडी हुई आगे की टांगो से उन टोकरो का भ्रम पैदा होता है जो सिन्धु मुद्राओ पर जगली पशुओ के आगे धरे हुए प्राय दिखाई देते हैं। सिन्धु कलाकार की यह विलक्षणता प्राक्-राजावली काल की एक शलाका मुद्रा पर अकित उस दृश्य के बहुत समान है जहाँ एक हिरण के दो सीग दूसरे हिरण की दो टांगो का काम भी देते हैं (फलक ३३, घ)।

देवद्रुम और देव-मुकुट—सिन्धुकाल की देवमूर्तियो के सिरो पर बने हुए शृग-मुकुट के मध्य मे देवद्रुम की शाखा का शिखड लगा होता है। मेसोपोटेमिया मे शाखा-शिखड वाले शृग मुकुट का प्रयोग केवल राजावली काल की देवमूर्तियो के सिरो पर ही पाया जाता है, उत्तर काल में नही। राजावली काल मे इसका प्रयोग और उत्तर काल मे इसका आत्यन्तिक अभाव बतलाता है कि यह शाखा-शिखड मेसोपोटेमिया मे विदेशीय था और सम्भवत सुमेरियन लोगो ने इसे सिन्धु देश से प्राप्त किया था जहाँ देवमूर्तियो के सिरो पर आरम्भ से अन्त तक इसका व्यापक-प्रयोग देखा जाता है।

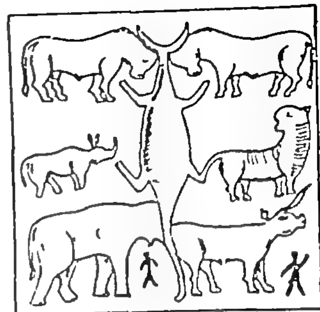
बैल की टांगो वाले पीठ—सिन्धु-मुद्राओ पर एक देवता बैल की टांगो वाले ऊँचे पीठ पर बैठा हुआ प्राय देखा जाता है (फलक १८ घ)। सिंह अथवा बैल की टांगो वाले पीठ और सिंहासन अति प्राचीन काल मे मिश्र एव मेसोपोटेमिया की घरेलू सामग्री के आवश्यक अग थे।

---

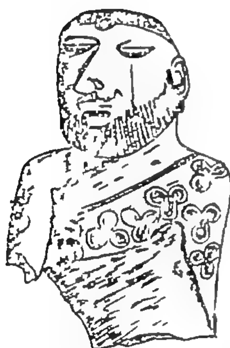
१ फ्रेंकफर्ट—सिलिंडर सील्स, फलक ७ 'डी'।

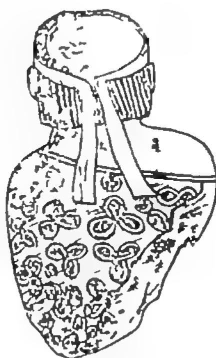


क I



ख 2

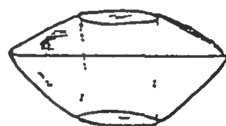




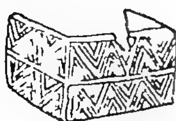
ग 3



घ



ङ 5



च 6



छ 7



ज 8

फलक १५ प्राग्-वंशावली-काल के अन्य प्रमाण

हलाफ और हड़प्पा—रिचर्ड स्टार का मार्शल से इस विषय मे ऐकमत्य है कि हड़प्पा और मोहेंजो-दडो के निम्नतम स्तर मे सिन्धु-सभ्यता का जो प्रौढ रूप प्रकट हुआ है उसकी पृष्ठभूमि मे इस सभ्यता का एक लम्बा इतिहास छिपा हुआ है[1]। कब्रिस्तान 'एच' की कुम्भकला पर जो ऊर्ध्वकेश मनुष्य-मूर्तियाँ मिली थी वे 'समारा' की ऊर्ध्वकेश मूर्तियो के बहुत सदृश हैं (फलक ३२, छ, ज)। वक्र-रेखाएँ, नदी के आकार, सिग्मा-चिह्न, उडती हुई 'विहगावली' आदि सूसा (प्रथम) के अलकरण हड़प्पा की कुम्भकला पर भी पाए जाते हैं। स्टार महोदय लिखते हैं कि सिन्धुकालीन कुम्भ-कला ईरान और मेसोपोटेमिया की कुम्भकलाओ से अणुमात्र भी सादृश्य नही रखती। उनके मत मे सिंध की कुम्भकला मे दो प्रकार की विशिष्टताओ का मिश्रण है। इनमे एक पाश्चात्य और दूसरी भारतीय है। उनका विचार है कि अन्य कुम्भकलाओ की अपेक्षा हड़प्पा और हलाफ की कुम्भकलाओ मे बहुत समानता है। बहुत से अलकरण हलाफ, सिआल्क और हड़प्पा मे एक समान मिलते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से अभिप्राय केवल हलाफ और हड़प्पा मे ही पाये जाते हैं, विशेषत उलझे हुए और सतत वृत्त (फलक ४३, छ)। उनके मत मे हलाफ इन अलकरणो का उत्पत्ति-स्थान था और उनके हड़प्पा पहुँचने के मार्ग मे सिआल्क एक पडाव थी। हड़प्पा, हलाफ तथा सिआल्क की कुम्भकलाओ मे परस्पर सादृश्य तथा सजातीयता बतलाती है कि सिन्धु देश और मेसोपोटेमिया के सम्पर्क प्राक्-राजावली काल के हैं।

चिपटी ईंटों का प्रयोग—प्राचीन काल से लेकर जमदेत-नसर काल तक मेसो-पोटेमिया की वास्तुकला में चिपटी ईंटो का व्यवहार होता रहा। परन्तु जमदत-नसर काल मे इनका स्वरूप बदल गया और तब से उत्कृष्ट चिपटी ईंटो के स्थान निकृष्ट समोन्नतोदर आकार की ईंटें प्रयोग मे आने लगी। सिन्धु-सभ्यता काल मे भी आरम्भ से अन्त तक चिपटी ईंटो का ही प्रयोग होता रहा जो प्राचीनतम मेसोपोटेमिया के साथ सिन्धु-सभ्यता का एक और सादृश्य है (फलक ३५, ड)।

कुन्तल-शीर्षक सूइयां—"हड़प्पा की कुछ सूइयाँ और एक गदाशिर" नामक अपने लेख मे प्रो० पिगट इन वस्तुओ के आविर्भाव और तिरोभाव पर प्रकाश डालते हैं। सिन्धु सभ्यता की दो सूइयो मे से एक मोहेंजो-दडो मे १८४ फुट की गहराई पर और दूसरी चन्हुदडो की खुदाई मे तांबे की अन्य वस्तुओ के साथ झूकर-संस्कृति के स्तर मे पाई गई थी (फलक १२, छ)। चन्हुदडो के टीले मे झूकर-संस्कृति का स्तर सिन्धु सभ्यता के स्तर पर विद्यमान होने के कारण निस्सन्देह सिन्धु-सभ्यता से अर्वा-चीन था। अपने लेख मे उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये सूइयाँ विदे-

---

१ रिचर्ड एच एस स्टार—इडस वेली पेंटेड पाटरी, पृष्ठ ६-१०।

शीय थी और २००० ई० पू० के लगभग ईरान की ओर से सिन्धु देश मे आई। उनके कथनानुसार इस शैली की सूई का आविर्भाव 'एनेटोलियन-इजियन' प्रदेश मे २६०० ई० पू० के लगभग हुआ, और इसका प्रसार तथा व्यवहार २००० ई० पू० और इसके बाद तक भी रहा। अत वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मोहेंजो-दडो की सूई जो १८४ फुट की गहराई पर मिली भारत मे २००० ई० पू० के पहले नही पहुँच सकती थी, और चन्हुदडो की सूई तो इससे भी बाद की थी क्योंकि यह झूकर काल के स्तर मे मिली थी।

इस शैली की सूइयां ईरान के दो प्रागैतिहासिक टीलो—सिआल्क और हिसार—तथा रूसी तुर्किस्तान के 'अनो' टीले मे भी पाई गई थी। सिआल्क मे ये सूइयां ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी के स्तर ४ मे मिलती हैं। इसी प्रकार की कुन्तल-शीर्षक सूइयो के चित्र सिआल्क-३ और हिसार—१ (बी) के स्तरो से प्राप्त चित्रित बर्तनो पर भी पाए गये हैं जो और भी पुराने हैं। पिगट महोदय मानते हैं कि इस शैली की सूई का जन्म सर्वप्रथम सिआल्क मे हुआ था जहाँ से यह पश्चिम की ओर गई और एनेटोलिया-इजियन (लघु-एशिया) प्रदेश मे २६०० ई० पू० के लगभग दृष्टिगोचर हुई। वे पुन लिखते हैं कि कुछ शताब्दियो मे वहाँ लोकप्रिय हो जाने पर यह ईरान की ओर लौटी और वहाँ से २००० ई० पू० के लगभग सिन्धु घाटी मे पहुँची। इन सूइयो के प्रसार के विषय मे पिगट की पूर्वोक्त विचारधारा का अनुसरण करना कठिन है। सूई का यह आकार जब २६०० ई० पू० के एक हजार वर्ष पहले सिआल्क के लोगो को सुविदित था, और प्रारम्भिक राजावली काल (३००० ई० पू०) के समय हिसार तथा अनो में भी प्रचलित था तो चौथी सहस्राब्दी के अन्त अथवा तीसरी के आरम्भ में सिन्धु प्रान्त मे भी सुगमता से आ सकता था। इस कल्पना मे कोई युक्ति नही है कि पहले यह आकार ईरान से पश्चिम की ओर यूनान तक गया, फिर लौटकर ईरान आया और अन्त मे २००० ई० पू० के लगभग वहाँ से भारत पहुँचा। सिन्धु-सभ्यता का आरम्भ-काल वस्तुत चौथी सहस्राब्दी ई० पू० तक पहुँचता है और आश्चर्य नही कि ईरान और भारत के बीच कला-सम्बन्धी विचारो और अभिप्रायो का परस्पर विनिमय चौथी सहस्राब्दी ई० पू० तक पहुँचता है और आश्चर्य नही कि ईरान और भारत के बीच कला-सम्बन्धी विचारो और अभिप्रायो का परस्पर विनिमय चौथी सहस्राब्दी ई० पू० मे हुआ हो। मुझे स्मरण है कि वत्स महोदय की खुदाई मे सीसे की बनी हुई इस आकार की एक-दो सूइयां हड़प्पा में मिली थी, परन्तु अत्यन्त खण्डित और अज्ञातार्थ होने के कारण वे उन्हे अपनी पुस्तक मे प्रकाशित नही कर सके। सन् १९३५ मे सीसे की कुन्तल-शीर्षक एक और सूई मुझे 'टीला-डी' की खुदाई मे ६ फुट ९ इच की

गहराई पर मिली थी[1] (फलक १२, ज)।

'टीला-एफ' की तरह अति प्राचीन 'टीला-डी' के गहरे स्तर से इस सूई की उपलब्धि एक स्पष्ट प्रमाण है कि इस प्रकार की सूइयाँ विदेशीय नही अपितु देशीय कला-कृतियाँ थी। डा० मेके ने ठीक ही कहा था कि चन्हुदडो के टीले मे जो सूई हडप्पा स्तर के ऊपर झूकर-स्तर मे मिली थी वह मोहेंजो-दडो की सूई की वशज थी। पिगट का यह कहना कि "क्योंकि प्रौढ सिन्धु-सभ्यता का सुमेरियन-सभ्यता से सम्पर्क 'सार्गान' काल मे हुआ, इसलिये सिन्धु-सभ्यता प्रारम्भिक राजावली काल (२८०० ई० पू०) से प्राचीन नही" सर्वथा भ्रममूलक है। हडप्पा और मोहेंजो-दडो के टीलो की स्तर-रचना तथा उपलब्ध वस्तु-सामग्री इस तथ्य का अकाट्य प्रमाण है कि चौथी सहस्राब्दी ई० पू० सिन्धु-सभ्यता का सुमेरियन सभ्यता से निकट सम्बन्ध था।

पशु-शीर्षक शलाका—सिन्धु-सभ्यता की अर्वाचीनता की पुष्टि मे पिगट का दूसरा प्रमाण 'पशु शीर्षक शलाकाएँ' हैं। इनमे से एक (फलक १२, झ) हडप्पा और दूसरी (फलक १२, ञ) मोहेंजो-दडो मे मिली थी। हडप्पा की शलाका टीला 'डी' के खात न० ३ मे एक फुट गहराई पर पाई गई थी। यह टीला, जैसा कि वत्स महोदय ने लिखा है, हडप्पा खडहर के प्राचीनतम क्षेत्रो मे से एक है, और इस कारण टीला-'एफ' का समकालीन है। यहाँ से खडिया पत्थर की बहुत सी क्षुद्राकार मुद्राएँ (फलक ४६, घ, ३-१३) सश्लिष्ट टाँगो वाले पशु, अविकसित कला-शैली के ताँबे के वर्तन आदि ऐसी वस्तुएँ जो प्राक्-मोहेंजो-दडो काल की हैं, मिली थी। इसलिये यहाँ से प्राप्त शलाका सिन्धु-सभ्यता के अन्तिम काल की वस्तु नही हो सकती जैसा कि पिगट का विचार है। मोहेंजो-दडो की शलाका १२ फुट की गहराई पर भिन्न-भिन्न काल की दो बाढ कांडो की तहो के बीच पाई गई थी। पिगट का तर्क है कि ये दोनो शलाकाएँ सिन्धु-सभ्यता मे बेजोड हैं, परन्तु भारत के बाहर इनका बहुत प्रसार था। चौथी सहस्राब्दी ई० पू० के आरम्भ-काल की इसी आकार की प्राचीनतम शलाकाएँ जो मेसोपोटेमिया से मिली थी सुमेरियन सभ्यता से सम्बन्ध रखती हैं। यही आकार सूसा (उरुक-प्रनग) मे मिला है और लगाश के टीले मे प्राप्त प्रसिद्ध नर्तक-शलाका भी इसी काल की है। एक और शलाका जो किश के खडहर के कब्रिस्तान मे उपलब्ध हुई थी, प्रारम्भिक राजावली काल (३००० ई० पू०) की है।

पिगट के इस तर्क मे भी वही आपत्ति है जो कुन्तल-शीर्षक सूइयो के सम्बन्ध मे ऊपर दिखाई गई है। चौथी सहस्राब्दी ई० पू० जब सुमेर मे यह शलाका प्रयोग मे

---

१ एन्युअल रिपोर्ट ऑफ आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, १९३४-३५, फलक ११, २।

आती थी तो यह असम्भव नही कि सिन्धु देश मे भी इसका ज्ञान हो। कुन्तल शीर्षक तथा पशु शीर्षक सूइयां सिन्धु-सभ्यता के अति प्राचीन होने का एक बलिष्ठ प्रमाण है। पिगट के मत मे सुमेरियन शलाकाओ से उतरकर प्राचीनतम तीन पशु शीर्षक शलाकाएँ जो यूनान से मिली थी २५०० ई० पू० काल की है। परन्तु इसके विपरीत हटकिन्सन महोदय लिखते हैं कि थर्मी स्थान मे प्राप्त कांसे की पक्षि-शीर्षक दो सूइयां तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रथम पाद के पहले की हैं[1]। इसके कथनानुसार ये शला-काएँ पूर्वोक्त सुमेरियन और यूनानी शलाकाओ के मध्यकाल की होने से सुमेरियन से अर्वाचीन और यूनानी शलाकाओ से प्राचीन है। मिश्रालफ, अनौ और हिसार मे प्राप्त-कुन्तल शीर्षक सूइयो की तरह सुमेर की पशु-शीर्षक शलाकाएँ भी २५०० ई० पू० काल की यूनानी शलाकाओ की पितृस्थानीय थी। यदि भारत ने कभी इन शलाकाओ को बाहर से लिया था, जिसका हमारे सामने अभी तक कोई प्रमाण नही है, तो उसने यह कला दूरस्थ इजियन प्रान्त मे नही अपितु अपने पडोसी सुमेर से ही ली होगी। पिगट के द्वारा अनुमोदित टेढे मार्ग मे सूइयो के पसार की क्लिष्ट कल्पना करना सर्वथा असगत है।

राजावली-काल के प्रमाण

मेसोपोटेमिया मे जो भारतीय वस्तुएं मिली प्राचीनता की दृष्टि से वे दो कालो मे विभक्त की जा सकती हैं—(१) वे जो प्रारम्भिक राजावली-काल की (३०००-२८०० ई० पू०) की हैं, और (२) वे जो राजा सार्गान के समय की हैं। पहली श्रेणी की वस्तुओ मे (क) पत्थर के कुछ बर्तन हैं जो सुमेर इलम के आठ खण्डहरो मे पाए गये थे (फलक १५ च), (ख) वृक्ष पूजा का एक चित्र जो बगदाद के पास दयाला क्षेत्र से मिला था (फलक २५ क) तथा (ग) प्राक-सार्गान काल की दो पाषाण-मुद्राएँ जिन पर सिन्धु-लिपि और भारतीय पशुओ की मूर्तियां अंकित हैं (फलक ४६, क १, २)।

प्रो० लेंगडन की सम्मति मे सूसा (द्वितीय) मे उत्खात सिन्धु शैली की शलाका मुद्रा पर अंकित लिपि जमदेत नसर, किश और निपर की सुमेरियन लिपि के बहुत अनुरूप है[2] (फलक १४ ग)। इस सम्पर्क का समर्थन करने वाली अन्य वस्तुओ और अभिप्रायो मे निम्न निर्दिष्ट उल्लेखनीय हैं—

अल-उबेद से प्राप्त बर्तनो के खण्ड जो उसी प्रकार के खड़िया-पत्थर के बने

---

१ एंटिक्विटी, ग्र० २२, अंक ९२, पृ० २२०।

२ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एंड दि इण्डस सिविलाइजेशन, ग्रंथ १, पृ० १०४।

हैं जो अब भी भारत मे इसी काम मे आता है[1] (फलक १५, च)। सिन्धु-सभ्यता की वस्तुओ पर तिपत्ती का अलकरण (फलक १५ ग) जो सुमेर के अति प्राचीन 'दिव्य वृषभों' पर भी बना है[2], ताँबे के उपकरणो का गुच्छा जिसमे चिमटा, कान की मैल निकालने की शलाका आदि सम्मिलित हैं, उर से प्राप्त इसी प्रकार की उपकरण सामग्री के समान है जो प्रथम राजावली काल के कब्रिस्तान मे मिली थी[3], दयाला क्षेत्र से प्राप्त प्रारम्भिक राजावली काल का एक बर्तन जिस पर सिंधु शैली का "बैल-और टोकरा' अभिप्राय बना है (फलक ४, १५, क), अकीक के खचित मन के जो किश मे उत्खात प्राक्-सार्गान काल की कब्रो के मनको मे मिलते हैं, एक विशेष आकार का मिट्टी का ढकना जिसके समान ढक्कने जमदेत-नसर मे मिले थे, शख की मुन्दरियाँ[5] चपटी पैंदी का बर्तन[6] (फलक ४२, ठ), खडी पैंदी के बलि पात्र[7] (फलक ४२, च छ,), पत्थर के तोल[8] (फलक ४१, ठ), पत्थर की सदूकची आदि ये समस्त प्राचीन वस्तुएँ डा० मेके की सम्मति मे चौथी और तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मेसोपोटेमिया की वस्तुओ से सादृश्य रखती हैं। इसी प्रकार सीढी और कंघा के अभिप्राय (फलक १५, ज) जो सूसा (प्रथम) की कुम्भकला की विशेषताएँ हैं, मोहेंजो-दडो मे शखो त्कीर्ण जडाई के टुकडो और चित्रित कुम्भखण्डो पर प्रकट होते हैं। ये दोनो अलकरण सूसा (द्वितीय) मे नही मिलते और निस्सन्देह सूसा (प्रथम) की सभ्यता के समय भारत आए थे।

मार्शल महोदय की पुस्तक के फलक न० १३८ और १३९ मे प्रकाशित कुल्हाड़ (फलक ४०, ख, ज) सूसा (प्रथम) की सस्कृति के कुल्हाडो से मिलते हैं। काँसे का आरा[9] (फलक ४० ड) मिश्र के प्राचीनतम आरो के बहुत अनुरूप है। अल-उबेद के लोग अपने मुर्दो को पार्श्व के बल लिटाकर कब्र मे गाड देते थे और उनके साथ बार

१ चाईल्ड—न्यू लाईट आन मोस्ट एन्शेट ईस्ट।

२ हाल एण्ड वूली—अल-उबेद, पृ० ४२।

३ एन्टिक्विटी—जिल्द ८, १९२८।

४ एन्टिक्विटी (चाईल्ड के लेख)।

५ मार्शल—वही, फलक १५६, ४, ५।

६ मार्शल—वही, फलक ८१, १७।

७ मार्शल—वही, फलक ७९, १७, २१।

८ मार्शल—वही, फलक १५४, ६ ७।

९ मार्शल—मोहेंजो-दडो एण्ड दि इडस वेली सिविलाइजेशन, फलक १३१ २६, २७।

आती थी तो यह असम्भव नही कि सिन्धु देश मे भी इसका ज्ञान हो। कुन्तल शीर्ष तथा पशु शीर्षक सूइयां सिन्धु-सभ्यता के अति प्राचीन होने का एक बलिष्ठ प्रमा है। पिगट के मत मे सुमेरियन शलाकाओ मे उतरकर प्राचीनतम तीन पशु शीर्ष शलाकाएँ जो यूनान से मिली थी २५०० ई० पू० काल की है। परन्तु इसके विपरी हटकिन्सन महोदय लिखते हैं कि थर्मी स्थान मे प्राप्त कांसे की पक्षि-शीर्षक दो सूइ तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रथम पाद के पहले की हैं[1]। उसके कथनानुसार ये शल काएँ पूर्वोक्त सुमेरियन और यूनानी शलाकाओ के मध्यकाल की होने से सुमेरियन अर्वाचीन और यूनानी शलाकाओ से प्राचीन हैं। मिश्रालरु, अली और हिसार प्राप्त-कुन्तल शीर्षक सूइयो की तरह सुमेर की पशु-शीर्षक शलाकाएँ भी २५० ई० पू० काल की यूनानी शलाकाओ की पितृस्थानीय थी। यदि भारत ने कभी इ शलाकाओ को बाहर से लिया था, जिसका हमारे सामने अभी तक कोई प्रमा नही है, तो उसने यह कला दूरस्थ इजियन प्रान्त से नही अपितु अपने पडोसी सुमेर ही ली होगी। पिगट के द्वारा अनुमोदित टेढे मार्ग से सूइयो के पसार की क्लिष्ट कल्प करना सर्वथा असगत है।

राजावली-काल के प्रमाण

मेसोपोटेमिया मे जो भारतीय वस्तुएँ मिली प्राचीनता की दृष्टि से वे दो वा मे विभक्त की जा सकती हैं—(१) वे जो प्रारम्भिक राजावली-काल की (३००० २८०० ई० पू०) की हैं, और (२) वे जो राजा सार्गान के समय की हैं। पहली श्रेण की वस्तुओ मे (क) पत्थर के कुछ वर्तन हैं जो सुमेर इलम के आठ खण्डहरो मे पा गये थे (फलक १५ च), (ख) वृक्ष पूजा का एक चित्र जो बगदाद के पास दयाल क्षेत्र से मिला था (फलक २५ क) तथा (ग) प्राक-सार्गान काल की दो पाषाण-मुद्रा जिन पर सिन्धु-लिपि और भारतीय पशुओ की मूर्तियां अकित हैं (फलक ४६, क १, २)

प्रो० लैंगडन की सम्मति मे सूसा (द्वितीय) मे उत्खात सिन्धु शैली की शलाक मुद्रा पर अकित लिपि जमदेत नसर, किश और निपर की सुमेरियन लिपि के बहु अनुरूप है[2] (फलक १४ ग)। इस सम्पर्क का समर्थन करने वाली अन्य वस्तुअ और अभिप्रायो मे निम्न निर्दिष्ट उल्लेखनीय हैं—

अल-उवेद से प्राप्त वर्तनो के खण्ड जो उसी प्रकार के खडिया-पत्थर के ब

---

१ एंटिक्विटी, ग्र० २२, अक ६२, पृ० २२०।

२ मार्शल—मोहेंजो-दडो एड दि इण्डस सिविलाइजेशन, ग्रथ १, पृ० १०४

है जो अब भी भारत मे इसी काम मे आता है[1] (फलक १५, च)। सिन्धु-सभ्यता की वस्तुओ पर तिपत्ती का अलकरण (फलक १५ ग) जो सुमेर के अति प्राचीन 'दिव्य वृषभों' पर भी बना है[2], तांबे के उपकरणो का गुच्छा जिसमे चिमटा, कान की मैल निकालने की शलाका आदि सम्मिलित हैं, उर मे प्राप्त इसी प्रकार की उपकरण सामग्री के समान है जो प्रथम राजावली काल के कब्रिस्तान मे मिली थी[3], दयाला क्षेत्र से प्राप्त प्रारम्भिक राजावली काल का एक वर्तन जिस पर सिंधु शैली का "बैल-और-टोकरा' अभिप्राय बना है (फलक ४, १५, क), अकीक के खचित मन के जो किश में उत्खात प्राक्-सार्गोन काल की कब्रो के मनको से मिलते हैं, एक विशेप आकार का मिट्टी का ढकना जिसके समान ढक्कने जमदेत-नसर मे मिले थे, शख की मुन्दरियां[5] चपटी पेंदी का वर्तन[6] (फलक ४२, ठ), खड़ी पेंदी के बलि पात्र[7] (फलक ४२, च, छ,), पत्थर के तोल[8] (फलक ४१, ठ), पत्थर की मदूकची आदि ये समस्त प्राचीन वस्तुएँ डा० मेके की सम्मति मे चौथी और तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के मेसोपोटेमिया की वस्तुओ से सादृश्य रखती हैं। इसी प्रकार सीढी और कथा के अभिप्राय (फलक १५, ज) जो सूसा (प्रथम) की कुम्भकला की विशेपताएँ हैं, मोहेंजो-दडो मे शखो-त्कीर्ण जडाई के टुकडो और चित्रित कुम्भखण्डो पर प्रकट होते हैं। ये दोनो अलकरण सूसा (द्वितीय) मे नही मिलते और निस्सन्देह सूसा (प्रथम) की सभ्यता के समय भारत आए थे।

मार्शल महोदय की पुस्तक के फलक न० १३८ और १३९ मे प्रकाशित कुल्हाडे (फलक ४०, ख, ज) सूसा (प्रथम) की सस्कृति के कुल्हाडो से मिलते हैं। कांसे का आरा[9] (फलक ४० ङ) मिश्र के प्राचीनतम आरो के बहुत अनुरूप हैं। अल-उबेद के लोग अपने मुर्दो को पार्श्व के बल लिटाकर कब्र मे गाड देते थे और उनके साथ खाद्य

१ चाईल्ड—न्यू लाईट आन मोस्ट एन्शेंट ईस्ट।

२ हाल एण्ड वूली—अल-उबेद, पृ० ४२।

३ एण्टिक्विटी—जिल्द ८, १९२८।

४ एण्टिक्विटी (चाईल्ड के लेख)।

५ मार्शल—वही, फलक १५६, ४, ५।

६ मार्शल—वही, फलक ८१, १७।

७ मार्शल—वही, फलक ७९, १७, २१।

८ मार्शल—वही, फलक १५४, ६, ७।

९ मार्शल—मोहेंजो-दडो एण्ड दि इडस वेली सिविलाइजेशन फलक १३१, २६, २७।

भी खण्डश वनी थी। यह कला-वैचित्र्य सार्गान काल तक प्रचलित रहा। इसका समर्थनफ्रैंक कर्ट-कृत खफजे की खुदाई से होता है[1]।

प्राचीन पार्थिव मूर्तियाँ—अन्त मे यह निर्देश करना आवश्यक है कि सिन्धु काल की मृण्मय मनुष्य-मूर्तियो के पक्षि समान विकृत मुख तथा अन्य लक्षण मेसोपोटेमिया, मिश्र तथा ईरान की प्राचीनतम मनुष्य-मूर्तियो से बहुत समानता रखते हैं।

पूर्वोक्त अनेक प्रमाण इस बात के साक्षी हैं कि सिन्धु-घाटी का मेसोपोटेमिया के साथ अल-उवेद काल से लेकर राजावली काल, अर्थात् ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध से २५वीं शती ईसा पूर्व के अन्त तक साक्षात् अथवा किसी माध्य के द्वारा अवश्य सम्बध रहा होगा। राजा सार्गान के काल (२४वी शती ई० पू०)मे लेकर तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त तक यह सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गया। यह निष्कर्ष केवल भौतिक प्रमाणो के आधार पर ही आश्रित नही किन्तु इसका समर्थन हड़प्पा, मोहेंजो-दडो तथा चन्हुदडो के टीलो की आन्तरिक स्तर-परीक्षा से भी होता है।

राजावली काल के बाद के प्रमाण

सिन्धु-सभ्यता राजावली-काल के अनन्तर २४०० से २००० ई० पू० तक भी जीवित थी। इसका प्रमाण उन अनेक भारतीय कला-कृतियो से मिलता है जो उर, किश, टेल अस्मर, गारा, सूसा आदि मेसोपोटेमिया और ईरान के प्राचीन खण्डहरो से सार्गान तथा उत्तरकाल के स्तरो के सम्बन्ध मे प्राप्त हुई।

उपसंहार

पूर्वोक्त समालोचना से सिद्ध होता है कि सिन्धु-सभ्यता ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध मे तीसरी सहस्राब्दी के अन्त तक, अर्थात् १५०० वर्ष के लगभग, जीवित रही। मेसोपोटेमिया और सिन्धु देश के बीच जो उत्तर-राजावली काल के सम्पर्क है वे इस दीर्घजीवी सभ्यता के अन्तिम काल के हैं। हड़प्पा की खुदाई मे स्पष्ट है कि टीला 'एफ' तथा खण्डहर के अन्य निम्न तल क्षेत्र टीला 'एबी' के प्राकार से प्राय एक हजार वर्ष अधिक प्राचीन हैं। डा० व्हीलर के सुझाव के अनुसार यदि इस दुर्ग-प्राकार की तिथि तीसरी सहस्राब्दी का मध्य है तो टीला 'एफ' के पहले स्तर की आबादी का काल ३५०० ई० पू० के लगभग तक पहुँच जाता है। मोहेंजो-दडो मे भूगर्भस्थ जल की तह ऊपर उठ जाने के कारण नीचे की आबादियाँ जलमग्न हो गई। अत वहाँ सातवें स्तर के नीचे खुदाई नही हो सकी। सातवें स्तर के काल का अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी २८ १ फुट की गहराई पर पत्थर की खण्डित मदूकची

---

१ फ्रैंकफर्ट—टेल अस्मर एण्ड खफजे पृ० ७०।

के मिलने से इस स्तर की आयु का अंदाजा लगाना कुछ सम्भव हो सकता है। इस प्रकार की सदूकचियाँ (फलक १५, च) सूसा, अल-उवेद एव मेसोपोटेमिया के अन्य टीलो मे प्रारम्भिक राजावली-काल के प्रसग मे मिली हैं। इस सम्बन्ध मे डा० मेके लिखते हैं कि "मोहेजो-दडो के निचले स्तरो के काल का अनुमान लगाने मे सदूकची की उपलब्धि से बहुत सहायता मिलती है। यह सदूकची कुछ गहरे हरे रग के पत्थर की बनी है और इस पर 'चटाई-अभिप्राय' बना है (फलक १५, च)। इसी प्रकार का अभिप्राय सूसा (द्वितीय) के एक बर्तन पर मिला था। सूसा (द्वितीय) की तिथि भिन्न-भिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न नियत की है, जैसे ईसा पूर्व ३००० से २६००, २७०० और ३००० से २८००। इन विविध तिथियो की औसत २८०० है[1]। अब यदि हम २८०० ई० पू० को ही मोहेजो-दडो से उत्खात सदूकची की तिथि मान लें तो स्तर न० ७ को ३००० ई० पू० की तिथि देना उपयुक्त नही होगा। यह कहना कठिन है कि इस स्तर के नीचे की आबादियाँ जो अभी जलमग्न हैं इनसे और कितनी पुरानी होगी। इन जलमग्न स्तरो मे सिन्धु-सभ्यता के शैशव तथा किशोर अवस्था का इतिहास छिपा है। स्तर न० ७ मे सिन्धु-सभ्यता का जो रूप प्रकाश मे आया है वह आगे ही प्रौढ है। सर जान मार्शल के मन मे क्रमिक विकास सिद्धान्त के अनुसार शैशव से प्रौढ अवस्था तक पहुँचने के लिये सिन्धु-सभ्यता को कम से कम एक हजार वर्ष लगे होगे। इस विकास के लिये यदि हम सात सौ शताब्दियाँ भी मान लें तो इस सभ्यता का आरम्भकाल ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी का प्रथम चरण ही बैठता है। अत सिन्धु-सभ्यता का आद्योपान्त जीवन-काल ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध से लेकर तीसरी सहस्राब्दी के अन्त तक नियत करना अनुचित नही होगा।

---

१ यही 'चटाई' अभिप्राय झोब घाटी के सुर-जगल नाम खण्डहर से प्राप्त ठीकरो पर भी मिला है।

देखो स्टाईन—मेमायर्स ऑफ दि आर्क्यालाजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया न० ३७, फलक १३, आर, जी ६ और फलक २०, एम जे ४३।

६

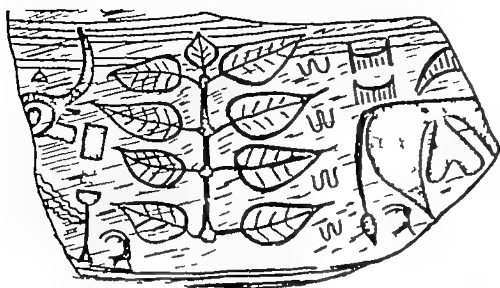
सिन्धु-सभ्यता का काल-निर्णय

(पश्चिमोत्तरी भारत की कुम्भकला के आधार पर)

प्रागैतिहासिक पश्चिमोत्तरी भारत के काल-निर्णय की समालोचना मे पिगट महोदय लिखते हैं कि इस भूखण्ड की भौगोलिक रचना दो प्रकार की है—(१) बलूचिस्तान का ऊँचा पठार और (२) सिन्धु नद तथा पश्चिमी पजाब का मैदान। बलूचिस्तान के पठार मे बिखरी हुए अनेक छोटी-छोटी प्रागैतिहासिक सस्कृतियाँ पाई गई हैं। इनमे बसने वाले कृषिजीवियो की अल्प-सख्यक जातियाँ परस्पर वियुक्त तग घाटियो मे रहती थी और इस एकान्तवास मे हर एक ने अपनी-अपनी विलक्षण सस्कृति का निर्माण किया था। इसके विपरीत सिन्धु नद के विस्तृत मैदान मे एक ऐसी वैयक्तिक सस्कृति का जन्म हुआ जो बढते-बढ़ते विशाल नागरिक सभ्यता के रूप मे विकसित हो उठी। यह सभ्यता हड़प्पा और मोहेंजो-दडो के केन्द्रीय नगरो मे जन्म पाकर शनै शनै बढती हुई एक हजार मील लम्बे और चार सौ मील चौडे विस्तृत क्षेत्र पर छा गई। बलूची पहाडियो की स्थानीय विविध सस्कृतियाँ निर्धन लोगो की कृतियाँ थीं। उनमे विषमता है। परन्तु सिन्धु घाटी की समान रूप नागरिक सभ्यता मे समृद्धि और ऐश्वर्य की झलक है।

मेक-कीन की विधि का अनुसरण करते हुए पिगट ने सिन्धु सभ्यता के साथ बलूची सस्कृतियो की तुलना त्रिविध दृष्टिकोण से की है। इस तुलना का आरम्भ वह बलूची कुम्भकला के परीक्षण से करता है। पश्चिमी एशिया की कुम्भकलाओ के समान इस कुम्भकला के भी दो प्रसिद्ध भेद हैं—मटियाली और लाल। मटियाली मे कोयटा, आम्री, कुहनी, शाही-टुम्प, नाल, झूकर और झाँगर से उपलब्ध बर्तनो के खण्ड हैं। ये सब प्राचीन खण्डहर दक्षिणी बलूचिस्तान मे हैं। लाल कुम्भकला के अवशेष उत्तरी बलूचिस्तान के सुर जगल, राणा गुंडई, पेरिआनो गुंडई नामक स्थानो मे तथा हड़प्पा, मोहेंजो-दडो और सिध की अनेक प्रागैतिहासिक बस्तियो मे मिले हैं। पूर्वोक्त दो प्रकार की कुम्भकलाओ के सम्बन्ध मे प्रो० पिगट लिखता है—

लाल कुम्भकला—"लाल कुम्भकला की सस्कृतियो मे झोब घाटी की सस्कृति, जो राणा-गुण्डई और पेरिआनो-गुण्डई नामक स्थानो में केन्द्रित है, सबसे प्राचीन है। इसके अलकरणो मे कई एक ज्यामितीय अभिप्राय आम्री के अलकरणो से कुछ कुछ


क

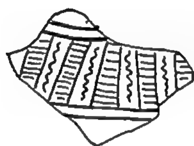

ख


ग


घ

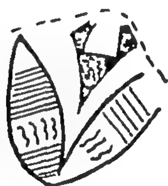

ङ


च

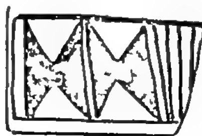

छ

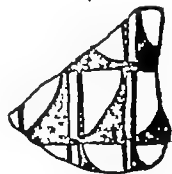

ज


झ


ञ


ट


ठ


ड

फलक १६ बलूचिस्तान की कुम्भकलाओं पर चित्रित अलंकरण

मिलते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि उत्तर-काल में आम्री-संस्कृति झोब-संस्कृति से अंशत प्रभावित हुई थी। परन्तु यह सादृश्य अधूरा है क्योंकि स्त्रियो और पशुओ की मूर्तियाँ जो झोब और कुल्ली मे पाई गई थी (फलक १७, घ) आम्री और नाल में नाममात्र को भी नही मिली। झोब और कुल्ली की मूर्तियो मे भी परस्पर बहुत अन्तर है, क्योंकि इन स्थानो से प्राप्त स्त्री-मूर्तियाँ आकार मे एक दूसरी से नितान्त भिन्न हैं[1]।"

पिगट के मतानुसार मटियाली कुम्भकलाओ मे कोयटा की कुम्भकला भारत मे प्राचीनतम है (फलक १६, ट-ड)। आम्री झोब और शाही-टुम्प की कलाओ से इसकी कुछ समानता अवश्य है, परन्तु भारतीय कुम्भकलाओ मे यह अपनी शैली की निराली ही है, और इसके विषय मे पुरातत्त्ववेत्ताओ को बहुत कम ज्ञान है। पिगट स्वय इस बात को मानते हैं कि कोयटा कुम्भकला से किसी अन्य भारतीय कला की तुलना करना भ्रान्तिकारक है। कोयटा से उतरकर आम्री की कुम्भकला है जो अपने उत्तरकालीन रूप मे नुंदारा की कुम्भकला पर प्रभाव डालती है। नाल की कुम्भकला के दो भेद हैं—एक प्राचीन और दूसरा उत्तरकालीन। प्राचीन रूप की नुंदारा मे और उत्तरकालीन की नाल की बहुवर्ण कुम्भकला मे झलक मिलती है। पिगट के विचार मे कोयटा, आम्री और झोब संस्कृतियाँ हड़प्पा से प्राचीन हैं। आम्री अपने प्राचीन रूप मे नुंदारा और कुल्ली की संस्कृतियो को प्रभावित करती है। कुल्ली हड़प्पा से प्राचीनतर है और अन्तिम काल मे हड़प्पा सभ्यता पर अपनी छाप डालती है। नाल अंशत हड़प्पा के समकालीन और अंशत उत्तरकालीन है[2]।"

अपनी समालोचना के प्रसग मे पिगट महोदय पुन लिखते हैं—

"यह सम्भव नही कि आम्री को जमदेत-नसर से अधिक प्राचीन माना जाए, क्योंकि आम्री-संस्कृति हड़प्पा-संस्कृति के बिलकुल ही नीचे मिली है, और हड़प्पा-संस्कृति स्वय प्रारम्भिक राजावली काल से पहले की नही हो सकती। अपने सुर-जगल रूप मे झोब-संस्कृति हिसार (प्रथम) के अन्तिम काल से सम्बद्ध है और इसका वह रूप आम्री संस्कृति के आरम्भ काल से बहुत वियुक्त नही। राजावली काल मे भारत और सुमेर के बीच वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापना करने मे यदि कुल्ली का स्थान प्रधान था तो सिन्धु-सभ्यता और सार्गान के समय के उत्तरकालीन सम्पर्क शायद कुल्ली माध्य के द्वारा ही सम्पन्न हुए हो। इसका प्रमाण मकरान के समुद्रतट पर स्थित सुतकजडोर नामक सिन्धु-सभ्यता का प्राकार-वेष्टित खण्डहर है[3]।"

---

१ एन्शेंट इंडिया, न० १, पृ० ८-२४।

२ एन्शेंट इंडिया न० १, पृ० ८-२४।

३ एन्शेंट इंडिया न० १, पृ० ८-२४।

पिगट के मत मे सिन्धु-सभ्यता सिन्धु घाटी मे प्रारम्भिक राजावली काल के समस्त सांस्कृतिक लक्षणो समेत प्रकाश मे आती है। इन लक्षणो मे नागरिक अनुशासन, लिपि, मूर्तिकला, मुद्राएँ, धातु-विद्या आदि वर्णनीय हैं। उनका सुझाव है कि कुल्ली-संस्कृति शायद सिन्धु-सभ्यता की जननी थी और सिन्धु-सभ्यता से प्रभावित जो वस्तुएँ कुल्ली से प्राप्त हुई वे सम्भवत संक्रान्ति-काल की थी।

पिगट का काल-निर्णय दोषग्रस्त है—पिगट के द्वारा निर्धारित पश्चिमोत्तर भारत की संस्कृतियो का काल-निर्णय दोष-ग्रस्त है। उनका तर्क कही भी श्रद्धेयता की कोटि तक नही पहुँचता। अपनी तुलनाओ को अधूरा छोडकर दोलारूढ मन से वे एक विषय से दूसरे की ओर भागते हैं। सिन्धु-सभ्यता की अर्वाचीनता मे जो प्रमाण उन्होंने दिये हैं वे ऐसे दुर्बल और असम्बद्ध हैं कि उनसे उनके पक्ष की पुष्टि नही होती। अपनी प्रौढ दशा मे जब सिन्धु-सभ्यता मोहेंजो-दडो के सातवें स्तर मे प्रकट होती है तो वह पहले ही पूर्ण-रूप से विकसित है। इसमे सिन्धु युग के शिल्पियो और कलाकारो की अलौकिक प्रतिभा का प्रतिबिम्ब एव सामाजिक, धार्मिक और कला-विषयक रूढियो का विचित्र समन्वय है जिसकी तुलना अन्यत्र कही नही मिलती। इसका व्यापक क्षेत्र एक हजार मील लम्बा और चार सौ मील चौडा सिन्धुनद का मनोहर काठा था जो ससार की अति प्राचीन मिश्र और बाबल की सभ्यताओं के सयुक्त क्षेत्र से भी अधिक विस्तृत था। सिन्धुनद की बलवती धारा की तरह इस सभ्यता का ओजस्वी प्रवाह डेढ हजार वर्ष तक अपनी चिरतन रूढियो और विलक्षणताओ को सग लिये अवि-च्छिन्न रूप से बहता रहा। सिन्धु-सभ्यता की इस सदानीर अखण्ड धारा की तुलना जब हम बलूचिस्तान की झोब, कुल्ली आदि क्षुद्र ग्राम-संस्कृतियो से करते हैं तो ये संस्कृतियाँ पंकिल पल्वलो की तरह प्रतीत होती हैं। इस प्रसग मे प्रो० चाईल्ड लिखते हैं कि "यह जानना अत्यावश्यक है कि क्या बलूची संस्कृतियाँ सिन्धु-सभ्यता की जननी थी अथवा उसके उत्तरकालीन अवनत-रूप की छायामात्र थी।" प्रमाणो के आधार पर कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त दो विकल्पो मे से दूसरा अधिक सगत है।

खुदाई का साक्ष्य—मोहेंजो-दडो के सातवें स्तर मे सिन्धु-सभ्यता की जो प्रौढ झलक मिलती है वह प्रारम्भिक राजावली काल की सुमेरियन-सभ्यता के अशेषत समान है। प्रश्न उठता है कि ऐसी प्रौढ दशा तक पहुँचने के लिये इसे कितना समय लगा होगा। शैशव से किशोरावस्था और किशोरावस्था से प्रौढता प्राप्त करने के लिये मार्शल के विचार मे कम से कम एक सहस्र वर्ष का समय चाहिये। वे अपनी समालोचना मे इस प्रकार लिखते हैं—

"इस सभ्यता के विकास के लिये एक लम्बे समय की कल्पना करनी अनिवार्य है। परिपक्व नागरिक जीवन, विशाल भवन मदिरादि विविध शिल्पकलाएँ, नाना रूप

कुम्भकला, उत्कीर्ण पाषाण-मुद्राएँ, सरल चित्राक्षरो से जटिल सिन्धु-लिपि का क्रमिक विकास आदि इस सभ्यता की प्रगति के प्रधान लक्षण हैं। मेरे विचार मे इस प्रगति के लिये एक हजार वर्ष भी थोड़ा ही समय होगा।" मार्शल महोदय का यह अनुमान मनमानी कल्पना नहीं है किन्तु तथ्यो पर आश्रित पुरातत्त्ववेत्ताओं का क्रियात्मक अनुभव है। स्मरण रहे कि सिन्धु-सभ्यता इस प्रौढ दशा मे कही विदेश मे उखाड कर इस भूमि मे नही लगाई गई। यह देश की उपज थी, जैसा कि हडप्पा और मोहेंजो-दडो के टीलो की स्तर-परीक्षा से स्पष्ट प्रतीत होता है। यह यहीं पैदा हुई, फूली-फली और अन्त मे इसी भूमि की गोद मे समा गई।

सन् १९४६ के पहले की खुदाई का साक्ष्य—जब हम डा० व्हीलर की खुदाई का पहली खुदाई के आलोक मे अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट मालूम होता है कि टीला 'ए-बी' पर जब प्राकार बनाया गया तो टीला 'एफ' तथा अन्य निचले क्षेत्रो मे मनुष्य जीवन समाप्त हो चुका था। इस समय केवल 'ए-बी' और 'ई' दो ऊँचे टीलो पर ही आबादी थी। इस दशा मे डा० व्हीलर के 'दुर्ग-शासन' की कल्पना करना असम्भव है[1]। वत्स महोदय के विचार मे टीला 'एफ' मे नीचे के पाँच स्तर मोहेंजो-दडो से पहले के हैं। उनका यह विचार अशत स्तर-रचना और अशत क्षुद्राकार मुद्राओ के साक्ष्य पर आश्रित है। इस भाँति की एक भी छोटी मुद्रा अभी तक मोहेंजो-दडो मे नहीं मिली। सम्भवत ये छोटी मुद्राएँ सिन्धु-सभ्यता के शैशव-काल की वस्तुएँ थी, और खुदाई करने पर शायद मोहेंजो-दडो के उन स्तरो मे मिल जाएँ जो अभी जलमग्न हैं।

मार्शल के द्वारा निर्धारित सिन्धु-सभ्यता की तिथि उस अश मे ठीक है जहाँ तक कि इस सभ्यता के आरम्भ काल का प्रश्न है। मोहेंजो-दडो के नान उत्खात स्तरो और हडप्पा के लिये उन्होंने जो ऊपर की सीमाएँ नियत की हैं वे यथाक्रम ईसा पूर्व ३२५० और चौथी सहस्राब्दी का पूर्वार्ध हैं। हडप्पा के लिये सीमा बढाने का कारण यह था कि इसके पाँच स्तर, जिनमे छोटी मुद्राएँ मिली, मोहेंजो-दडो से पहले के थे। परन्तु गत वर्षो मे मेसोपोटेमिया मे जो अनुसन्धान हुआ है उसके आलोक मे सिन्धु-सभ्यता के अन्तकाल की सीमा मे परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। सार्गान के समय की सिन्धु-मुद्राएँ तथा टीला असमर मे प्राप्त वस्तु समुदाय प्रकट प्रमाण हैं कि तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अन्त तक सिन्धु देश और मेसोपोटेमिया मे परस्पर वाणिज्य सम्बन्ध था। हमें यह भी ज्ञात है कि सिन्धु-सभ्यता के अन्तिम काल में कुछ विजातीय लोग, जिनके अस्थि शेष कब्रिस्तान 'एच' में उपलब्ध हुए, हडप्पा आकर बस गये थे। मोहेंजो-दडो के नष्ट हो जाने के बाद भी ये लोग वहाँ दो सौ वर्ष के लगभग रहे।

---

१ एन्शेंट इण्डिया नं० ३, पृ० ७६।

इसलिये हड़प्पा के जीवन-काल की निचली सीमा १८०० ई० पू० के लगभग पहुँच जाती है। अत सिन्धु-सभ्यता के पूर्वोक्त दोनो केन्द्र-नगरो का काल-मान इस प्रकार बैठता है—

मोहेंजो-दडो—(सात उत्खात स्तरो के लिये)—३२५० ई० पू० से २००० ई० पू० तक।

हड़प्पा—चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध से १८०० ई० पू० तक।

पिगट का दावा है कि आम्री-सस्कृति हड़प्पा-सस्कृति से प्राचीन है, क्योंकि सिंध के दो प्राचीन टीलो मे आम्री के कुम्भखण्ड हड़प्पा सस्कृति के स्तर के नीचे पाए गये थे। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि सिन्धु-सभ्यता के दीर्घ जीवन मे हडप्पा की कुम्भ-कला आम्री और लोहरी के स्थानो मे किस समय पहुँची। इन दोनो टीलो मे हड़प्पा के कुम्भखण्ड आम्री सस्कृति के स्तर के नीचे दबे हुए थे। परन्तु सिन्ध के दूसरे दो टीलो—गाजीशाह और पडीवाह—मे ये आम्री के कुम्भखण्डो से मिश्रित मिले थे। स्मरण रहे कि आम्री और सिन्ध के दूसरे प्राचीन स्थान केवल कृषिजीवियो की छोटी छोटी बस्तियाँ थी, जब कि सिन्धु-सभ्यता एक व्यापक सत्ता के रूप मे उत्तरी भारत के विस्तृत भू-खण्ड पर व्याप्त थी। मोहेजो-दडो के सातवें स्तर मे जब यह प्रकट होती है तो पहले ही प्रौढ है और इसकी जड इस स्तर के बहुत नीचे तक फैली हुई है। सिंधु घाटी मे यह १५०० वर्ष तक फूली और फली। अभी हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नही जिससे अनुमान लगाया जा सके कि इसका प्रभाव दूरस्थ बलूचिस्तान और सिन्ध की कृषिजीवी जातिओ मे कब पहुँचा। हो सकता है कि आम्री और लोहरी मे यह प्रभाव सिन्धु-सभ्यता के मध्यकाल मे पहुँचा हो। अत यह निष्कर्ष निकालना अनुचित है कि समूची सिन्धु-सभ्यता ही आम्री-सस्कृति के बाद की थी। जब तक आम्री-कुम्भ-कला के खण्ड हड़प्पा अथवा मोहेजो-दडो के खण्डहरो मे सिन्धु-कुम्भकला के नीचे दबे हुए नही मिलते यह मान लेना असगत होगा कि आम्री-सस्कृति सिन्धु-सभ्यता से प्राचीन है।

पिगट के इस विचार का अनुमोदन करना भी कठिन है कि कुल्ली पत्थर की शिल्पकला का केन्द्र था। यह भी असम्भव है कि मेसोपोटेमिया के आठ खण्डहरो से प्राप्त पत्थर की सदूकचियाँ मोहेजो-दडो से नही अपितु मकरान से वहाँ भेजी गई थी। प्रारम्भिक राजावली काल के सुमेर का मोहेजो-दडो से सीधा वाणिज्य-सम्बन्ध था। सिन्धु राज्य अरब सागर तक फैला हुआ था और तटीय सामुद्रिक व्यापार का नियन्त्रण इसके शासन मे था। खडिया पत्थर की खण्डित सदूकची (डिब्बा) जो मोहेजो-दडो मे २८ २ फुट की गहराई पर मिली थी सिन्धु-सभ्यता के इतिहास मे बहुत पुरानी वस्तु है और इसकी तिथि सुगमता से ई० पू० २८०० वर्ष तक पहुँच जाती है। इससे पता

चलता है कि पाषाण-शिल्पकला का केन्द्र मकरान नहीं किन्तु सिन्धु प्रान्त था। मोहेंजो दड़ो की खुदाई में जितना भी खड़िया पत्थर मिला वह राजपुताना की खानों की उपज था, क्योंकि यही खानें इस पत्थर का निकटतम उत्पत्ति-स्थान हैं[1]। सिन्धु-सभ्यता के पूर्वोक्त केन्द्र-नगरों से जितनी मुद्राएँ अथवा पत्थर के बर्तन मिले वे प्रायः इसी पत्थर के बने थे। निर्जल और दुर्गम पहाड़ी इलाके में स्थित होने के कारण कुल्ली इस कला का केन्द्र नहीं हो सकती। कुल्ली की स्त्री-मूर्तियाँ इतनी बेढब और बेडौल नहीं दीखतीं जितनी कि सिन्धु प्रान्त की। दूसरी बात यह है कि उनकी बनावट में झोब और सिन्धु की कला विलक्षणताओं का मिश्रण होने से कुल्ली की स्त्री-मूर्तियाँ कला-सकरता का एक रोचक उदाहरण है। सिन्धु-सभ्यता की पशुमूर्तियाँ (खिलौने) कला-दृष्टि से बहुत साधारण और कुरूप हैं। रेखा-चित्रित सुडौल कुल्ली के खिलौनों से उनका बहुत कम सादृश्य है। कुल्ली का कास्य दर्पण जिसकी मूठ स्त्री की आकृति की है एक उत्कृष्ट कलाकृति है और सिन्धु-सभ्यता के अलकरणहीन सादे दर्पणों का यह उत्तरकालीन उन्नत रूप है।

सिन्धु-सभ्यता और नाल—नाल निस्सन्देह हड़प्पा के बाद का है। यहाँ सिन्धु सभ्यता के जो अश मिले वे इस सभ्यता के ह्रास-काल के थे। इसका समर्थन नाल से प्राप्त उलझे हुए वृत्त, पीपल की पत्तियाँ आदि अभिप्रायों और पत्थर के तोल, गोल मनके आदि वस्तुओं से होता है। नाल में ईरानी शैली की पाषाण-मुद्राएँ बहुतायत से मिली थी, परन्तु सिन्धु-सभ्यता की एक भी मुद्रा हस्तगत नहीं हुई। मालूम होता है कि कुल्ली और नाल की बस्तियों का सिन्धु-सभ्यता से साक्षात् सम्बन्ध नहीं था। हड़प्पा की कला-कृतियाँ कुल्ली में अवश्य किसी माध्य के द्वारा पहुँची होगी।

सर आरल स्टाईन कुल्ली को झोब से अर्वाचीन और नाल से प्राचीन मानते हैं। इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि डबरकोट और सुतकजडोर नामक झोब संस्कृति के टीलों में झोब और सिन्धु संस्कृतियों के अवशेष समकालीन स्तरों में पाये गये थे। इससे स्पष्ट है कि अपने प्राचीनतम-रूप में सिन्धु सभ्यता झोब की समकालीन और कुल्ली से प्राचीन थी। पिगट का तर्क है कि बलिपात्र, पीपल की पत्तियाँ, पेड़ आदि हड़प्पा की विलक्षणताएँ कुल्ली में उनके ह्रास काल में पहुँची थी। परन्तु आपत्ति यह है कि पीपल का पेड़ कुल्ली की प्राचीनतम अग्निवर्ण कुम्भकला पर भी मिलता है। कुल्ली में उपलब्ध 'पीपल-का-पत्ता' अभिप्राय अवास्तविक है। निस्सन्देह यह हड़प्पा के अभिप्राय का उत्तरकालीन विकृत रूप है। इसी प्रसग में पिगट पुनः लिखते हैं कि कब्रिस्तान-'एच' के बर्तनों पर बने हुए पशु निस्सन्देह कुल्ली के बर्तनों पर चित्रित

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइज़ेशन, भाग २, पृ० ६७६

पशुओ की अनुकृति है। कुल्ली और कब्रिस्तान-'एच' मे यह सादृश्य स्पष्ट बतलाता है कि कुल्ली कब्रिस्तान-'एच' की तरह सिन्धु-सभ्यता के ह्रासकाल की सस्कृति थी।

हिसार और अनो के तीसरे स्तर के काल-निर्णय के विषय मे पिगट या मेक्-कौन से जो मतभेद है वह प्रधानत इस भ्रम पर आधारित है कि सिन्धु-सभ्यता उत्तर कालीन है। पश्चिमोत्तरी भारत का साक्ष्य, जो उसने अपने भ्रान्त सिद्धान्त के समर्थन मे उपस्थित किया है, उसकी अपनी सम्मति मे भी अधूरा और सशयित होने के कारण अश्रद्धेय है। उदाहरणत, कुन्तल-शीर्षक सूइयां जो हड़प्पा और मोहेंजो-दडो मे मिली भारतीय कलाकृतियाँ थी, न कि विदेशीय। इस प्रकार चन्हुदडो की सूई जो झूकर-स्तर से उपलब्ध हुई, निस्सन्देह मोहेंजो-दडो की सूइयो की अनुकृति थी। परन्तु पिगट महोदय भ्रम से भारतीय सूइयो को विदेशीय कलाकृतियां बतलाते हैं। उनका यह भ्रममूलक प्रमाण मेक्-कौन के हिसार-विषयक काल-निर्णय पर किसी प्रकार बुरा प्रभाव नही डालता। हिसार के टीले मे कई एक भारतीय कलाकृतियां निचले स्तरो मे पाई गई थी जिनसे भारत और ईरान के बीच राजावली काल और उससे भी पहले का सम्पर्क सिद्ध होता है। इस साक्ष्य का पिगट ने ठीक मूल्य नही आंका। उदाहरणत, हिसार मे एक गोल शलाका-मुद्रा जिस पर बैल की मूर्ति कोरी है, मिली थी जिसे पिगट "सदिग्ध सिन्धु-सभ्यता की वस्तु" बतलाते हैं[1]। पुन सिन्धु-सभ्यता की 'लड़ियो वाली मणि-मालाएँ' जिनमे विछेदक मनके (फलक ३८, ड) लगे हुए हैं हिसार के निचले स्तरो मे मिली हैं। हिसार से प्राप्त अनेक भारतीय कलाकृतियां पिगट के मत मे सिन्धु-सभ्यता के अन्तिम काल की वस्तुएँ हैं। पूर्वोक्त प्रमाणो से प्रतीत होता है कि चौथी सहस्राब्दी ईसा पूर्व ईरान और सिन्धु देश मे परस्पर वाणिज्य अथवा यातायात सम्बन्ध अवश्य था। इसी प्रकार भारत और मेसोपोटेमिया के बीच इसी काल के प्राचीन सम्पर्क को भी पिगट ने यथार्थ नही समझा है। उनका यह कहना कि मेसोपोटेमिया मे उपलब्ध राजावली काल की भारतीय वस्तुएँ जैसे कूबड वाले बैल आदि की आकृतियां सम्भवत सीधी कुल्ली प्रान्त से आई थी, न कि सिन्धु प्रान्त से, नितान्त हास्यास्पद है। मैं उनसे यह पूछना चाहता हूं कि क्या "बैल-और-टोकरा" अभिप्राय, जो बगदाद के पास दयाला क्षेत्र मे मिला था और जिसकी तिथि चौथी सहस्राब्दी ई० पू० है, भी कुल्ली से ही लिया गया था? क्या कुल्ली सस्कृति के एक भी खण्डहर मे ऐसा अभिप्राय कही मिला है? परन्तु सिन्धु-मुद्राओ पर यह बहुत साधारण है। इसमें अणुमात्र भी सन्देह नही कि सुमेरियन लोगो ने यह अभिप्राय

---

१ पिगट महोदय ने कारण नही बतलाया कि यह मुद्रा क्यो सदिग्ध सिन्धु-सभ्यता की वस्तु है।

कुल्ली से नहीं किन्तु सिन्धु प्रान्त ने प्राप्त किया था।

सिन्धु-सभ्यता से कुल्ली संस्कृति प्राचीन नहीं—कुल्ली को सिन्धु-सभ्यता से प्राचीन बतलाना दुराग्रह मात्र है। कुल्ली मे सिन्धु तथा अग्नि वर्ण शैली की कुम्भ-कलाओ पर 'बलि-वेदिका' और उसके साथ बँधा हुआ कूबड़वाला बैल पाया जाता है। स्वभावत प्रश्न उठता है कि कुल्ली-संस्कृति में 'बलि-वेदिका' अभिप्राय कहाँ से आया? मेसोपोटेमिया की अग्निवर्ण कुम्भकला मे इसे नही लिया गया क्योंकि उस पर इसका अशेपत अभाव है। न ही यह कुल्ली की किसी अन्य वस्तु या मुद्रा पर मिलता है। कुल्ली-संस्कृति इस अभिप्राय के प्रादुर्भाव तथा प्रयोजन पर कोई प्रकाश नही डालती। इसके विपरीत सिन्धु-सभ्यता मे हमे इस अभिप्राय के क्रमिक विकास और इतिहास का सुसम्बद्ध परिचय मिलता है। सिन्धु-सभ्यता के एकशृग और अश्वत्थ-देवता से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्या सिन्धुकालीन 'बलि-वेदिका' भी कुल्ली से ही ली गई थी? यह सम्भव नही। यदि ऐसा होता तो कुल्ली मे वेदिका के साथ एक शृग की बजाय बैल का सम्बन्ध क्यो जोडा जाता। कुल्ली तथा कुल्ली-संस्कृति के अन्य खडहरो मे एकशृग का एक भी चित्र क्यो नही मिला। प्रतीत होता है कि यह अभिप्राय कुल्ली के लोगो ने सिन्धु-सभ्यता से प्राप्त किया था, और यह आदान-प्रदान उस समय हुआ जब इस चिह्न का संकेतार्थ अशेपत विस्मृत हो चुका था।

पिगट के विचार मे कोयटा की कुम्भकला के सम्बन्ध मे इतना थोडा ज्ञान है कि उससे पश्चिमोत्तरी भारत की अन्य कुम्भकलाओ की तुलना करना निरर्थक है। इस अज्ञान-दशा मे यह कहना कि कोयटा की कुम्भकला भारत की मटियाली कुम्भ-कलाओं मे प्राचीनतम है भ्रान्तिजनक है। उनका यह कहना कि कोयटा के अनन्तर आम्री की कुम्भकला का स्थान है, जो अपने अन्तिम काल मे नुंदारा की प्रारम्भिक कुम्भकला से सम्बद्ध है, और भी भ्रान्तिजनक है। वह नाल की कुम्भकला को दो भेदो मे विभक्त करते हैं—(१) प्राचीन रूप जो नुंदारा की कुम्भकला मे झलकता है, और (२) उत्तरकालीन रूप जिस पर बहुवर्ण चित्र बने हुए हैं। एक ओर तो नुंदारा की कुम्भकला का सादृश्य आम्री से दिखलाया गया है और दूसरी ओर कुल्ली से परन्तु दोनो ओर यह सादृश्य अधूरा ही रह जाता है।

पूर्वोक्त संदिग्ध और अधूरे सादृश्यो के आधार पर पिगट महोदय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णयो पर उतर आते हैं। उनके अनुसार कोयटा, आम्री और झोब संस्कृतियां हडप्पा से पहले की हैं और आम्री अपने अन्तिम काल मे नुंदारा और कुल्ली को प्रभावित करती है। वह कुल्ली के प्रारम्भिक काल को हडप्पा से प्राचीन परन्तु अन्तिम काल को इसका समकालीन बतलाते हैं। नाल को अशत हडप्पा का समकालीन और

अशत उत्तरकालीन। सिन्धु-सभ्यता और बलूचिस्तान की संस्कृतियों के बीच निरालम्ब और संदिग्ध सादृश्यों की हवाई नीव पर वे गम्भीर सिद्धान्तों की मायापुरी का निर्माण करते हैं। अत पिगट अथवा डा० व्हीलर के इस निर्णय को मानना कठिन है कि सिन्धु-सभ्यता राजावली काल के मध्य (लगभग २८०० ई० पू०) में उत्पन्न हुई और १५०० ई० पू० के आस-पास आर्यजाति के आक्रमणों से नष्ट हो गई।

७

धर्म और धार्मिक कथानक

उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर यह निर्विवाद है कि धर्म, सस्कृति तथा जातीयता के विषय मे हडप्पा और मोहेजो-दडो के लोग एकसमान थे । 'मोहेंजो-दडो एण्ड दे इडस वैली सिविलाइजेशन' नामक अपनी पुस्तक मे मार्शल महोदय ने इनके धर्म पर विद्वत्तापूर्ण समालोचना की है। वे प्रमाण जिनके आधार पर सिन्धु-सभ्यता के सक्षिप्त इतिहास का सकलन हो सका है केवल छोटी-छोटी वस्तुएँ हैं, जैसे मुद्राएँ, मुद्राछापें, तांबे की लेखाकित पट्टियाँ, मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ आदि। इनके अतिरिक्त दो ऐसे वास्तु जो सम्भवत देवस्थान हो सकते हैं, भी सिन्धु के काठे मे प्रकाश मे आए हैं। ये देवस्थान प्राकार-परिवृत पीठ-मन्दिर प्रतीत होते हैं। इनमें से एक हडप्पा मे और दूसरा मोहेजो-दडो मे है। दोनो सबसे ऊँचे टीलो के शिखरो पर स्थित हैं। इन टीलो के आधुनिक नाम क्रमश टीला 'ए-बी' और 'स्तूप-टीला' हैं। दोनो खडहरो से उत्खात वस्तु-सामग्री के परस्पर सापेक्ष होने के कारण हडप्पा के वर्णन प्रसग मे मुझे स्थान-स्थान पर मोहेंजो-दडो की उपलब्धियो का भी उल्लेख करना पडा है।

मार्शल की सम्मति मे सिन्धु काल का सबसे प्रधान देवता मातृदेवी[1] थी जिसकी असख्य मृण्मय मूर्तियाँ हडप्पा और मोहेजो-दडो की खुदाई से प्राप्त हुई हैं। अधिकाश खे स्थान-मुद्रा मे हैं और कटिवस्त्र के बिना उनका शेष शरीर नग्न है[2]। उनके सिरो पर पखे अथवा तोरण के आकार का ऊँचा शिरोवेष्टन और गले मे कई लडी के हार तथा मालाएँ हैं (फलक १७, क)। उनकी भुजाएँ प्राय शरीर के समानान्तर घुटनो तक लटकती हैं। परन्तु कई मूर्तियाँ भुजाएँ उठाकर हाथो मे शिरोवेष्टन को छू रही हैं मानो अभिवादन कर रही हो (फलक १७, ख)। इस देवी की मूर्तियाँ बलूचिस्तान तथा झोब नदी की घाटी मे भी मिली हैं और उनकी पेंदी भी चिपटी है। झोब की मूर्तियो के सिरो पर टोपी की तरह आवरण (फलक १७, ग) और कुल्ली की मूर्तियो

---

१ मार्शल के विचार मे सिन्धु-देवताओ मे नारी अश प्रधान था। मेरी अपनी धारणा है कि सिन्धु-काल मे नारी अश नही किन्तु पुरुष-अश प्रधान था।

२ यह कटि-वस्त्र 'कौनक' नामक उन कटिवस्त्र से मिलता है जो राजावली-काल के सुमेरियन लोग पहनते थे।

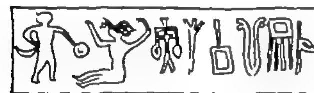

क 1


ख 2


ग 3


घ 4



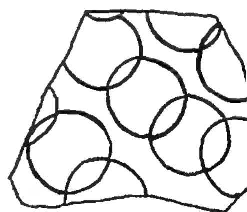

ङ 5


च 6


छ 7


ज 8


झ 9


ञ 10

फलक १७ तथाकथित मातृदेवी की व्यजक मूर्तियां

के गलो मे हार और मालाएँ हैं (फलक १७, घ) जो आकार मे मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० ४२० पर खुदे हुए त्रिमुख शिव के वक्षस्थल पर पहने हुए कवच के समान हैं। इन मूर्तियो के चेहरे घोराकृति, आँखें धँसी हुई और मुख विकराल हैं। मातृदेवी की प्रतिकृतियाँ पश्चिमी एशिया और भूमध्य सागर के पूर्वी तट के पास वाले द्वीपों में सर्वत्र पाई गई हैं। विशेषत इलम, मेसोपोटेमिया, लघु-एशिया, सीरिया और फलिस्तीन के प्रदेशो मे, उसकी पूजा भिन्न-भिन्न रूपो तथा नामो से सिन्धुनद से लेकर नीलनद तक प्रचलित थी। परन्तु इसने कही भी इतना व्यापक तथा सार्वदेशिक रूप धारण नही किया जितना कि भारत मे, जहाँ वह समष्टि-आत्मा (पुरुष) की अर्धांगिणी रूप मे ब्रह्माण्डसत्ता (प्रकृति) की पूर्व-रूप थी। उत्तरकालीन शक्ति-पूजा के मूल मे इसी सिन्धुकालीन मातृदेवी की पूजा थी। मार्शल की सम्मति मे आर्यजाति ने मातृदेवी की उपासना भारत के आदिवासियो से सीखी और इसे अपने धर्म का अग बना लिया। वे लिखते है कि वैदिक काल मे पुरुष-लिंग देवताओ का स्थान प्रधान और स्त्री-लिंग देवताओ का गौण था[1]। इस विचार की पुष्टि मे वह हडप्पा की मुद्रा न० ३०४[2] (फलक १७, ड) के साक्ष्य का प्रमाण देते हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार इस मुद्रा के एक ओर एक नग्न स्त्री शीर्षासन मुद्रा मे पौधे को जन्म दे रही है। दूसरी ओर भूदेवी के उपलक्ष मे नरबलि का दृश्य है जिसमे एक मनुष्य हाथ मे कटार लिये एक असहाय स्त्री का गला काटने को उद्यत है (फलक १७, ड १)। वह इस दृश्य की तुलना भीटा की मुद्राछाप[3] (फलक १७, च) से करते है जिसमे एक देवी टाँगें फैलाए इसी मुद्रा मे बैठी है, परन्तु कमल का पौधा उसके गर्भ मे नही किन्तु गले से निकल रहा है।

हडप्पा की मुद्रा पर दिए हुए दृश्य की व्याख्या के विषय मे मार्शल से मेरा मतभेद है। मेरे विचार मे मुद्रा के दोनो ओर उन भीषण नरक-यातनाओ का चित्रण है जो उस समय के लोगो की धारणा के अनुसार पापी मनुष्य परलोक मे भोगते थे।

---

१ मातृदेवी अथवा भूदेवी की उपासना वैदिक काल मे भी थी। ऋग्वेद-काल से लेकर आर्य इसे सकल सृष्टि की बीज-रूप मौलिक ब्रह्माण्ड सत्ता के रूप मे मानते चले आए हैं। पहले वह द्यौ के सहित पृथ्वी (द्यावापृथ्वी) के रूप मे फिर अदिति के रूप मे और अनन्तर पुरुष के सग प्रकृति के रूप मे प्रकट होती है। उत्तरकालीन आर्य-साहित्य मे वह 'शक्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। दुर्गा, काली, गौरी आदि उसके विविध भावमय रूप हैं।

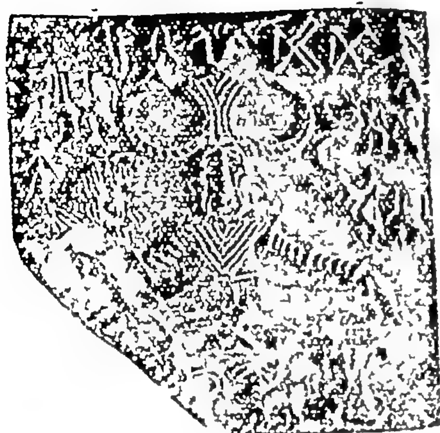
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, फलक ९३।

३ भारत पुरातत्त्व विभाग की सन् १९११-१२ की वार्षिक रिपोर्ट, फलक २३, ४०।

उलटी लटकी हुई स्त्री मातृदेवी नही हो सकती क्योकि उसके गर्भ से जो वस्तु निकलती दिखाई देती है वह पौधा नही है, और न ही इसका कोई कारण दिखाई देता है कि पौधे को जन्म देने के लिए उसे उलटा लटकने की क्या आवश्यता पडी। भीटा की छाप पर देवी आसीन मुद्रा मे सीधी बैठी है, शीर्षासन मुद्रा मे नही। दूसरी बात यह है कि जिसे उन्होंने पौधा समझा है वह वस्तुत विच्छू जैसा कोई विषैला कीट या किसी प्रकार का कटीला यातना-यन्त्र है। मुद्रा के इसी ओर बाएँ किनारे पर दो बाघ पिछली टाँगो पर एक दूसरे के सम्मुख खडे हैं, जो सम्भवत पशु रूप मे यमलोक के दूत अथवा दानव हैं। शायद ये वही व्याघ्र हैं जिन्हे मोहेंजो-दडो की दो मुद्राओ पर गिलगेमेश के समान एक दिव्य वीर गले से पकडकर पछाड रहा है (फलक १९, छ) दूसरी ओर का दृश्य, जिसमे एक मनुष्य हाथ मे कटार लिये एक स्त्री पर आक्रमण कर रहा है, भी परलोक-यातना का ही दृश्य हो सकता है। सम्भव है कि दोनो स्त्री मूर्तियाँ जो मुद्रा के आगे-पीछे बनी हैं एक ही व्यक्ति हो जिसे भिन्न-भिन्न पाप-कर्मो के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की यातना दी जा रही हो।

पुरुष-लिंग देवता—मार्शल के मतानुसार मातृदेवी से उतरकर एक पुरुष-लिंग देवता था जो मोहेजो-दडो की मुद्रा न० ४२० पर योगासन मुद्रा मे विराजमान दिखाई देता है[1] (फलक १८, क)। इस देवता को त्रिमुख कहा गया है। इसके सम्बन्ध मे उनकी यह भी सम्मति है कि कधे से कलाई तक कगणो से लदी हुई उसकी भुजाएँ इस प्रकार तनी हैं कि हाथो के अंगूठे घुटनो को छू रहे हैं। त्रिभुज आकार के हार अथवा उरस्त्राण की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि "यह उरस्त्राण जो देवता धारण कर रहा है उस कवच से सादृश्य रखता है जिसकी शरण शाक्तो ने आसुरी शक्तियो का निवारण करने के लिये ली थी। देवता के शरीर का निचला भाग नग्न है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह ऊर्ध्वमेढ्र है। अथवा हो सकता है कि जिसे हम मेढ्र समझते हैं वह वस्तुत कटिसूत्र का किनारा हो। देवता के सिर पर सीगो वाला ऊँचा मुकुट है। उसके दाएँ और बाएँ दो-दो पशु हैं जिनमे हाथी और बाघ दाईं ओर तथा गेंडा और भैंसा बाईं ओर हैं। उसके आसन के नीचे दो हिरण आमने-सामने खडे मुडकर पीछे की ओर देख रहे हैं। देवता की शरीर-रचना विलक्षण है। उसके तीन मुखो का शायद यह अभिप्राय है कि वह त्रिदेव का प्रतीक है अर्थात् हिन्दू त्रिमूर्ति के समान एक शरीर मे तीन देवताओ का समावेश है अथवा देवता चतुर्मुख है। उसका चौथा मुख सिर के पीछे होने के कारण दृश्य नही है। ऐसी दशा मे वह सम्भवत

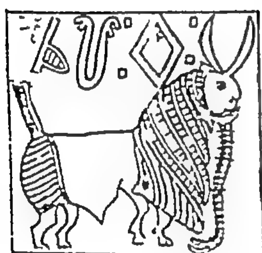
१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो-दडो, ग्रन्थ ३, फलक ९४।



1



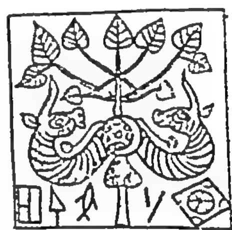
ख 2



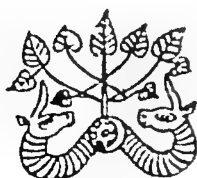
ग 3



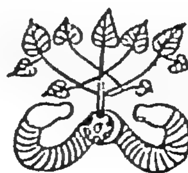
घ 4



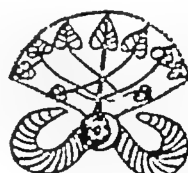
ङ 5



च 6



छ 7



ज 8

फलक १८ महिष-मुंड देवता और उसके व्यंजक अन्य चित्र

चतुर्मुख महेश का पूर्वरूप था। त्रिदेव-कल्पना भारत मे बहुत पुरानी है और मेसोपोटेमिया मे तो यह इससे भी पुरानी है क्योकि वहाँ 'अनु', 'एन-लिल' और 'ई' अथवा 'सिन्', 'शमश' और 'इष्टर' नाम त्रिदेव की भाव-कल्पना अति प्राचीन काल से विदित थी। मोहेजो-दड़ो की मुद्राओ पर जो त्रिशिर पशु बने है (फलक २०, क)[1] शायद उनके मूल मे भी त्रिदेव की ही भाव-कल्पना थी। इस काल्पनिक पशु के तीन सिरो मे एक नीलगाय का, दूसरा एकशृंग का और तीसरा बकरे का है।"

मार्शल पुन लिखते हैं—"शिव सर्वोत्तम योगिराज है, इसीलिये वह महातपा और महायोगी भी कहलाता है। वह अलौकिक तपस्वी और शरीर-शोषक है।

शैवमत के समान योगक्रिया का आविर्भाव भी भारत की आदिवासी अनार्य जातियो मे हुआ शिव केवल योगिराज ही नही किन्तु पशुपति भी हैं, और उसकी इसी स्वाभाविक विलक्षणता के कारण ही इस मुद्रा पर उसे चार पशु घेरे हुए हैं उत्तरकाल मे सिन्धु-सभ्यता के इस त्रिमुख देवता के सिर पर के सीग त्रिशूल के आकार मे बदल गये और इस रूप मे वे शिव का विशेष लक्षण बन गये इसलिये इस मुद्रा पर एक ऐसा देवता बना है जिसकी शरीर-रचना उसे ऐतिहासिक शिव का पूर्वरूप घोषित करने मे हमे बाध्य करती है[2]।"

पूर्वोक्त उद्धरण मुद्रा न० ४२० पर अकित देवता के विषय मे मार्शल की व्याख्या का साराश है परन्तु मुद्रा के सूक्ष्म परीक्षण के अनन्तर इस सम्बन्ध मे मेरा उनसे बहुत मतभेद है। यह देवता न तो त्रिमुख है और न ही मनुष्य-मुख। इसका शरीर जो प्रकटत मानुषी दिखाई देता है वस्तुत कई पशुओ अथवा उनके अवयवो के विलक्षण सयोग से सगठित है। यह मूर्ति भ्रान्ति और प्रतारणा का भव्य उदाहरण है। पशु-मुख के समान लम्बा चेहरा, उभरी हुई तिरछी आँखें, लम्बे कान, आँखो से लेकर थोथनी तक दोनो ओर गहरी झुर्रियाँ, रोमरहित अस्थिमय छोटा-सा सिर—ये सब लक्षण निस्सन्देह इस सत्य के प्रत्यायक है कि सिर पशु का है। और फिर सिर पर कुटिल विशाल सीग जो स्पष्ट रूप से भैसे के हैं इस बात का और भी समर्थन करते हैं कि देवता महिष-मुंड है। पार्श्ववर्ती दो मुखो की भ्रान्ति लम्बे कानो के कारण है जो सरसरी दृष्टि से देखने पर उन्नत नासावश प्रतीत होते हैं। कानो के नीचे दोनो ओर दो पड़ी रेखाएँ ओठो का भ्रम पैदा करती हैं। वस्तुत ये रेखाएँ अग्रेजी लिपि के 'यू' वर्ण के आकार के किसी भूषण अथवा यन्त्र, जिसे देवता ठोडी के नीचे

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दड़ो एण्ड दि इडस सिविलाइजेशन, ग्रन्थ ३, फलक ११२, २-५५।

पहने हुए हैं, के बढे हुए किनारे हैं (फलक १८ क)। देवता के महिष मुड होने का समर्थन उस दृश्य से भी होता है जो मोहेंजो-दडो की एक मुद्रा[1] पर उत्कीर्ण है (फलक २७, ३)। इसमे प्राकार-वेष्ठित देवद्रुम के सामने एक यूप है जिसके शिखर पर सीगवाला महिषमुंड प्रतिष्ठित है। सीगो के मध्य मे शिखण्ड के समान उतरती हुई पीपल की शाखा देवत्व का चिह्न है[2]। यूप के शिखर पर महिषमुण्ड के होने का तात्पर्य यह है कि महिषमुण्ड देवता देवद्रुम का अधिष्ठान्तृ-देवता होने के कारण उसका सरक्षक था। यह देवद्रुम जीवन-तरु माना जाता था। वे भाग्यवान् जो इसकी शाखा को अपने सिर पर धारण करते थे अमर और अजय हो जाते थे। पूर्वोक्त चारदीवारी के बाहर और महिषमुण्ड देवता की सरक्षकता मे एक पुरोहित यज्ञवृषभ पर से फांद रहा है। ध्यानपूर्वक देखने मे प्रतीत होगा कि इस देवता का सीगोवाला मुकुट मुद्रा न० ३८७ पर अकित पीपलवृक्ष की प्रतिकृति है। महिषमुण्ड-देवता के मुकुट मे पखे के आकार का शिखण्ड इसी मुद्रा पर अकित पीपल वृक्ष के छत्राकार आछद का अनुकरण है और भैसे के सीग एकशृग के सिरो का यथातथ अनुकरण हैं। हडप्पा और मोहेंजो-दडो की कई मुद्राओ पर एक देवता दो फांक पीपल के अन्दर खडा दिखाया गया है (फलक १९, क)। और मोहेंजो-दडो मुद्रा न० ३८७ पर इसी वृक्ष की रक्षा दो-एक शृग कर रहे हैं (फलक १८, ड)[3]। इसमे स्पष्ट है कि पीपल और एकशृग अश्वत्थ-देवता के प्रतीक थे। फलत वह देवता जो अश्वत्थ और एक शृग-रूपी दो दिव्य अशो से सगठित मुकुट अपने सिर पर धारण करता था अवश्य ही अश्वत्थ-देवता से निम्न कोटि का देवता था।

मार्शल का विचार है कि देवता की भुजायें कधो से कलाई तक कगनो से लदी है। इसमे सशय नही कि यद्यपि स्थूल दृष्टि मे वे मानुषी भुजायें दिखाई देती हैं,

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो-दडो, ग्र २, फलक १०३, मुद्रा ८।

२ प्राक्-वशावली-काल के सुमेरियन देवताओ के मुकुटो मे वन-वृषभ के सीगो के बीच भी देवद्रुम की मगलमय शाखा है। प्रतीत होता है कि शाखा शिखण्ड की यह विलक्षणता सुमेरियन लोगो ने सिधु-लोगो से ली थी। मेसोपोटेमिया मे यह शाखा-शिखण्ड कुछ समय के लिए अकस्मात प्रकट होता है परन्तु उत्तर-काल मे लुप्त हो जाता है। विपरीत इसके सिधु-सभ्यता मे यह विशेषता इसके दीर्घ-जीवन-काल मे निरवच्छिन्न बनी रहती है और 'देवद्रुम-कथानक' में उसका प्रादुर्भाव इस तथ्य का साक्षी है कि यह कल्पना प्रथम भारत मे उत्पन्न हुई।

३ मार्शल—वही, ग्रन्थ ३, फलक ११२, मुद्रा ३८७।

वस्तुत वे ऐसी नही। ये साक्षात् कनखजूरे हैं जो शरीर के दोनो ओर कधो से लटक रहे हैं। अपने विचार की पुष्टि मे मैं यहाँ हडप्पा की मुद्रा न० २४६[1] (फलक १८, ग) जिन पर नरमुण्ड सकीर्ण पशु उत्कीर्ण है, का उल्लेख करना चाहता हूँ। इस पशु के विषय मे विचित्र बात यह है कि इसकी ठोडी के नीचे हाथी की सूंड की तरह कनखजूरा लटक रहा है। इस प्रकार के विलक्षण योग का तात्पर्य यह था कि सकीर्ण जीव के इस अग मे हाथी के सूंड की प्रहार शक्ति और कनखजूरे की लोक प्रसिद्ध ग्राह-शक्ति का चारु समन्वय किया जाता। यह पशु एक दिव्य दूत था और इसके विषय मे लोगो की साधारण धारणा थी कि यह अलौकिक दैवी-शक्तियो का स्वामी होने के कारण देवद्रुम का बहुत ही उपयुक्त पहरुआ था। मुद्राओ पर खुदी हुई देवमूर्त्तियो का यदि सूक्ष्म दृष्टि मे परीक्षण किया जाए तो पता लगेगा कि इन सबकी भुजायें, जो देखने मे कटीली मालूम होता है, साक्षात् कनखजूरे है। यही कारण है कि बाघो को पछाडने वाले गिलगेमेश के समान वीर पुरुष की भुजायें भी साक्षात् कनखजूरे ही है[2] (फलक १६, छ)।

अब महिषमुण्ड-देवता के शरीर के अधोभाग को ध्यानपूर्वक देखिए। टककार की कला का यह अद्भुत उदाहरण है। इसे देखने से मालूम होता है कि देवता टाँगो को योगासन-मुद्रा मे बाँधकर ध्यान-मग्न बैठा है। परन्तु वस्तुत टाँगो के स्थान दो लिपटे हुए नाग योगासन का भ्रम पैदा कर रहे हैं। इन नागो के सिर तो देवता के कटि-प्रदेश मे एक दूसरे से सटे हुए हैं और पूंछें देवता के पाँवो के अग्रभागो मे समाप्त होती हैं। शरीर के इस भाग का सर्पमय होने का पता लगाना अत्यन्त कठिन है जब तक कि मूर्ति को उलटा करके न देखा जाय (फलक ३३, च)। ऐसा देखने से नागो के सटे हुए सिर देवता की कटि है और उनके द्विगुणित शरीर उसकी टाँगें हैं। कटि-सूत्र से लटकता हुआ डोरा उल्टा देखने से नागो के सिरो के बीच की विभाजक रेखा बन जाती है और डोरे के मुडे हुए गोल सिरे नागो की आँखो का बोध कराते हैं। इस देवता के विचित्र सगठन की दूसरी बात इसकी असम्भव आसन-मुद्रा है। वह पीठ को केवल अपने पावो की अगुलियो से ही छू रहा है, शेष शरीर आकाश मे निराधार स्थित है। इसके अतिरिक्त पावो की मुद्रा भी असम्भव है। पाँव सीधे नीचे की ओर तने हैं और अँगुलियाँ ९०° के कोण पर ऊपर को उठी हैं। यह आसन-मुद्रा स्वभावतः असाध्य है। परन्तु कलाकार ने सम्भवत यह मुद्रा इसलिए बना दी कि दर्शक को देवता मे अलौकिक चमत्कार के सामर्थ्य का बोध कराना था।

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ९१।

२ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ९१।

अधोभाग के सर्पमय होने के समर्थन मे उस मुद्रा का उल्लेख करना आवश्यक है जिस पर इसी प्रकार का एक और देवता बना है[1] (फलक १८, घ)। यहाँ भी देवता का सिर लबोत्तरा पशु समान ही है, और भुजाओ के सिवाय गले के नीचे सारा शरीर ही दो नागो का अपूर्व समवाय है। साँपो के सिर देवता की छाती मे लीन हो जाते हैं परन्तु उनके शरीर देवता की कमर के नीचे दो भागो मे विभक्त होकर टाँगो के आकार मे बदल जाते हैं। साँपो के सिर कन्धो के ऊपर फिर प्रकट होते हैं और ऐसे दिखाई देते हैं मानो देवता की कनखजूरा-भुजायें इनके जबडो मे निकल रही हों। इस मुद्रा पर भी देवता निराधार आसन मे बैठा है। उनके अनुपातविहीन लम्बे पाँव वस्तुत नागो की दुमें हैं।

मार्शल का विचार है कि देवता छाती पर एक त्रिभुज के आकार का उरस्त्राण अथवा कवच पहने हुए है। उनके मतानुसार शाक्तो के तान्त्रिक कवच का जन्म भी इसी से हुआ। परन्तु इसे कवच मानने मे आपत्ति यह है कि इसका देवता के सकीर्ण शरीर से समन्वय करना कठिन है। सादृश्य के आधार पर यह मानना उचित होगा कि देवता का वक्षस्थल यदि अशत बाघ का शरीर नही तो कम से कम व्याघ्राम्बर से आवृत अवश्य है। यह उस बाघ के धारीदार शरीर से बहुत सादृश्य रखता है जो देवता की दाँई ओर उछल रहा है। मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० ३४७[2] (फलक १६, च) पर एक सकीर्ण देवता जिसका शरीर अशत मानुषी और अशत बाघ है, अकित है। इससे पता लगता है कि सिंधुकालीन देवताओ के शरीर मे मनुष्य और बाघ का योग अज्ञात नही था। पुन जब हम देखते हैं कि महिषमुण्ड देवता का बाकी शरीर कई जीवो का सघात है तो यह अनुमान लगाना असगत नही कि उसका मध्य भाग भी किसी ऐसे ही पशु-अग का बना होगा।

शायद उस कुशल कलाकार का, जिसने इस अद्भुत देवमूर्ति को घडा, इसके विचित्र शरीर मे एक और भयकर जीव की कल्पना करना भी उद्देश्य था। यदि हम इस देव-शरीर के ऊपर के भाग को जिसमे सिर, सींग और एक भुजा शामिल है, ध्यान से देखें तो बिच्छू के आकार का आभास भी होने लगता है (फलक ३३, छ) परन्तु यह केवल सम्भावना मात्र ही है।

महिषमुण्ड देवता की एक और विलक्षणता यह है कि उनके पीठ की टाँगें साक्षात् फैंरड़े हैं। मुद्रा न० २२२ पर खुदे हुए इसी देवता के पीठ की टाँगें बैल की

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ६१।

२ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ८७, २२२।

३. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ८६।

टाँगें हैं। यह अच्छी प्रकार ज्ञात है कि मिश्र और मेसोपोटेमिया की प्रागैतिहासिक कब्रो से प्राप्त पलगो और पीठो की टाँगें शेर या बैल की टाँगो के समान थी[1]।

अपनी विचित्र भुजाओ और टाँगो के कारण यह देवता सुमेर और बाबल के देवताओ से बहुत सादृश्य रखता है। मेसोपोटेमिया मे भी देवताओ और दिव्य वीरो की भुजाये और टाँगें पशुओ के आकार की होती थी। उदाहरणत राजावली-काल की शलाका-मुद्रा पर खुदे हुए एक देवता की टाँगे सिंहाकार (फलक १६, ठ) और नररूप एक दूसरे देवता का सिर और भुजाये सिंह की हैं (फलक १६, ड)[2] देवताओ के आयुध भी कभी-कभी भीषण जन्तुओ के आकार के होते थे। इष्टर देवी का खड्ग साक्षात् भुजग था (फलक १६, ८) और एक दूसरे देवता का आयुध विच्छू के आकार का था।

यह बात उल्लेखनीय है कि डा० मेके को मोहेंजो-दडो मे महिषमुण्ड देवता वाली जो चार मुद्रायें मिली उनमे से दो मुद्रायें ऊपर के और दो निचले स्तरो मे पाई गई थी। इससे स्पष्ट है कि सिंधु के काठे मे देवताओ को महिषशृगो मे युक्त चित्रित करना अतिप्राचीन काल से व्यवहार मे आता था। इस विषय मे सिन्धु-सभ्यता का सुमेरियन सभ्यता से भेदभरा अन्तर है। सार्गान-काल से पहले की देवमूर्तियो और दिव्य वीरो के सिरो पर सर्वत्र वन-वृषभ के सीग हैं (फलक १५, छ)। भैंसे के कही भी देखने मे नही आते। वार्ड महोदय के अनुसार नरमुण्ड-वृषभ और गिलगेमेश आदि विचित्र काल्पनिक आकारो की उत्पत्ति मेसोपोटेमिया के जलप्राय दलदलो वाले दक्षिणी प्रान्त मे नही हुई थी किन्तु वनो से आवृत ऊँची अधित्यकाओ मे जो वन वृषभ का स्वाभाविक घर था[3]। स्मरण रहे कि मेसोपोटेमिया मे वन-वृषभ के स्थान भैंसे का चित्रण सार्गान के समय (ईसापूर्व २४वी शती) से हुआ। यही विद्वान् लिखता है कि पुरातत्त्वज्ञो का इस बात मे ऐकमत्य है कि भैंसे का मूलस्थान भारत था, क्योकि नेपाल की तराई, आसाम आदि कई प्रान्तो मे यह पशु अब भी जगली दशा मे पाया जाता है। उनके विचार मे आज से साढे तीन हजार वर्ष पहले १८वी वशावली काल मे यह पशु भारत से मिश्र पहुँचा। इसमे सन्देह नही कि भैंसा आरम्भ से भारतीय पशु है। इसका समर्थन, जैसे कि ऊपर दिखलाया गया है, मोहेंजो-दडो के निचले स्तरो से प्राप्त मुद्राओ से होता है। सम्भवत सार्गान के समय मे अथवा उससे कुछ पहले यह पशु प्रथम बार भारत से मेसोपोटेमिया गया और वहाँ से

१ फ्रेंकफर्ट—सिलिडर सील्स, पृ० ३७।

२ फ्रेंकफर्ट—वही, फलक ११, मुद्रा ३२।

३ वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया, चित्र २०८, पृ० १५४।

स्थलमार्ग द्वारा १८वीं वंशावली काल में मिस्र पहुँचा। मोहेंजो-दडो के ऊपरी स्तरों को सार्गान के समकालीन सिद्ध करने में यह श्रद्धेय प्रमाण है।

मेरे विचार में सिन्धुकालीन महिषमुण्ड देवता अपनी विलक्षणताओं के कारण वैदिक देवता 'रुद्र' के बहुत निकट है। ऋग्वेद में रुद्र को घोर, प्रचण्ड और असुर के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन आता है कि रुद्र सृष्टि के समस्त भयंकर तथा आसुरी तत्त्वों का संघात है[1]। वेदों में रुद्र को जो 'पशुपति' विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि वह पशुओं पर घातक आक्रमण करता है इसलिए सब पशु उसी की संरक्षकता में छोड़ दिए गए हैं[2]। वेदों में यह उल्लेख भी मिलता है कि स्वर्ग में नररूप देवता दिव्य पशुजगत् से परिवृत होते हैं[3]। महिषमुण्ड देवता भी कई पशुओं से परिवृत है। उसके दाईं ओर हाथी और बाघ तथा बाईं ओर गैंडा और भैंसा हैं एवं उनके सिंहासन के नीचे दो हिरण अथवा पहाड़ी बकरे खड़े हैं।

इस विषय में विद्वानों का ऐकमत्य है कि सिंधु-सभ्यता अनार्य लोगों की कृति थी। मार्शल ने महिषमुंड देवता को ऐतिहासिक काल के पशुपति शिव से एकात्म सिद्ध किया है। परन्तु यह निर्विवाद है कि ऐतिहासिक शिव वैदिक काल के रुद्र का ही रूपान्तर है क्योंकि उसके बहुत से लक्षणों और विशेषणों को यह धारण करता है। स्मरण रहे कि सिंधुवासियों और आर्यों में जो परस्पर सम्पर्क हुए वे वैदिक काल में ही हुए होंगे। उत्तरकालीन सम्पर्कों के कोई प्रमाण नहीं हैं, कारण कि १५वीं शती ई० पू० के अनन्तर सिंधु-सभ्यता अशेषतः लुप्त हो गई थी। बहुमत से यही शती आर्यों के सर्वप्रथम पश्चिमोत्तर भारत में प्रवेश करने की तिथि है। स्वभावतः इन दोनों जातियों में पहले-पहल जो विचार विनिमय अथवा सांस्कृतिक रूढ़ियों का आदान-प्रदान हुआ वह इसी शती के आस-पास हुआ होगा। अतः यही निष्कर्ष युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि सिंधुकालीन महिषमुंड देवता बजाय उत्तर-कालीन शिव के पूर्वकालीन वैदिक रुद्र का ही पूर्वरूप था।

परन्तु यह भी सत्य है कि महिषमुंड देवता कई बातों में वैदिक रुद्र से और कई में ऐतिहासिक शिव से सादृश्य रखता है। सादृश्य के बिंदु ये हैं—(१) देवता का संकीर्ण शरीर जो पशुओं का संघात होने पर भी नररूप है, (२) जंगली पशुओं से साहचर्य, और (३) योगासन मुद्रा। इनमें पहले दो लक्षण रुद्र में पाए जाते हैं

१ ऐतरेय ब्राह्मण, ३, ३३।

२ मेक्डानेल—वैदिक माईथालोजी, पृ० ७५।

३ मेक्डानल—वैदिक माईथालोजी, पृ०, १४८।

और अन्त के दो शिव मे। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, रुद्र का शरीर भी भयकर तत्त्वो का सघात था और पशुपति रूप मे वह पशुओ का स्वामी था। ऐतिहासिक शिव यद्यपि भयकर तत्त्वो का सघात नही था तथापि उसका पशुओ से घनिष्ट सम्बन्ध है। अपने घोररूप मे वह महाकाल है, अर्थात् काल का भी काल। समस्त भूत, प्रेत, पिशाच आदि गण उसके आदेश मे हैं। विषधर मृणाल के समान उसके शरीर से लिपटे रहते हैं। वह व्याघ्राम्बर और कृत्तिवासस् है जिसका तात्पर्य यह है कि वह भयकर से भयकर जीव की खाल अनायास ही उधेड कर उसे वसन के रूप मे ओढने के समर्थ है। भारत के कुछ प्रान्तो मे यह कहावत चली आती है कि दिवाली के दिन अर्थात् शीतकाल के आरम्भ मे शिव बिच्छू, साँप, कनखजूरा आदि समस्त विषैले जन्तुओ को समेटकर अपने थैले मे भर लेता है जहाँ वे छ मास तक कैद रहते हैं, और ग्रीष्मकाल के आरम्भ मे शिवरात्रि के दिन पुन उन्हे थैले से बाहर फैंक देता है। ऐसी दन्तकथाओ का जन्म अवश्य भारत के अति प्राचीन सिंधुयुग मे ही हुआ होगा।

यह असम्भव नही कि सिंधुकाल का महिषमुड देवता किसी प्रकार महिषासुर कथानक से सम्बन्ध रखता था। शायद समय के अतिक्रम से वैदिक कालोत्तर आर्यों ने इस अनार्य महिषमुड देवता को देवत्व के उच्चासन से हटाकर असुरो की पक्ति मे बिठा दिया हो। हो सकता है कि कालान्तर मे इसी घटना से महिषासुर कथानक का जन्म हुआ हो, उस समय जब कि सिन्धु-सभ्यता का प्रभाव और इसकी चिरतन सस्थाओ की स्मृति भी कालगर्भ मे लीन हो गई थी।

सिन्धु-सभ्यता का परम देवता—हड़प्पा और मोहेंजो-दडो मे जो असख्य मुद्राएँ और मुद्राछापें मिली उनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुमेरियन लोगो की तरह सिन्धु-निवासी भी अनेक देव देवियो की पूजा करते थे। उनके देवता भी भौतिक जगत् के विविध विभागो और विभूतियों, जैसे अन्तरिक्ष, तूफान, बिजली, पचभूत, पशुपक्षी, वनस्पति आदि का मूर्तस्वरूप थे। जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, मार्शल के मतानुसार मातृदेवी सिन्धु-सभ्यता का परम देवता थी, परन्तु मेरा अपना विचार है कि सिन्धुकालीन देवगण मे नारी-अश नही किन्तु नर-अश प्रधान था। अर्थात् मातृदेवी प्रधान देवता नही थी अपितु अश्वत्थ-निवासी पुल्लिग-देवता इस पूज्य पद का अधिकारी था।

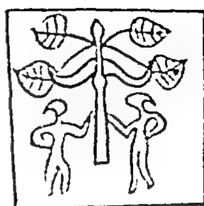
कई सिन्धु-मुद्राओ पर एक देवमूर्ति दो फाँग अश्वत्थ-वृक्ष के अदर खडी दिखाई गई है। यह दो फाँग अश्वत्थ कभी सीधा और कभी तोरणाकार उलटा बना है। सर्वप्रथम मैं यहाँ मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० ४३० का उल्लेख करता हूँ जिस पर यह चित्र स्पष्ट रूप से अकित है (फलक १९, क)। ऊपर के रिक्त स्थान में दाएँ



क 1



ख 2



ग 3



घ 4



ङ 5



च 6



छ 7



ज 8



झ 9



ञ 10



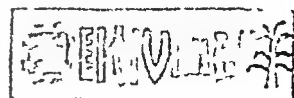
ट 11



ट 12



ड 13



ट 14

फलक १६ सिन्धुयुग का अश्वत्थ-निवासी परम-देवता तथा अन्य देवता

किनारे पर एक पीपल का पेड़ वृत्ताकार आलवाल से उभर रहा है। इसके अंदर देवता बाईं ओर मुँह किए खड़ा है। देवता के सिर पर त्रिशूलाकार शृङ्गमुकुट है जिसके नीचे सिर के पीछे कृत्रिम चोटी लटक रही है। यह चोटी शमीजाति के देवद्रुम की शाखा है जो मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० २३५ पर खुदी हुई योगमुद्रासीन देवमूर्ति के सिर पर स्पष्ट रूप से दिखाई देती है[1]। शरकट के आकार की भुजाएँ देवता के शरीर के समानान्तर लटक रही हैं। वृक्षमूल से गोल चक्कर जिससे पौदा उभर रहा है या तो बीज कोष है या केवल जलकुंड। यह बीजकोष मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ३२३ पर बहुत स्पष्ट है। पत्ते वृक्ष के दो-फांक तने के बाहर की ओर ही दिखाए हैं जिससे पता चलता है कि वृक्ष दो भागों में फट गया है और उसके अन्तर्गत देवता प्रत्यक्ष हो गया है।

देवता के सामने एक देव-पुरोहित अथवा उपदेवता त्रिशूलाकार मुकुट और नकली चोटी पहने अश्वत्थ देवता से प्रार्थना कर रहा है। इसकी आसन मुद्रा उस संरक्षक यक्ष की सी है जो प्रायः व्याघ्र-दानव की घात में शमीजाति के देवद्रुम पर बैठा हुआ पाया जाता है। इसकी शतपदाकार भुजाएं प्रार्थना-मुद्रा में, ऊपर को उठी हैं और उसके बाएँ घुटने के पास एक काष्ठपीठ है जिस पर कुछ बलि रखी हुई है। इस प्रार्थक के पीछे नुकीली नाक और कुटिल सींगों वाला उलूक-मुख बकरा खड़ा है। ऐसा ही पक्षिमुख बकरा मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ६०६ (फलक २८, ग) पर खुदा है। इसका संकीर्ण स्वरूप और अनुपातहीन विशाल शरीर बतलाता है कि वह साधारण यज्ञछाग (बलि का बकरा) नहीं अपितु कोई देवयोनि का पशु अथवा साध्य उपदेवता है जिसका काम पुरोहित अथवा याजक को अश्वत्थ-देवता के समक्ष ले जाना था। समकालीन मेसोपोटेमिया की मुद्राओं पर ऐसे साध्य उपदेवता अकसर पाए जाते हैं।

सात नर-विहग—मुद्रा के निचले भाग में सात मनुष्य बाईं ओर को मुँह किये खड़े हैं। इनमें से प्रत्येक का ऊपर का भाग मनुष्य का परन्तु नीचे का भाग पक्षी का है। इनकी दुमें, पतली टाँगें और पाँव सब पक्षियों जैसे हैं। उनकी भुजाएँ और चोटियाँ साक्षात् कनखजूरे हैं। सिरों पर पीपल अथवा शमी की शाखा के शिखंड हैं। ये किन्नरोपम नर-विहग अश्वत्थाधिष्ठातृ-देवता के अनुचर देवदूत थे जो पक्षियों की तरह वायुमंडल में निर्बाध विचरण कर सकते थे। अपने इस संकीर्ण-रूप में ये सुमेरियन कथानकों के 'जू' अथवा 'एटना' नामक नर-विहगमों से बहुत सादृश्य रखते हैं। मुद्रा के ऊपरी किनारे के साथ-साथ रिक्त-स्थान में दो पंक्ति का चित्राक्षर-मय

१ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ८३।

लेख है और वृक्षमूल के पास एक और चित्राक्षर है जो सम्भवत अश्वत्थ मदिर का प्रतीक है। हड़प्पा की एक खडित मुद्रा[1] पर यही सात सकीर्ण उत्कीर्ण मत्र के सामने पक्तिबद्ध खडे हैं। इनमे सब से आगे खडा मनुष्य चित्राक्षरो की ओर निर्देश कर रहा है (फलक १६, झ)।

सर जान मार्शल, डॉ० मेके और कई विद्वानो का विचार है कि पू देवदूत पूर्णांग नररूप हैं और ऐसे कोट-नुमा वस्त्र पहने हुए हैं जिनका किनारा तिरछा कटा है। मोहेंजो-दडो मुद्रा न० ४३० के वर्णन-प्रसग महोदय लिखते हैं कि "पीपल की शाखाओ मे खडा देवता बहुत छोटा और हुआ है। परन्तु पुल्लिग लक्षणो से हीन होने के कारण और इसलिये कि वृक्ष देवता प्राय स्त्रीलिंग है, और देवदूतो की पक्तिबद्ध सात मूर्तियाँ भी प्रतीत होती हैं, यही मान लेना ठीक है कि पीपल के अदर खडा देवता देव देवी है। पक्तिबद्ध नीचे खडी सात मूर्तियाँ भी मेरे विचार मे प्रधान देवी की अथवा निम्नकोटि की सहायक देवियाँ हैं। उनके सिरो पर पत्र के सम शायद वृक्ष की शाखाएँ हैं जैसा कि देवदार की पूजा के सम्बन्ध मे काफिरिस्ता आज भी ऐसी शाखाओ को अपने सिरो पर पहनते हैं। इस अवसर पर वृ प्रसाद के लिये शाखाएँ भी जलाते हैं[2]।"

इसी प्रसग मे डॉ० मेके लिखते हैं—"इसमें सदेह नहीं कि यद्यपि वृक्ष देवता एक देवी है, उसके सामने प्रार्थना करने वाली मनुष्याकृति भी देवी होती है, क्योकि उसने भी प्रधान देवी के समान ही शिरोवेष्टन पहना है। रिक्त-स्थान मे अकित सात मानुषी मूर्तियाँ भी निम्नकोटि की देवियाँ ही हैं। वे प्रधान देवी की पुत्रियाँ हैं। उनकी सख्या 'सात' रहस्यपूर्ण प्रतीत होती। भारत मे 'सात' की सख्या के साथ कुछ तात्रिक रहस्य छिपा है जैसा कि कई अन्य देशो मे भी पाया जाता है[3]।"

सर विहग कोट नहीं पहने हैं—सिन्धुकालीन देवताओं और दिव्य भुजाएँ साक्षात् कानखजूरे थे, कन्धो मे कलाई तक कगणो से लदी हुई मानु नही थी। सात देवदूतो के सिरो पर लम्बी चोटियाँ न तो पत्र हैं और वृक्ष की शाखाएँ, अपितु साक्षात् कनखजूरे। इन दूनो की भुजाओ और चोटियाँ खजूरे की सोल प्रसिद्ध आकृति होने से मालूम होता है कि ये सन्दर्भ

1 वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ६१, २५१।
2 मार्शल—वही, ग्र० १, पृ० ६४, ६५।
3 मेके—वही, ग्र० १, पृ० ३३८।

थे। पूर्वोक्त दोनो विद्वानो के विचार मे वृक्षाधिष्ठातृ-देवता, याजक और सात देवदूत सभी स्त्रियाँ हैं। परन्तु मेरी गवेषणा से सिद्ध होता है कि वे सब पुरुष हैं। भारत मे वृक्षो के साथ केवल देवियो का ही साहचर्य नही था किन्तु प्राचीन साहित्य मे यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि पुल्लिग देवयोनि के जीवो का भी वनस्पतियो के साथ सम्बन्ध दिखलाया गया है।

मैंने इन मूर्तियो का सूक्ष्मदृष्टि से परीक्षण किया है और मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि ये देवदूत किसी प्रकार के कोट अथवा जैकट नही पहने हैं। उनके मानुषी शरीर कटि के नीचे पक्षी के शरीर का आकार धारण किये हुए हैं जिससे नीचे का किनारा तिरछा दिखाई देता है। उनके सम्बन्ध मे यह कल्पना करनी कि वे कोट या जैकट पहने हैं मिथ्या है, क्योकि सिन्धुकालीन देवताओ के शरीर पर कही भी ऐसा कपड़ा नही देखा गया। पुरुषलिंग देवता या तो नग्न हैं अथवा केवल लगोट-धारी। और देवी की मूर्तियां सुमेरियन स्त्रियो के 'कौनक' कटिवस्त्र के समान एक छोटा सा घाघरा पहने देखी जाती हैं।

सिन्धुकालीन लोग अपने देवताओ को अशत नर-रूप और अशत विहगमरूप कल्पना करते थे। इस तथ्य का एक और भी स्वतन्त्र प्रमाण मिलता है। मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० ३४७[1] (फलक १६, च) पर एक सकीर्ण देवता अकित है। इसका ऊपर का भाग मानुषी, नीचे का विहगाकार और पीठ मुड-हीन बाघ की बनी है। दुम और पजो वाली पतली टाँगें स्पष्टरूप से पक्षी की हैं। इन नर विहगो के सम्बन्ध मे विचित्र बात इनकी सख्या 'सात' है जिससे इन्द्र के अनुचर सात 'मरुत्' देवगण का स्मरण हो उठता है। वेद मे 'मरुत्' उपदेवताओ को पूज्य वेदिका पर बैठे हुए पक्षियो के रूप में वर्णन किया गया है और कहा गया है कि वे अन्तरिक्ष के महावराह रुद्र की सन्तान है[2]। सुमेरियन कथानको के अनुसार तूफान के सात आसुरी पुत्र 'ई' देवता के आयतन समुद्र मे पैदा हुए और वही पले। समुद्रोद्भव ये सात असुर 'अणु' देवता, जो सुमेरियन त्रिदेव मे से एक था, के दूत थे[3]।

अश्वत्थ देवता—पूर्वोक्त मुद्रा न० ४२० और ३८७ (फलक १८, क, ड) के साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि अश्वत्थ और एकशृंग दोनो ही अश्वत्थ निवासी प्रधान देवता के प्रतीक थे। अश्वत्थ देवता का आयतन था और

---

१ मेके—वही, ग्रथ २, फलक ८६, मुद्रा ३४७।

२ मेकडानेल—वैदिक इडेक्स, पृ० ६६।

३ सुमेरियन त्रिदेव मे 'अणु', 'एनलिल' और 'ई' नाम के तीन देवता समाविष्ट थे।

एकशृंग उसके आयतन का संरक्षक था। इस बात का निर्देश भी पहले किया गया है कि मुद्रा नं० ४३० पर अंकित महिषमुंड देवता का मुकुट मुद्रा नं० ३८७ पर प्रदर्शित अश्वत्थ विटप का केवल अनुकरण मात्र है। उनके मुकुट में पत्ते के आकार का शिखंड उसी आकार के अश्वत्थ के पत्रच्छद की प्रतिकृति है और भैंसे के दो सींग एकशृंग के दो सिंगों के अनुरूप है (फलक १८, ख, च, ज)। यह महिषमुंड देवता जिनका मुकुट अश्वत्थ निवासी महादेव के पूर्वोक्त दोनों चिन्हों का समन्वय है निस्सन्देह उससे निम्नकोटि का देवता था। इससे यह स्पष्टरूप से सिद्ध होता है कि अश्वत्थ निवासी देवता निर्विवाद सिन्धुकालीन देवगण में सर्वोच्च स्थान रखता था। अश्वत्थ निवासी इस देवराज के आदेश में निम्नकोटि के अनेक देवता, उपदेवता तथा देवयोनि के प्राणी थे जिनमें कुछ नररूप, कुछ पशुरूप और कुछ संकीर्ण रूप जीव थे।

चन्हुदड़ो की मुद्रा छाप—सिन्धुकालीन लोग परमदेवता के प्रतीक शृंगमय मुकुट को अत्यन्त पूज्य और पवित्र मानते थे। इस तथ्य का समर्थन एक और स्वतन्त्र प्रमाण से भी होता है। डॉ० मेके को चन्हुदड़ो की खुदाई में हड़प्पा संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण पकी मिट्टी की मुद्रा छाप हस्तगत हुई थी[१] (फलक १९, ग)। इस पर दो देव-पुरोहित आमने सामने खड़े एक हाथ से शृंगमय पीपल के अभिप्राय को थामे है जब कि दूसरा हाथ कटि पर रखा हुआ है।

यह 'सींग-और-पीपल' का अभिप्राय मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ३८७ पर अंकित अभिप्राय तथा महिषमुंड देवता के मुकुट से बहुत सादृश्य रखता है। जिस वस्तु को पुजारी थामे हुए हैं वह परमदेवता के प्रतीक उस दिव्य मुकुट का अनुकरण है जिसे निम्नकोटि के देवता परम श्रद्धा से अपने सिरों पर धारण करते थे। डॉ० मेके को न केवल इस अभिप्राय के तात्पर्य का ही पता नहीं लगा किन्तु उन्होंने पीपल की टहनियों के नीचे भैंसे के सींगों को भी नहीं पहचाना।

अश्वत्थ की पवित्रता—भारत में अति प्राचीनकाल से अश्वत्थ परम पवित्र माना जा रहा है। अश्वत्थ, उत्तरभारत में पिप्पल (हिन्दी पीपल), भारत के महाविटपों में से एक है। ऋग्वेद में इसके बने पात्रों का वर्णन आता है और उत्तरकालीन साहित्य में इस वृक्ष का निरन्तर उल्लेख मिलता है। यह खदिर आदि दूसरे वृक्षों में अपनी जड़ जमाकर प्ररोहण करता है और उन्हें नष्ट कर देता है। अतएव इसे 'वैबाध' के विशेषण से भी निर्दिष्ट किया गया है। यज्ञाग्नि प्रदीप्त करने की दो अरणियों में से ऊपर की अरणि अश्वत्थ की लकड़ी की बनाई जाती थी और नीचे की अरणि शमी की होती थी। उनके मीठे फलों को पक्षियों का खाद्य कहा गया

१ मेके—चन्हुदड़ो एक्सकेवेशन्स, प्र० २, फलक ५२, मुद्रा ३६।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि कई सिन्धु-मुद्राओ पर एक उपदेवता अथवा देव-पुरोहित प्रधान देवता के सामने एक दो-फाँक यत्र का उपहार कर रहा है। उसकी आसन मुद्रा ४३० नबर की मुद्रा पर अकित याजक की मुद्रा के समान है जो अश्वत्थ देवता के सामने गिडगिडाकर प्रार्थना कर रहा है। एक और मुद्रा पर उपासक जीवन-तरु 'शमी' को इसी यत्र का उपहार कर रहा है और दूसरी मुद्रा पर योगासनारूढ महिषमुड देवता को (फलक १९, ज ढ)[१]। इस आकार का यत्र दो-फाँक अश्वत्थ-वृक्ष से उद्भूत होने के कारण उस देवद्रुम मे निवास करने वाले परम देवता का प्रतीक था। अत निम्नकोटि के देवता अथवा जीवनतरु शमी को इस यत्र के उपहार करने का तात्पर्य मानो प्रार्थक की यह प्रार्थना थी कि "मैं अमुक नाम वाला परम देवता की कृपादृष्टि प्राप्त करने के लिये आपकी सहायता का प्रार्थी हूँ।"

योगासन में विराजमान देवता—हडप्पा की दो मृण्मय मुद्राछापो पर एक योगासनारूढ देवता अकित है। इनमे से एक मुद्राछाप (न० ३०३)[२] के दोनो ओर भिन्न-भिन्न धार्मिक दृश्य बने हैं। सामने की ओर ऊँचे पीठ पर योगमुद्रासीन एक देवता है (फलक १३, च १)। उसने नकली चोटी तो धारण की है परन्तु सीगो वाला मुकुट सिर पर नही है। उसकी शतपदाकार लबी भुजाएँ घुटनो तक लटक रही हैं। दाईं ओर व्याघ्र-वशीकरण दृश्य है और बाईं ओर एक अहाते के अदर खडा एक पशु मुड कर पीछे को देख रहा है। सम्भवत यह पशु व्याघ्र-दानव है जो पकडा जाने पर इस अहाते मे बद कर दिया गया है। देव पीठ के पास देवता का कृपापात्र हिरण है और अहाते की दीवार पर खडा छोटा पशु सम्भवत दूसरा हिरण है जो नीचे मुँह किये अपने साथी की तरफ देख रहा है। छाप के दूसरी ओर यही देवता जालीदार मदिर के बाहर खडा है (फलक १३, च २)। उसके सामने देवद्रुम के पास बैल बधा है और दाएँ किनारे पर तीन चित्राक्षर भी हैं। दूसरी मुद्राछाप (न० ३१०)[३] तीन पहलू की है। इसके हर पहलू पर एक पौराणिक दृश्य है। पहलू (१) बहुत घिसा हुआ है फिर भी ध्यानपूर्वक देखने से इतना पता अवश्य लगता है कि इस पर योगमुद्रा मे एक देवता पीठ पर विराजमान है और पास ही एक उपासक भी है (फलक १३, ञ १)। पहलू (२) (फलक १३, ञ २) पर एक मनुष्य बैल से द्वन्द्वयुद्ध कर रहा है, और तीसरे पहलू (फलक १३, ञ ३) पर सीगो वाला एक देवता है जिसकी शतपदाकार भुजाएँ घुटनो तक लटक रही हैं।

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक १०३,९।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ९३।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ९३।

सिन्धु-मुद्राओं पर प्रदर्शित उपदेवताओं में नर पशुरूप उस संकीर्ण देवता का वर्णन करना आवश्यक है जो मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ३४७ पर खुदा है (फलक १६, च)[1]। कटि के ऊपर यह मनुष्याकार है परन्तु भुजाओं के स्थान कनखजूरे लटक रहे हैं। उसकी पीठ मुंडहीन बाघ का शरीर है तथा कटि प्रदेश और टाँगें पक्षी की हैं। कृत्रिम चोटी से अलंकृत सिर पर बकरे के कुटिल सींगों के बीच देवद्रुम की टहनी ऊपर को उभर रही है। ऊपर के किनारे के पास चार चित्राक्षर हैं। हड़प्पा की ३१८ और ३१६ नंबर की मुद्राछापों में से हर एक के एक ओर शतपदमयी भुजाओं वाला शृंगयुक्त देवता और दूसरी ओर सब लेख है।

आकार भेद से सिन्धु-काल के देवता दो प्रकार के हैं, अर्थात् मनुष्यरूप या नरपशुरूप। पशुरूप में उनमें ऐसे उत्तम जाति के पशुओं का मिश्रण है जो अपने विलक्षण गुणों के कारण लोक में प्रसिद्ध हैं। इस विषय में वे सुमेर के उन प्राचीन देवताओं के बहुत सदृश हैं जो आरम्भ में पशुओं अथवा संकीर्ण जन्तुओं के आकार के थे।

देव और दानव—सुमेरियन शलाका-मुद्राओं के समान सिन्धुमुद्राओं पर भी देव दानव युद्ध का आभास मिलता है। पशुओं अथवा संकीर्ण विचित्र जन्तुओं के रूप में दानव देवताओं पर घातक आक्रमण करते थे। सुमेर में वृष-दानव, सिंह-दानव और सर्पाणरूप दानव थे[2]। उकाब की तरह उनके पर होते थे (फलक १३ ट), हिरण के समान द्रुतगति, और साँप के समान धूर्त और सजग थे। दृढ़ता से पकड़ने के लिये उनके आहनी पंजे थे, क्षत विक्षत करने के लिये सींग और शत्रुओं पर घातक प्रहार करने के लिये सिंह के समान बलिष्ठ भुजाएँ थीं। सिन्धुकाल के संकीर्ण पशु में इन सब विलक्षणताओं का एकाधार में समावेश है। यद्यपि यह संकीर्ण पशु दानव नहीं किन्तु देवयोनि का काल्पनिक जीव है। मेसोपोटेमिया में देवताओं के आयुध भी कभी-कभी हिंस्र जन्तुओं के आकार के होते थे। इश्टर-देवी का खड्ग भुजंग के आकार का (फलक १६, ट) था और एक अन्य देवता का आयुध बिच्छू के आकार का था[3]।

लिंग और लिंग पीठ—हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के खंडहरों में पत्थर, मिट्टी, फियान्स, शंख, हाथीदांत आदि विविध द्रव्यों के बने हुए छोटे-बड़े अनन्त नोकदार शंकु और मंडल मिले थे। मंडल आधे इंच से लेकर चार फुट तक व्यास के हैं (फलक

१ मैके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, भा० २, फलक ८६।

२ मैकेंजी के विचार में सूअर, बकरा, घोड़ा, श्येन, सिंह आदि के शरीरों में दानव प्रवेश कर सकते थे।

३ वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया, चित्र २०८।

१७, झ और फलक ३६, थ)। बड़े आकार के शकु चिपटी गोल पैंदी के और सादे हैं[1]। परन्तु छोटे आकार के शकुओ मे बहुत से चित्रित, कई एक पहलूदार और बहुतो के तलो मे छेद हैं। मार्शल की सम्मति मे इनमे से बहुत से धार्मिक अभिप्राय के थे और सम्भवत लिंग और पीठ के रूप मे पूजे जाते थे। उनके विचार मे पत्थर के महाकाय मडल सम्भवत भूत-प्रेत आदि आसुरी शक्तियो से बचने के लिये एक प्रकार के यत्र थे। इस प्रकार की वस्तुएँ 'बीटिल' अर्थात् सौभाग्य और समृद्धि लाने वाले यत्र थे। हड़प्पा की खुदाई मे छ सौ से अधिक क्षुद्राकार लिंगो का एक समुदाय मिला था। ये दोरगी पट्टियो से चित्रित थे और हर एक की पैंदी मे एक छेद था। इनका समान आकार, नाप (१ इच ऊँचाई) और पैंदियो मे रगीन पट्टियो का होना इस बात का सकेत है कि वे अवश्य ही अलकरण की वस्तुएँ थी। पिछली शती के मध्य मे लाफटस को वार्का मे इसी प्रकार के शकुओ का एक बडा समुदाय मिला था। ये शकु प्राक्-राजावली काल की एक दीवार मे सजावट के लिये लगाए हुए थे। मालूम होता है कि सिन्धु-प्रान्त मे भी अधिकाश शकु जिनकी पैंदियो मे छेद हैं आरम्भ में रगीन थे और सम्भवत सजावट के काम मे ही आते थे तथापि यह निर्विवाद है कि सिन्धु-सभ्यता के लोगो को लिंग-पूजा का ज्ञान अवश्य था, क्योकि पत्थर के अडाकार बडे लिंग जो हड़प्पा और मोहेजो-दडो मे मिले निस्सन्देह पूजा मे व्यवहृत होते थे। परन्तु यह लिखना आवश्यक है कि बडे आकार के लिंग और मडल जो खुदाई मे मिले, न तो परस्पर सयुक्त थे और न ही किसी देवालय अथवा धर्मस्थान मे प्रतिष्ठित थे।

दिव्य वीर और उनकी पूजा—कई एक सिन्धु-मुद्राओं पर नररूप मूर्तियाँ, व्याघ्र, बैल, महिष आदि वास्तविक अथवा काल्पनिक पशुओ से द्वन्द्वयुद्ध मे प्रवृत्त दिखलाई गई हैं। इन अलौकिक बलशाली दिव्य वीरो का सादृश्य प्राक्-राजावली काल के सुमेरियन दिव्य वीरो से है। मोहेंजो-दडो से उपलब्ध दो मुद्राओं[2] पर एक पराक्रमी वीर दो व्याघ्रो के बीच खडा शतपदाकार अपनी भुजाओ से उनका गला घोटकर उन्हे पछाड रहा है। हडप्पा की मुद्रा-छाप न० ३०८[3] के एक ओर ऊपर के रिक्त स्थान में यही वीर उसी प्रकार व्याघ्रो को पछाड रहा है, परन्तु नीचे एक हाथी की मूर्ति है। छाप के दूसरी ओर शमी वृक्ष पर बैठे हुए उप-देवता के द्वारा व्याघ्रदमन

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ११७, ४, ५।

२ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेजो-दडो, ग्र० २, फलक ८४,८५।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ९३।

का दृश्य है (फलक १२, छ)। मोहँजो-दड़ो की मुद्रा न० ३८७[1] (फलक १३, क) पर नर-वृषभ सीगोंवाले बाघ पर, जिसने देवद्रुम की शाखा चुराने का साहस किया है, विकट रूप से झपट रहा है। इसके शरीर का ऊपर का आधा भाग मनुष्य का और नीचे का आधा भाग बैल का है। इस नर-वृषभ के पीछे शमी जाति का देवद्रुम है। मुद्राछाप न० ३६६[2] पर भी यह नर-वृषभ विजय मुद्रा में एक भुजा ऊपर को उठाए खड़ा है (फलक १३ झ)। हड़प्पा से उत्खात तीन पहलू की एक मुद्राछाप[3] के प्रत्येक पहलू पर जो नररूप मूर्ति बनी है वह भी सिन्धु-सभ्यता के किसी दिव्य वीर की प्रतीत होती है। इनमे से दो मूर्तियाँ जो कंधों पर कोई शस्त्र या उपकरण उठाए हुए हैं पुरुष दिखाई देते हैं, परन्तु तीसरी मूर्ति शरीर की रूपरेखा से स्त्री दिखाई देती है। इन तीनों मूर्तियों की टाँगें बैल की टाँगों के समान हैं।

गिलगेमेश कथानक—ठीक इसी प्रकार के दो वीर पुरुष जो गिलगेमेश और 'ईश्वनी' अथवा 'एन-किदु' के नामों से प्रसिद्ध थे, सुमेरियन कथानकों में बहुधा वर्णित हैं। एक कथानक इन दिव्य वीरों के पराक्रम की रोमहर्षण घटनाओं का वर्णन करता है। गिलगेमेश जलप्लावन के पूर्वकालीन सुमेर के उन अमानुषी राजाओं में से एक था जिनके सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि उनमें से हर एक ने कई हजार वर्ष राज्य किया। वह सुमेरियन लोगों का जातीय महापुरुष था जिसके अलौकिक पराक्रम तथा सामर्थ्य में सब विश्वास करते थे। वह सिंह, वृषभ, महिष आदि वन्य पशुओं से द्वन्द्व-युद्ध करके उन्हें अपने वश में कर लेता था। इस प्रकार के पराक्रम के कामों में उसकी सहायता के लिये देवताओं ने नर-वृषभ 'एन-किदु'[4] की सृष्टि की जो गिलगे-

---

१ मार्शल—मोहँजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वैली सिविलाइजेशन, ग्र० ३, फलक ११२।

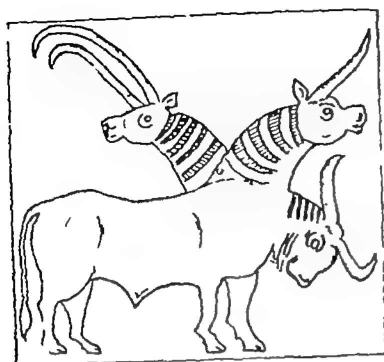
२ मार्शल—मोहँजो-दड़ो एण्ड दि इंडस वैली सिविलाइजेशन ग्र० ३, फलक १११।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २, फलक ९३, मुद्रा ३०५।

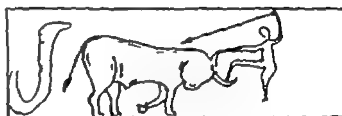
४ सुमेरियन मुद्राओं पर प्रदर्शित नर-वृषभ प्रायः गोजाति के पशुओं का रक्षक दिखाया गया है। सुमेरियन कथानकों में इस विचित्र वीर के केश स्त्रियों के केशों की तरह लम्बे पीठ पर लटकते हुए वर्णन किये गये हैं।

फ्रैंकफर्ट—सिलिंडर सील्स, फलक १२, ग ४।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि मोहँजो-दड़ो की मुद्रा न० ३५५ (फलक १२, क) का नर-वृषभ कटि से ऊपर मनुष्य और नीचे बैल है। सुमेरियन नर-वृषभ के समान न केवल इसके लम्बे केश ही पीठ पर लटक रहे हैं, किन्तु इसके स्तन भी स्त्रियों की तरह उभरे हुए दिखलाए गये हैं।


क


ख

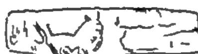

ग

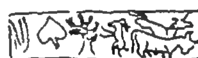

घ

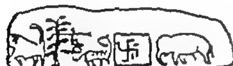

ङ


च

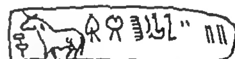

१


२
छ

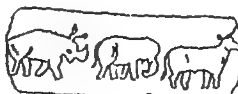

३

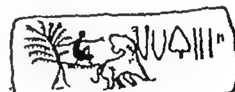

१


२
ज


३


१


२ झ


३

मेश का अनन्य-हृदय मित्र और छाया-समान सहचर बन गया। गिलगेमेश ने जब इश्टर देवी की प्रेम-पिपासा को ठुकरा दिया तो देवी ने क्रोधावेश में आकर गिलगेमेश के विनाश के लिये महाबलशाली एक दिव्य वृषभ की सृष्टि की जिसे गिलगेमेश और उसके सहचर एन-किडु ने मिलकर मार गिराया। इस अपमान से क्रुद्ध होकर देवी ने शाप के द्वारा एन-किडु को नष्ट कर दिया। गिलगेमेश ने अपने मित्र की मृत्यु पर विचार किया और अमृत तथा संजीवनी की खोज में अधोलोक की यात्रा के लिये प्रस्थान किया जिससे कि वह अपने मित्र को जिला सके और शाश्वत यौवन प्राप्त कर सके। इस यात्रा में गिलगेमेश सुमेरियन जलप्लावन कथानक के नायक पिरनपिष्टिम (बेबीलोनिय काल का 'नूह') से मिला और संजीवनी प्राप्त करने में उससे सहायता ली। इसे प्राप्त करके जब वह मृत्युलोक को लौट रहा था तो रास्ते में सर्प-वेश में भूमि-सिंह ने इसे चुरा लिया।

यह है गिलगेमेश कथानक का संक्षिप्त विवरण जो सुमेरियन काल के लेखों में मिलता है। सुमेरियन शलाका-मुद्राओं पर गिलगेमेश और एनकिडु बहुधा इकट्ठे चित्रित हैं। परन्तु सिन्धु-मुद्राओं पर उनके अनुरूप वीर पुरुष एक बार भी इकट्ठे नहीं पाए गये। यह कहना कठिन है कि सुमेरियन कथानकों के पूर्वोक्त वीर पुरुष सिन्धु-काल के तत्समान वीर पुरुषों से कहाँ तक और किस प्रकार सम्बद्ध हैं। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि दोनों देशों के इन कथानकों में अवश्य मौलिक सम्बन्ध था। इस समय यह जानने का कोई साधन नहीं है कि ये दोनों कथानक पितृस्थानीय किसी प्राचीनतर कथानक से प्रादुर्भूत हुए थे अथवा इनमें से एक कथानक दूसरे की उत्पत्ति का कारण बना। सुमेरियन कथानक प्राक्-राजावली काल का होने से बहुत प्राचीन है और इसी प्रकार सिन्धुकालीन भी बहुत प्राचीन है। सिन्धु मुद्राओं में से कतिपय ही ऐसी हैं जिन पर इन वीर पुरुषों का कथानक अंकित है। फिर भी पूर्वोक्त मुद्राएँ यह सिद्ध करने में पर्याप्त प्रमाण हैं कि प्रागैतिहासिक काल में भारत में भी ऐसा कथानक था जो गिलगेमेश कथानक से निकट सादृश्य रखता था।

वृक्ष पूजा—सिन्धु काल से ऐसी मुद्राएँ बहुत मिली हैं जिन पर पीपल अथवा इसी जाति का एक वृक्ष प्रधान रूप से अंकित है। जैसे कि ऊपर सिद्ध किया गया है, पीपल सिन्धु निवासियों के सर्वोत्कृष्ट देवता का आवास होने के कारण अतिपवित्र और पूज्य बन गया था। इसी कारण निम्न कोटि के सभी देवता इसकी शाखा को देवद्रुम का प्रतीक समझकर किरीट रूप से अपने सिरों पर धारण करते थे। यह भी पहले दिखाया गया है कि सहकार होने के कारण अश्वत्थ ज्ञानवान और बुद्धिमान भी समझा जाता था। सिन्धु निवासियों का दृढ़ विश्वास था कि ये मनुष्य अथवा देवता

जो इसके शाखा-शिखड को अपने सिर पर धारण करते थे यथार्थ ज्ञान के अधिकारी बन जाते थे, परन्तु यह अधिकार केवल देवताओ तथा देवयोनि के जीवो का ही था जो मनुष्य के भाग्यविधाता थे[1]। अश्वत्थ का समकोटि ही शमी जाति का एक वृक्ष विशेष था जिसे लोग जीवन-तरु अथवा अमृत विटप समझते थे। चित्रो मे दिए हुए आकार से यह वृक्ष कटीला दीखता है, परन्तु भारत के वृक्षो मे से किसी वृक्ष विशेष से इसकी एकात्मता सिद्ध करना कठिन है। सम्भावना यह है कि यह वृक्ष शमी, बबूल, नीम, बेल और खदिर इन पाँच वृक्षो मे से एक हो सकता है। इनमे शमी और बबूल चित्रगत वृक्ष के बहुत समान प्रतीत होते हैं। विविध मुद्राओ से प्राप्य साक्ष्य को यदि हम एक सूत्र मे पिरो दें तो सुमेरियन कथानक के समान सिन्धु कालीन देवद्रुम-कथानक का स्वरूप भी स्पष्टतया प्रकट होने लगता है[2]। इन मुद्राओ पर दिए हुए दृश्यो से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इस जीवन तरु अथवा इसकी शाखा को हस्तगत करने के लिये देवताओ और दानवो मे अविराम सघर्ष चल रहा था। मनुष्य अथवा पशु के रूप मे दानव सदा इस घात मे लगे रहते थे कि इस दिव्य तरु की शाखा को किस प्रकार प्राप्त करें। परन्तु यह देवद्रुम एक नररूप यक्ष के द्वारा सुरक्षित था जो व्याघ्र-दानव के दमन के लिए वृक्ष पर हरदम सचेत बैठा रहता था। यक्ष के अतिरिक्त इस तरु के और भी कतिपय सरक्षक थे। इन सब मे प्रधान एक नरमुंड सकीर्ण पशु था (फलक १८, ग) जिसका सिर तो

---

१ वैदिक काल से लेकर आज तक भारत मे निम्नलिखित वृक्ष पवित्र एव पूज्य माने जाते हैं—

पीपल (अश्वत्थ), बड (न्यग्रोध), शमी, उदुम्बर, विल्व, खदिर, तुलसी, नीम (निम्ब), बबूल, कुशा और कमल।

इनमे उदुम्बर यूप और स्रुव बनाने के लिये, न्यग्रोध चमस (यज्ञपात्र) बनाने के लिये, खदिर स्रुव और यन्त्र बनाने के काम मे आते थे। विल्व का महत्त्व इस लिये था कि इसकी लकडी के यूप बनते थे और फल खाए जाते थे।

२ अथर्ववेद मे शमी के सम्बन्ध मे वर्णन मिलता है कि यह वृक्ष चौडे पत्तो वाला, रोमनाशक एव मादक है। परन्तु उन दो वृक्षो मे से जो आजकल 'शमी' के वाचक समझे जाते हैं पूर्वोक्त गुणो का अभाव है। इनमे से एक जड है जो हडप्पा और मोहेंजो-दडो के समीपवर्ती जगलो मे बहुत पाया जाता है। इसी सहिता मे यह भी वर्णित है कि शमी की कोमल लकडी से नीचे की अरणियाँ बनाई जाती थी और ऊपर की अरणियाँ अश्वत्थ की कठिन लकडी की होती थी। धन्वन्तरीय निघटु मे लिखा है कि शमी और इसके फल रोमनाशक होते हैं। परन्तु जड मे वैदिक काल के

जीवनतरु की रक्षा कर रहा है, जब कि महिषमुंड देवता के कृपापात्र दो हिरणो मे से एक पिछली टाँगो के बल खडे होकर आनन्द से इसके पत्तो को चर रहा है (फलक २०, छ ३)। मोहेजो-दडो से प्राप्त मिट्टी की मुद्राछाप न० ६ ए-बी (फलक १८, ढ)[1] के एक माथे पर उपासक हाथ मे अश्वत्थ-देवता के प्रतीक दो फांक यत्र को लेकर जीवनतरु की पूजा कर रहा है, और दूसरे माथे पर एक फणिहर अथवा नागदेवता वृक्ष की रक्षा कर रहा है (फलक २०, ड)। इसी स्थान मे उपलब्ध मुद्रा न० ८ (फलक २०, ख)[2] पर दीवार मे घिरा हुआ एक विशाल शमीवृक्ष (जीवनतरु) है। अहाते के द्वार पर गडे हुए यूप के शिखर पर महिषमुंड देवता का सिर है। द्वार के सामने तरु महोत्सव के अवसर पर देव-पुरोहित छलाग लगाकर यज्ञवृषभ को फाद रहा है।

व्याघ्र-दानव और जीवनतरु—कई सिन्धु-मुद्राओ पर एक असाधारण दृश्य बना है, जिसमे व्याघ्र-दानव[3] जीवनतरु की शाखा चुराने में यत्नशील दिखाई देता है (फलक २०, घ, च)। वह इस वृक्ष के नीचे खडा ऊपर बैठे हुए सरक्षक यक्ष की ओर मुडकर देख रहा है। यक्ष भी एक हाथ से वृक्ष की शाखा को थामे और दूसरे हाथ को सम्मोहन-मुद्रा मे फैलाए व्याघ्र को मत्र-मुग्ध और निष्क्रिय बनाने मे प्रवृत्त दिखाई देता है। साथ ही साथ पाद-प्रहार से वृक्ष की कँटीली शाखा को व्याघ्र के शरीर मे चुभो कर वह उसे यातना भी दे रहा है। एक दो मुद्राओ पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो व्याघ्र को दड देने के लिये शाखा के नीचे नुकीली काल भी बधी हो। सरक्षक यक्ष विचित्र आसन-मुद्रा मे बैठा है। उसका एक घुटना शाखा पर टिका है और दूसरा ऊपर को उठा है जैसे कोई वीरासन मे बैठा हो। मत्रमुग्ध व्याघ्र वृक्ष के नीचे निश्चेष्ट खडा इति-कर्तव्यताविमूढ-सा होकर गर्दन घुमाकर यक्ष की ओर ताक रहा है। जब जब व्याघ्र-दानव शाखापहरण के लिये प्रकट होता है वृक्षस्थ यक्ष उसकी सब दुष्ट योजनाओ पर पानी फेर देता है।

व्याघ्र-दानव और यक्ष का दृश्य बहुत सी मुद्राओ पर पाया जाता है। कई पर अकेला और कई पर अन्य घटनाओ के साथ। ये घटनाएँ निस्सन्देह देवद्रुम-कथानक का ही अश थी। अकेले दृश्यो वाली मुद्राएँ केवल तीन हैं, जैसे मोहेजो-दडो की

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रथ २, फलक १०१।

२ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रथ २, फलक १०३।

३ ऋग्वेद मे उल्लेख है कि दानव कुत्तो, गीधो, उल्लुओ तथा अन्य पशुओ का रूप धारण कर लेते हैं।

(मेकेंजी—मिथ्स ऑफ बेबीलन एण्ड असीरिया, पृ० ७१)

लेख है (फलक २०, क्र ३) और दूसरे माथे पर गैंडा, हाथी तथा एकशृंग एक दूसरे के पीछे बाएँ से दाएँ को चलते दिखाए गये है (फलक २०, क्र २)। सम्भवत ये पशु पहले माथे पर बने हुए देवद्रुम के अभिवादन के लिये प्रस्थान कर रहे है, ठीक उसी प्रकार जैसे पूर्वोक्त मुद्राछाप पर हाथी जीवनतरु और स्वस्तिक का अभिवादन कर रहा है। तीसरे माथे पर एक विशाल शमीवृक्ष है जिसके पत्तो को पिछली टागो के बल खडे होकर महिषमुंड देवता के कृपापात्र दो हिरण आनन्द से चर रहे हैं, और इस दृश्य के दाई ओर भमिस्थ एक मनुष्य हाथ मे सलाख या डडा लिये किसी काम मे व्यस्त दिखाई देता है और पास खडी हुई एक स्त्री उसकी ओर झुककर काम मे सहायता कर रही है (फलक २०, क्र १)। सम्भव है कि यह मनुष्य जीवन-तरु का सरक्षक यक्ष हो जो व्याघ्र दानव को यातना देने के लिये मचान बना रहा हो। यह बात वर्णनीय है कि छाप के दूसरे माथे पर प्रदर्शित पशुपक्ति मे एकशृंग सबके आगे चल रहा है जिससे सिद्ध होता है कि यह सर्वश्रेष्ठ चतुष्पाद एक काल्पनिक दिव्य पशु था न कि 'एक चश्म' मुद्रा मे खडा एक साधारण बैल जैसा कि कई विद्वानो का विचार है।

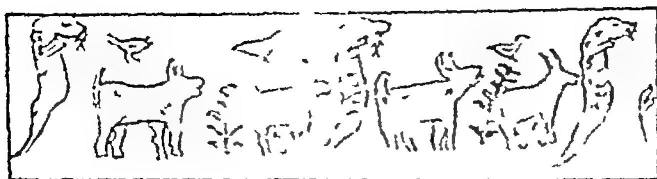
मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० २३ (फलक २१, ज)[1] के सामने माथे पर बने हुए दृश्य मे बाएँ से दाएँ को चित्र इस प्रकार खुदे हैं—पहले माथे पर अमृत घट,[2] उसके साथ जीवनतरु पर आरूढ यक्ष के द्वारा व्याघ्र-दानव का दमन और मध्य मे शतपदाकार भुजाओ वाले एक देवता के द्वारा व्याघ्रमुख दो दानवो का घर्षण। दानवो के हाथो मे दोफाक देवद्रुम का आधा आधा भाग है। देवता उनके मध्य मे खडा है और अपनी शतपदमयी भुजाओ को फैलाकर देवद्रुम को उखाडने के अपराध मे दानवो को गले से पकडकर पछाडने का प्रयत्न कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्याघ्रमुख दानव देवद्रुम को उखाड कर जैसे ही ले जाने को उद्यत हुए वृक्ष फट गया और तदधिष्ठातृ-देवता उन्हे इस अपराध का दड देने के लिये अचानक प्रकट हो पडा[3]।

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ९० ।

२ मेकेंजी महोदय लिखते हैं कि मनुष्यो की तरह देवताओ को भी अन्न और जल की आवश्यकता है। वे इसलिये अमर हैं कि उन्होने अमृत का पान एव जीवनतरु के फल का आस्वादन किया है।

३. सिन्धुकालीन देवताओ, उपदेवताओ तथा दिव्य वीरो की भुजाएँ साक्षात् शतपद हैं। शतपद के कुडलो की ग्राहशक्ति लोकप्रसिद्ध है। उत्खाताओ ने इन्हें साधारण मानुषी भुजाएँ समझा है और इनके कँटीले स्वरूप का मडन करने के लिये लिखा है कि वे कधे से कलाई तक कगणो से लदी हैं।



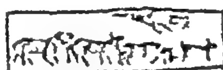
क



ख



१



२



३

ग



१

घ



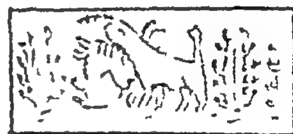
२



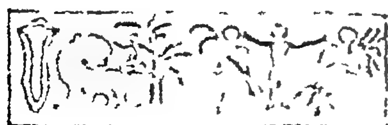
ङ



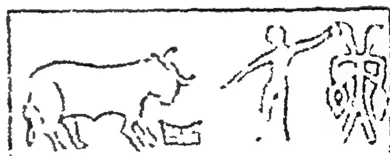
च



छ



ज



झ

फलक २१ देवद्रुम-कथानक के प्रमुख चित्र

सिन्धुमुद्राओ पर देवद्रुम-कथानक के साथ ओतप्रोत अन्य कई घटनाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। मुद्रा न० ३७६ पर जतुओ का विचित्र मिश्रण है (फलक २१, छ)। मध्य मे सकीर्ण पशु विषधर-मयी अपनी पूंछ को ऊँचे उठाकर खडा है। उसके सामने एक निर्जीव व्याघ्र पडा है। उसके दोनो ओर बिना पूंछ के दो बिच्छू हैं[1]। चित्र बहुत अस्पष्ट है इसलिये इसमे समाविष्ट घटनाओ की विशेष व्याख्या करना कठिन है। परन्तु इसमे सदेह नही कि चित्रगत घटना की पृष्ठभूमि मे जीवनतरु है जिसकी धुधली शाखाएँ सकीर्ण पशु के समक्ष अब भी दिखाई देती है। पहले हम देख चुके हैं कि यह विचित्र जीव जीवनतरु का पहरुआ है। यदि इसके सामने पडा हुआ निर्जीव व्याघ्र वही व्याघ्र-दानव है जो जीवनतरु की शाखा चुराने के लिये बार-बार इसके पास आता था तो यह उचित ही था कि अहर्निश जागरूक पहरुए के हाथ से उसे अपने पापो के लिये प्राण-दण्ड मिलता। इस प्रसग मे बिच्छू या तो सकीर्ण पशु के सहायक थे, अथवा यदि वे अपराधी के साथी थे तो शायद व्याघ्र की तरह उन्हे भी पहरुए के हाथ से यह दण्ड ही मिला हो कि उनकी विषैली दुमे काट दी गई हो जिससे भविष्य मे वे अपने दश रूपी शस्त्र से वचित हो जाएँ और किसी को कष्ट न पहुँचा सकें[2]।

एक और मुद्रा जो स्वभावत जीवनतरु-कथानक से सम्बद्ध प्रतीत होती है न० ४८८ (फलक २१, क)[3] है। इस पर पशुओ के बीच लवे पत्तो वाले दो वृक्ष और तीन पक्षिमुख मगर हैं जो अपनी चोचो मे एक-एक मछली पकडे हुए हैं। ऊपर के रिक्त स्थान मे तीन पक्षी उड रहे हैं। उनमे से एक पक्षी चोच खोले चिल्लाता सा प्रतीत होता है मानो किसी आगन्तुक भय से सचेत कर रहा हो। पशु-पक्षियो का यह समारोह बाएँ से दाएँ को अग्रसर हो रहा है। चित्र मे दिये हुए दो वृक्ष शमी-जाति के नही दीखते और दो पशुओ के यथार्थ स्वरूप का पता लगाना भी कठिन है। इनमे से एक के सीग पीछे की ओर और दूसरे के आगे की ओर मुडे हैं। हो सकता

---

१ मेसोपोटेमिया मे डॉ० मेके ने टीला 'किश' के कब्रिस्तान 'ए' मे बिच्छू के चित्रोवाली मुद्राएँ पाई थी। इनमे शख की बनी हुई मुद्रा न० १ (फलक २०, च) पर पहाडी बकरे के समान लवे सीगो वाले पशु और बिच्छू बने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बकरो और बिच्छुओ मे लडाई हो रही है। एक बिच्छू उछल कर बकरे को डसता हुआ दिखाई देता है।

मेके—ए सुमेरियन पेलेस, एड दि 'ए' सिमेट्री एट किश, भाग २।

२ सम्भव है कि बिच्छुओ की दुमे स्थानाभाव से चित्र मे न आ सकी हो।

३ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ९६।

सिन्धु घाटी से उत्खात अनेक मुद्राओ तथा मुद्राछापो पर चित्राक्षरो से युक्त अथवा उनके बिना शमी जाति का देवद्रुम भी प्रदर्शित है। इनमे से कई एक पर यह द्रुम वेदिका से घिरा है। सब से स्पष्ट और सुदर वेदिका परिवृत देवद्रुम हड़प्पा की मुद्राछाप न० ३२५ (फलक २१, ख)[1] पर है। एक और छाप पर यही वृक्ष एक चौतरे पर मे उभर रहा है (फलक २१, ङ)[2]। वृक्षपूजा की प्रथा भारत मे अति प्राचीन है। ऐतिहासिक काल मे इस प्रथा का अस्तित्व इस बात का समर्थक है कि वृक्षो मे देवभावना प्रागैतिहासिक काल की क्रमागत परम्परा है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय आर्यो ने सिन्धुकाल की धार्मिक और सामाजिक प्रथाओ मे कुछ परिवर्तन करके उन्हे अपने जीवन मे ओतप्रोत कर लिया। वृक्षो मे यक्ष, अप्सरा, भूत, प्रत आदि देव तथा आसुरी योनि के जीवो के निवास के विषय मे चिरकाल मे जो भारतीयो का दृढ विश्वास चला आ रहा है इसका उद्भव सिन्धु-सभ्यता मे हुआ था। देवद्रुम के सत्कार के लिये पशुओ का पक्तिबद्ध तथा शुद्ध भावना से इसके पास आना एक ऐसी घटना है जो हमे साँची, भरहुत आदि प्राचीन स्थानो की बौद्ध मूर्तिकला का स्मरण कराती है। इसमे स्तूप, बोधिद्रुम आदि बुद्ध के स्मारको का पुष्पोपहार आदि से सत्कार करते हुए पशु दिखलाए गये हैं।

पूज्य-पदार्थ—वृक्षपूजा से कुछ उतर कर सिन्धुकालीन लोगो की पूजा-पद्धति मे पवित्र वेदिका का स्थान था। सिन्धुमुद्राओ पर केवल एक ही आकार की वेदिका पाई जाती है जो प्राय एकशृ ग के गले के नीचे गड़ी रहती है (फलक २२, क-ज)। कुछ मुद्राओ पर चार टाँगो वाला बलिपीठ भी अश्वत्थ-देवता के उपासक के पास पड़ा पाया जाता है। इसके विपरीत मेसोपोटेमिया मे शलाकामुद्राओ पर कई आकार की बलिवेदियाँ बनी हैं। उनमे कई डमरू के आकार की हैं जिनमे आग को ज्वाला अथवा देवद्रुम का नन्हा पौधा उभरता हुआ दिखाई देता है। कई वेदियाँ ईंट या पत्थर की बनी मालूम होती हैं। वार्ड महोदय की पुस्तक के चित्र न० १२३६ मे दी हुई वेदि के शिखर पर आग की ज्वालाएँ अथवा जीवनतरु की शाखाएँ उभर रही हैं (फलक २२८,)[3]। एक, दूसरी वेदि, जो सम्भवत ईंटो की बनी है, के निचले खाने मे धूपदानी है और शिखर पर मेढे का सिर इष्टर देवी के लिये बलिरूप से रखा है (फलक २२, ञ)। वार्ड के चित्र न० १३८ (सी) (फलक २२, ट)[4] मे डमरू के

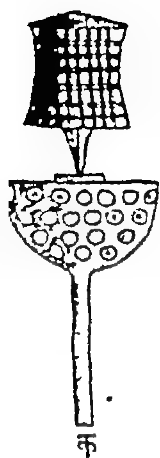
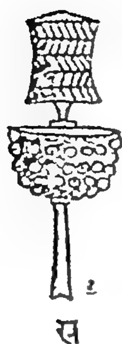
---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २, फलक ९२।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, ग्र० २, फलक ३२८।

३ वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया, चित्र १२३६।

४ वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया, चित्र १३८ सी।















फलक २२ सिन्धुयुग तथा सुमेरिया प्राप्त की अग्नि वेदियां

आकार की वेदिका है जिसमे देवद्रुम का नन्हा पौधा ऊपर को उभर रहा है और एक हिरण इसकी ओर कूद रहा है।

सिन्धुमुद्राओ पर चित्रित वेदिका देखने मे तीन अगो की बनी हुई प्रतीत होती है—यथा आधार दड, बीच का खुले मुँह का पात्र और शिखर पर चतुर्भुज कोष्ठ (फलक २२, क)। कई मुद्राओ मे दड और पात्र दोनो एक ही धातुखड के बने मालूम होते हैं, केवल शिखर वाला कोष्ठ ही पृथक् जोडा हुआ दिखाई देता है। परन्तु अन्य मुद्राओ मे खडश बने हुए तीनो अग बाद मे जोडे हुए प्रतीत होते हैं। मोहेजो-दडो की मुद्रा न० ३८ और ९ को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगता है कि पात्र और दड के जोड पर धान अथवा लकडी का एक कुटिल कील लगा है जिससे प्याला सरक कर दड के नीचे न उतर जाए[१]। इसी प्रकार हडप्पा की मुद्रा न० २ मे उसी स्थान पर कुटिल कील की बजाय किनारो पर नीचे को मुडा हुआ कील लगा है (फलक २२, च)[२]। इन खुले मुँह के पात्रो मे से बहुतो का शरीर छननी की तरह छिदा हुआ है (फलक २२, ख-ड)[३], और कई प्यालो के साथ घुंघरू से अलकरण लटकते नज़र आते हैं। कई मुद्राओ पर अकित चित्रो मे कोष्ठ की पैंदी गावदुम सी बनी है जिसका नीचे का नोकदार किनारा प्याले के मध्य से उभरते हुए चिपटे टुकडे पर स्थित है (फलक २२, क-ग)। दूसरी वेदियो मे मजूषाकार कोष्ठ मे से बाहर निकलकर एक चिपटा धातुखड प्याले से उभरते हुए एक पीठ पर टिका दिखाई देता है (फलक २२, घ, ड)[४]। साधारणत कोष्ठ का छत नोकदार और दोनो पार्श्वों मे मध्यावनत मिलता है। इन पर लहरिया रेखाओ के अलकरण बने होते हैं। कई कोष्ठो के छत पर कुटिल कील लगा होता है जिसे पकड कर शायद कोष्ठ को ऊपर उठाया जाता था (फलक २२, घ, च, छ)[५]। कई कोष्ठो का छत लेम्प के छायाछत्र की तरह महराबदार था।

---

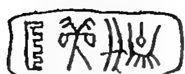
१ मार्शल—मोहेजो-दडो एड दि इडस सिविलाइजेशन, ग्र० ३, फलक १०३, १०४।

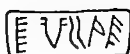
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ८५।

३ क्या खुले मुँह के छेददार पात्र इसलिये नही थे कि इनमे देवद्रुम का नन्हा पौधा पाला जाय। इस पात्र की पैंदी मे बडा छेद शायद उस दड के लिये था जिस पर पात्र और मजूषा रखी रहती थी।

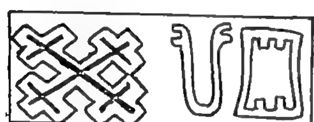
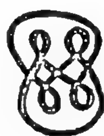
४ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक १०३, १७, फलक १०४, ३९ आदि।

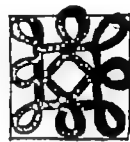
५ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक १०३, १५, १६।

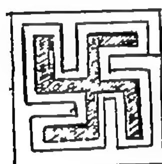
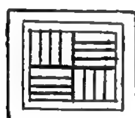
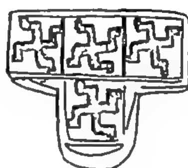
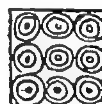
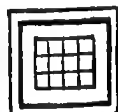



क ख ग घ

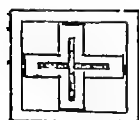
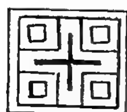
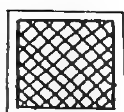
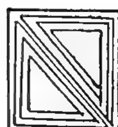
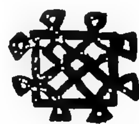





ङ च छ

ज झ ञ ट ठ

ड ढ ण त थ

फलक २३ सिन्धु-सभ्यता के धार्मिक चिह्न और व्यंजन

ऐतिहासिक काल के नवग्रह यन्त्र का पूर्वरूप हो। हडप्पा की मुद्राछाप न० ३०६ (फलक १३, ज)[१] के सामने माथे पर एक मनुष्य हाथ मे टोकरा उठाये वाघ के सामने खडा है और दूसरी ओर पाँच स्वस्तिको की पंक्ति है। उन मुद्राओ मे जिन पर केवल स्वस्तिक ही पाया जाता है हडप्पा की मुद्राछापे न० ३९७, ३९८ और ३९२ वर्णनीय हैं। काले खडिया पत्थर की मुद्रा जिस पर चार स्वस्तिक खुदे हैं अच्छा उदाहरण है (फलक २३, ञ)। इस मुद्रा की विशेषता यह है कि इस पर बने हुए स्वस्तिको की भुजाओ के अन्त पर आडी रेखाएँ हैं जिनसे उनका आकार हिन्दू जाति मे प्रचलित आधुनिक स्वस्तिक के बिलकुल समान है।

सिन्धु-मुद्राओ पर खुदे हुए कई स्वस्तिको की भुजाएँ दाएँ को और कई की बाएँ को मुडी हैं। परन्तु हिन्दुओ के घरो मे आजकल जो स्वस्तिक लिखा जाता है वह दक्षिणावर्त ही होता है। वामावर्त को हिन्दू लोग अमगल समझते हैं। तथापि सिन्धु समाज मे बिना भेदभाव के दोनो आवर्त के स्वस्तिक मगलमय समझे जाते थे। इसमे सन्देह नही कि पाँच-छ हजार वर्ष पहले भी यह चिह्न वैसा ही शुभ एव पवित्र था जैसा कि आज।

पीपल का पत्ता—यह एक और चिह्न है जो सिन्धु-निवासियो मे स्वस्तिक के समान सुख-सम्पत्ति का सम्वर्धक एव कल्याणकारी समझा जाता था। हडप्पा की क्षुद्राकार मुद्राओ पर कही-कही इसका चित्र पाया जाता है। उदाहरणत, मुद्रा न० ४३६ के एक ओर पीपल का पत्ता और दूसरी ओर दो चित्राक्षर हैं (फलक २३, ग)[२] अपनी पवित्रता के कारण ही 'पीपल-का-पत्ता' अभिप्राय सिन्धु-युग की चित्रित कुम्भकला पर प्राय पाया जाता है।

चतुर्भुज क्रूश—पूर्वोक्त नवकोष्ठमय यन्त्र के अतिरिक्त दो और भी यन्त्र हैं जो किसी प्रकार का धार्मिक अथवा तांत्रिक महत्त्व रखते थे। उनमे से एक का आकार क्रूश के समान है[३] (फलक २३, ड) और दूसरा एक बहुत जटिल यन्त्र है (फलक २३, छ)[४]। इकहरे और दोहरे क्रूश का अभिप्राय मोहेजो-दडो एव हडप्पा की कई बटन-मुद्राओ पर पाया जाता है[५]। एक बटन-मुद्रा पर तीन-तीन वृत्तो की

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ९३।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ९३, मु० २७८।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ९६।

४ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ९३, ४।

५ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक ११६, ५२८ बी, ३९१ ।

कि वह देवयोनि का जीव है। शतपदरूपी उसकी सूंड मे हाथी की सूंड जैसी प्रहार-शक्ति और कनखजूरे की लोकप्रसिद्ध ग्राह-शक्ति का सुन्दर समन्वय है। उसमे मेढे की वीरता, व्याघ्र की हिंस्रता और पूंछ मे फणिहर की घातकता है[1]। ऐमा सकीर्ण जन्तु जीवनतरु का निस्सन्देह बहुत उपयुक्त सरक्षक था। इसकी तुलना मेसोपोटेमिया मे जमदेत नसर काल की शलाका मुद्रा पर खुदे हुए सकीर्ण पशु से है (फलक १३, घ)[2]। इस पशु का सिर हाथी का और शरीर बैल का है। वह भी जीवनतरु के सामने पहरुए के समान खडा आक्रमणकारियो से देवद्रुम की रक्षा कर रहा है, जबकि वृक्ष के दूसरी ओर देवता का कृपापात्र वृषभ आनन्द से वृक्ष की टहनियो को चबा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन काल मे अन्य अभिप्रायो के समान यह अभिप्राय भी सुमेरियन जाति ने सिन्धु-सभ्यता से लिया था। इसका विशेष कारण यह है कि मेसोपोटेमिया मे हाथी नही होता, और क्योकि यह भारतीय पशु है इसलिये इस अभिप्राय का भारत से वहाँ जाना स्वाभाविक ही था। सिन्धु-सभ्यता के सकीर्ण पशु का सबसे स्पष्ट और सुन्दर चित्र हड़प्पा की मुद्रा न० २४६ (फलक १८, ग) और मोहेंजो-दडो की मुद्राओ न० ४५० (फलक २४, क), ४११ और ३७६ पर है। इनमे से हड़प्पा की मुद्रा पर पशु के विविध अग बहुत कुशलता से उत्कीर्ण हैं, विशेषत शतपद जो नरमुण्ड की ठोडी से हाथी की सूंड की तरह लटक रहा है, बहुत सजीव दिखलाया है। इस सकीर्ण जीव की शतपदमयी सूंड को ध्यानपूर्वक देखने से सिन्धुकालीन देवताओ की भुजाओ का स्मरण हो उठता है जिनके सम्बन्ध मे पुरातत्त्ववेत्ताओ ने लिखा है कि ये कधो से लेकर कलाई तक कगणो से लदी हैं। मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० ४११ पर खुदे हुए इस पशु की पूंछ स्पष्ट रूप से फणिहर है। मुद्रा न० ३७८ पर बने हुए इस पशु की पूंछ के स्थान भी सांप अथवा कोई और विषैला कीट है[3]।

दूसरे काल्पनिक पशुओ मे अजशृङ्ग (बकरे के सीगो वाला) देवता (फलक १६, च)[4], उल्लू के सिर वाला बकरा (फलक २४, ग)[5], सीगो वाला बाघ (फलक

---

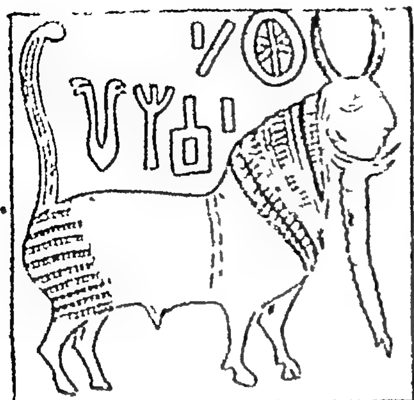
१ यह बात उल्लेखनीय है कि मेसोपोटेमिया मे गुडिया पतेसी के यज्ञ-पात्र पर बने हुए सकीर्ण अजगरो की पूंछें भी सांप ही हैं।

२ फ्रेंक फर्ट—सिलिंडर सील्स, फलक ६ सी।

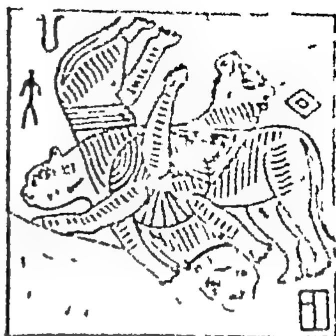
३ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक ११२।

४ मार्शल—वही ग्र० ३, फलक १११, ३५७।

५ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ६७।



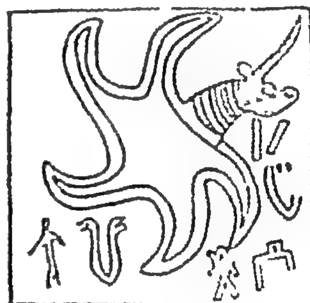
क



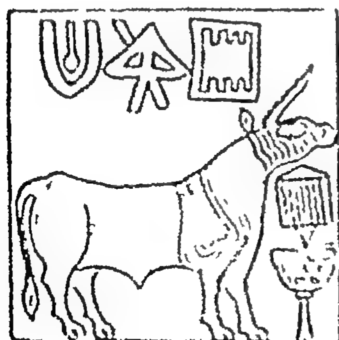
ख



ग



घ



ङ



च

चित्र २४ सिन्धुकुल के पाशविक पशु

१३, क)[1], तीन सिर वाला पशु (फलक २०, क)[2], तीन उलझे हुए वाघ
२४, ख)[3], और पक्षिमुख मगर (फलक २१, क)[4] वर्णनीय हैं। मोहेजो-दडो
१० ३८३ (फलक २४, च)[5] पर एकशृङ्ग, वन-वृषभ, नदी वैल, वाघ, गै
सा—इन छ पशुओ के सिर एक हृदयाकार मडल से किरणो की तरह व
नेकल रहे हैं। इसी अभिप्राय का एक सरल एव सक्षिप्त रूप मोहेजो-दडो
१० ६४१ पर दिया है (फलक २४, घ)[6]। इसमे केवल एकशृङ्ग का ही सि
देखलाया गया है। शेष सिरो की जगह पाँच कुटिल रेखाएं ही अकित हैं।
हृदयाकार मडल जिसमे से छ पशुमुण्ड निखर रहे हैं, किसी गूढ तान्त्रिक र
यजक था। यह मुद्रा अवश्यमेव एक यन्त्र होगा जिसका अभिप्राय इसके धार
ाले के हृदय मे वल, बुद्धि, वीर्य आदि उन विलक्षण शक्तियो का सचार क
जनके लिये ये उत्तम पशु लोक मे प्रसिद्ध हैं। यह हृदयाकार अभिप्राय सिन्ध
चित्रित कुम्भकला तथा मूर्तिकला पर अनेक वार पाया जाता है। ऐसा प्रती
है कि यह एक धार्मिक चिह्न था[7]।

एकशृग—लिखित प्रमाणो के आधार पर कहा जा सकता है कि
ाती ई० पू० से लेकर ऐतिहासिक काल मे लोगो का साधारण विश्वास था कि
ने एकशृग लक्षण का पशु वस्तुत विद्यमान है (फलक २४, ड)। ईसापू
ती का यूनानी इतिहासकार टेसियस लिखता है कि भारत मे एक ऐसा जग
ाया जाता है जिसके माथे पर दो फुट से अधिक लम्बा सीग और टाँगो मे
वनोपम गति है। उसका यह भी कहना है कि इसके सीग के वने हुए पान
वेषदोष दूर करने की अपूर्व शक्ति है। सिकदर महान् का समकालीन इति

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ८९, ३६०।

२ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ९६, ४९४।

३ मार्शल—वही ग्र० ३, फलक ११२, मुद्रा ३९६।

४ मेके—वही ग्र० २, फलक ९७, मुद्रा ४८८।

५ मार्शल—वही ग्र० ३, फलक ११२, मुद्रा ३८३।

६ मेके—वही ग्र० २, फलक ९८, मुद्रा ६४१।

७ मेसोपोटेमिया मे बलिरूप से वध किये हुए पशु के कलेजे से श
ाकुनो का विचार किया जाता था। ब्रिटिश म्यूजियम मे मिट्टी का एक फलक
ार पचास कोष्ठो मे विभक्त कलेजे का चित्र है। प्रत्येक कोष्ठ मे कलेजे के
वेशेष स्थान के लिये विशेष-विशेष शुभाशुभ शकुन अकित हैं।

वूली—दि सुमेरियन्स, पृ० १२७।

थूथनी के चारो ओर बंधा हुआ है और दूसरा उसके मुंह मे से निकल कर आंख के पास से होता हुआ सीग के पीछे की ओर चला गया है[1]। इसी प्रकार मुद्रा न० ४ मे इस पशु के गले मे पट्टी है जिसके निचले सिरे के साथ बंधी हुई एक रज्जु सिर और थूथनी की पर्यन्त रेखाओ के साथ-साथ चलती है। पशु के गले के नीचे वेदिका है जिसमे से धुआं अथवा देवद्रुम का नन्हा पौधा उभरता हुआ प्रतीत हो ा है। मुद्रा न० २४[2] पर एकश्रृ ग के कधे पर जो आवरण पट है वह झालरदार होने के कारण उन साधारण पटो से भिन्न है जो दूसरी मुद्राओ पर पशु के शरीर पर पाए जाते हैं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह पवित्र आवरण हृदयाकार है। यह अभिप्राय सिंधुलिपि का एक चित्राक्षर है और सिंधु-कुम्भकला पर चित्रित अलकरणो मे भी पाया जाता है[3]।

मुद्रा न० ३८ पर एकश्रृ ग के गले के नीचे रखी हुई वेदि के निचले पात्र से सूक्ष्म अकुर की तरह कोई चीज उभरती हुई दिखाई देती है (फलक २४, ड)। यह या तो सूक्ष्म अग्निज्वाला है अथवा पीपल के नन्हे अकुर। एक छोटी सी रज्जु जो एकश्रृ ग की थूथनी से बंधी हुई मालूम होती है पशु-शरीर की बाह्य सीमारेखा के साथ-साथ चलती प्रतीत होती है[4]। मुद्रा न० ४० मे रज्जु का एक सिरा पशु के गले मे बंधा है परन्तु दूसरा उसकी अगली टांगो के बीच मे जाता हुआ दिखाई देता है। रस्सी का एक दूसरा टुकडा थूथनी मे बंधा हुआ है[5]। मुद्रा न० ६१ पर अकित एकश्रृ ग के गले मे 'षडर-चक्र' चित्राक्षर खुदा है जिसके अभिप्राय का पता लगाना कठिन है[6]।

मुद्रा न० ११२ मे एकश्रृ ग की पूंछ मूल से ऊपर को उठी है[7]। ऐसा मालूम होता है कि मानो वेदि से उठते हुए धूम अथवा देवद्रुम के गध से पशु आवेश मे आ

---

१ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक १०३।

२ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक १०३।

३ मेसोपोटेमिया मे हृदय अथवा कलेजे को जीवन का आधार और आत्मा का निवास-स्थान समझा जाता था। यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आश्रित है कि मानव शरीर के समस्त रुधिर का छठा भाग केवल कलेजे मे रहता है। इतना रुधिर शरीर के और किसी अग मे नही होता।

४ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक १०४।

५ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक १०४।

६ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक १०६।

७ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक १०७।



क



ख





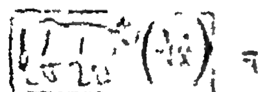
ग



घ



ङ



च



छ

फलक २४ सिन्धु-युग के धार्मिक पशु

गया हो। यही बात मुद्रा न० ११४ और ११५ मे भी पाई जाती है[1]। मुद्रा न० ६९१ मे आच्छादन-पट एकशृंग के कधो की बजाय उसकी पीठ पर है। यहाँ भी पशु की थूथनी रज्जु से बँधी हुई मालूम देती है। इसका एक सिरा सिर पर से होता हुआ सीग की जड की ओर चला गया है।

वास्तविक पशु—सिंधुकाल के वास्तविक पशु जिनके चित्र मुद्राओ पर उत्कीर्ण अथवा खिलौनो के रूप मे पाए गये हैं निम्नलिखित हैं—ब्राह्मणी बैल (वैदिक महर्षभ), गैंडा, छोटे सीगो वाला बैल, वनवृषभ, भैंसा, हाथी, बाघ, मगर, सहा, बदर और बिलाव। क्षुद्र जन्तुओ और पक्षियो मे नेवला, गिलहरी, मछली, कछुआ, बिच्छू, कन-खजूरा, साँप, केंकडा, चील, मुर्ग, कबूतर, फाखता, मोर, बत्तख, चमगादड आदि वर्ण-नीय हैं। मोहेजो-दडो से प्राप्त अनेक ताम्रखडो पर भी पशुमूर्तियाँ बनी हैं जिनमे कई विचित्र आकार की हैं और उनके वास्तविक स्वरूप का पता लगाना कठिन है। ब्राह्मणी बैल, भैंसा, वन-वृषभ, मगर आदि बडे पशु पूज्य समझे जाते थे, परन्तु अधि-काश छोटे पशु यद्यपि पूज्य न भी हो, धार्मिक भावना से अवश्य देखे जाते थे। वृक्षो तथा पशुओ मे देवता अथवा भूत-प्रेतादि के निवास की कल्पना करना और भयजनित श्रद्धा से उन्हें पूज्य या आदरणीय जानना सभ्यता मे निम्न स्तर के मनुष्य का धर्म था। अशिक्षित मनुष्य समाज मे हर एक अचम्भे की वस्तु अथवा अगम्य प्राकृतिक रहस्य आसुरी शक्तियो से आक्रान्त समझे जाते थे।

सिंधुमुद्राओ पर खुदे हुए समस्त पशुओ मे ब्राह्मणी बैल (वैदिक महर्षभ और पौराणिक नदी बैल) उत्तम है (फलक २५, क)। सिंधु-सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही वह पूज्य और पवित्र माना जाता था। यह पौराणिक काल के शिव-वाहन नदी का पूर्वरूप है। उससे उतरकर छोटे सीगो वाला बिना कूबड के बैल और भैंसा है (फलक २५, घ)। जीवनतरु के सरक्षक होने के अतिरिक्त ये दोनो पशु सिंधुकालीन धार्मिक समारोहो और उत्सवो मे महत्त्वपूर्ण भाग लेते थे। इसका समर्थन मुद्राओ पर खुदे हुए उन चित्रो से होता है जिनमे देव-पुरोहित अथवा याजक इन पशुओ पर से छलाँगें लगाकर इन्हे फाँद रहे हैं। मोहेजो-दडो की मुद्राछाप न० १ पर एक छोटे सीगो वाला बैल टोकरे मे चर रहा है (फलक २१, झ)। इसके सामने खडा मनुष्य बाएँ हाथ से एक सयुक्त चित्राक्षर की ओर सकेत और दाएँ से पशु को मत्र-मुग्ध कर रहा है। सम्भवत वह मत्र के द्वारा पशु की भयकरता को दूर करके इसे सौम्य बनाना चाहता है। इस छाप के दूसरी ओर बाघ और गैंडा एक दूसरे के पीछे खडे हैं, मानो वे मनुष्य के हाथों इसी सम्मोहन-क्रिया के लिये अपनी अपनी बारी का

---

१ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक १०७।

गया हो। यही बात मुद्रा न० ११४ और ११५ मे भी पाई जाती है[1]। मुद्रा न० ६६१ मे आच्छादन-पट एकशृग के कधो की बजाय उसकी पीठ पर है। यहाँ भी पशु की थूथनी रज्जु से बँधी हुई मालूम देती है। इसका एक सिरा सिर पर से होता हुआ सीग की जड की ओर चला गया है।

वास्तविक पशु—सिधुकाल के वास्तविक पशु जिनके चित्र मुद्राओ पर उत्कीर्ण अथवा खिलौनो के रूप मे पाए गये हैं निम्नलिखित हैं—ब्राह्मणी बैल (वैदिक महर्षभ), गैंडा, छोटे सीगो वाला बैल, वनवृषभ, भैंसा, हाथी, बाघ, मगर, सहा, बदर और बिलाव। क्षुद्र जन्तुओ और पक्षियो मे नेवला, गिलहरी, मछली, कछुआ, बिच्छू, कनखजूरा, साँप, केंकडा, चील, मुर्ग, कबूतर, फाखता, मोर, बत्तख, चमगादड आदि वर्णनीय हैं। मोहेजो-दडो से प्राप्त अनेक ताम्रखडो पर भी पशुमूर्तियाँ बनी हैं जिनमे कई विचित्र आकार की हैं और उनके वास्तविक स्वरूप का पता लगाना कठिन है। ब्राह्मणी बैल, भैंसा, वन-वृषभ, मगर आदि बडे पशु पूज्य समझे जाते थे, परन्तु अधिकाश छोटे पशु यद्यपि पूज्य न भी हो, धार्मिक भावना से अवश्य देखे जाते थे। वृक्षो तथा पशुओ मे देवता अथवा भूत-प्रेतादि के निवास की कल्पना करना और भयजनित श्रद्धा से उन्हें पूज्य या आदरणीय जानना सभ्यता मे निम्न स्तर के मनुष्य का धर्म था। अशिक्षित मनुष्य समाज मे हर एक अचम्भे की वस्तु अथवा अगम्य प्राकृतिक रहस्य आसुरी शक्तियो से आक्रान्त समझे जाते थे।

सिधुमुद्राओ पर खुदे हुए समस्त पशुओ मे ब्राह्मणी बैल (वैदिक महर्षभ और पौराणिक नदी बैल) उत्तम है (फलक २५, क)। सिधु-सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही वह पूज्य और पवित्र माना जाता था। यह पौराणिक काल के शिव-वाहन नदी का पूर्वरूप है। उससे उतरकर छोटे सीगो वाला बिना कूबड के बैल और भैंसा है (फलक २५, घ)। जीवनतरु के सरक्षक होने के अतिरिक्त ये दोनो पशु सिधुकालीन धार्मिक समारोहो और उत्सवो मे महत्त्वपूर्ण भाग लेते थे। इसका समर्थन मुद्राओ पर खुदे हुए उन चित्रो से होता है जिनमे देव-पुरोहित अथवा याजक इन पशुओ पर से छलाँगें लगाकर इन्हे फाँद रहे हैं। मोहेजो-दडो की मुद्राछाप न० १ पर एक छोटे सीगो वाला बैल टोकरे मे चर रहा है (फलक २१, झ)। इसके सामने खडा मनुष्य बाएँ हाथ से एक सयुक्त चित्राक्षर की ओर सकेत और दाएँ से पशु को मत्रमुग्ध कर रहा है। सम्भवत वह मत्र के द्वारा पशु की भयकरता को दूर करके इसे सौम्य बनाना चाहता है। इस छाप के दूसरी ओर बाघ और गैंडा एक दूसरे के पीछे खडे हैं, मानो वे मनुष्य के हाथों इसी सम्मोहन-क्रिया के लिये अपनी अपनी बारी का

---

१ मार्शल—वही, ग्र० ३, फलक १०७।

और यहाँ यह कल्पना करना अनुचित नही कि शायद मेसोपोटेमिया की तरह सिन्धु प्रान्त मे भी अकाव और क्रूश सूर्य के प्रतीक चिन्ह थे।

टोकरा—बहुत-सी सिंधु-मुद्राओ पर कई पशुओ के आगे टोकरा रखा है (फलक २५, ख)। ऐसे पशुओ मे वन-वृषभ, गैंडा और बाघ वर्णनीय हैं। हाथी और भैंसे के आगे कभी टोकरा होता है और कभी नही। इसके विपरीत ब्राह्मणी बैल, और छोटे सीगो वाले बैल के आगे टोकरा कभी नही देखा जाता। मार्शल का विचार है कि इन टोकरो का पालतू पशुओ के साथ कोई सम्बन्ध नही है, क्योकि वे पशु जिनके विषय मे हम कह सकते हैं कि पालतू थे, जैसे ब्राह्मणी वृषभ और छोटे सीगो वाला बैल, बिना टोकरे के हैं। परन्तु बाघ, गैंडा और वन-वृषभ, जिन्हे मनुष्य ने कभी पालतू नही बनाया, के आगे टोकरा पाया जाता है। इसी प्रकार हाथी और भैंसा, जो पालतू एव जगली भी हो सकते हैं, कभी टोकरे के सहित और कभी उसके बिना भी देखे जाते हैं। उनका सुझाव है कि पशु के सामने रखे हुए टोकरे में बलिरूप से कुछ चारा डाला जाता था और जगली पशु, जिनके सामने यह बलि रखी जाती थी, ठीक उसी प्रकार पूज्य समझे जाते थे जैसे वेदिका वाला एकशृग। भेद केवल इतना था कि जहाँ वास्तविक पशुओ के आगे बलिरूप से खाद्य वस्तुएँ रखी जाती थी वहाँ काल्पनिक एकशृग के सामने उसी भावना से वेदिका मे बलिरूप से गन्ध जलाया जाता था।

मार्शल महोदय की पूर्वोक्त कल्पना युक्तिसगत है परन्तु क्योकि यह बलि केवल जगली पशुओं के आगे ही धरी जाती थी, इसलिए ऐसा करने का वास्तविक अभिप्राय उनकी पूजा करना नही था अपितु उनमे आविष्ट भूत-प्रेतादि आसुरी शक्तियो को सन्तुष्ट करके उनकी हिंस्रता को दूर करना और उन्हें मनुष्य का उपकारक बनाना था। इस प्रसग मे मैं दो सिंधु-मुद्राओ का प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ। इनमे से एक मोहेजो-दडो की मुद्राछाप न० १ है जिसके एक तरफ छोटे सीगो वाला बैल टोकरे पर मुँह ताने खडा है[1]। सामने एक मनुष्य उसकी ओर ताक रहा है। मनुष्य नें अपनी दाहिनी भुजा बैल की ओर फैलाई है और बाएँ हाथ से वह एक सयुक्त चित्राक्षर की ओर सकेत कर रहा है (फलक २१, झ)। बैल टोकरे मे मुँह डालने से कुछ हिचकिचा रहा है मानो वह इस खाद्य में किसी षड्यत्र अथवा कूट-चाल की शका कर रहा हो। इस ऐंद्रजालिक मनुष्य के दायें हाथ की मुद्रा ठीक उस यक्ष की हस्तमुद्रा के समान है जो जीवनतरु पर बैठकर व्याघ्र-दानव को मन्त्र-मुग्ध करने की चेष्टा मे प्रवृत्त दिखाई देता है। मोहेजो-दडो की मुद्रा न० ३४७ पर

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक १०१।

और यहाँ यह कल्पना करना अनुचित नही कि शायद मेसोपोटेमिया की तरह सिन्धु प्रान्त मे भी अकाव और क्रूश सूर्य के प्रतीक चिन्ह थे ।

टोकरा—वहुत-सी सिंधु-मुद्राओ पर कई पशुओ के आगे टोकरा रखा है (फलक २५, ख) । ऐसे पशुओ मे वन-वृषभ, गैंडा और वाघ वर्णनीय हैं । हाथी और भैंसे के आगे कभी टोकरा होता है और कभी नही । इसके विपरीत ब्राह्मणी वैल, और छोटे सीगो वाले वैल के आगे टोकरा कभी नही देखा जाता । मार्शल का विचार है कि इन टोकरो का पालतू पशुओ के साथ कोई सम्वन्ध नही है, क्योकि वे पशु जिनके विषय मे हम कह सकते हैं कि पालतू थे, जैसे ब्राह्मणी वृषभ और छोटे सीगो वाला वैल, विना टोकरे के हैं । परन्तु वाघ, गैंडा और वन-वृषभ, जिन्हे मनुष्य ने कभी पालतू नही वनाया, के आगे टोकरा पाया जाता है । इसी प्रकार हाथी और भैंसा, जो पालतू एव जगली भी हो सकते हैं, कभी टोकरे के सहित और कभी उसके विना भी देखे जाते हैं । उनका सुझाव है कि पशु के सामने रखे हुए टोकरे में वलिरूप से कुछ चारा डाला जाता था और जगली पशु, जिनके सामने यह वलि रखी जाती थी, ठीक उसी प्रकार पूज्य समझे जाते थे जैसे वैदिका वाला एकशृ ग । भेद केवल इतना था कि जहाँ वास्तविक पशुओ के आगे वलिरूप से खाद्य वस्तुएँ रखी जाती थी वहाँ काल्पनिक एकशृ ग के सामने उसी भावना से वेदिका मे वलिरूप से गन्ध जलाया जाता था ।

मार्शल महोदय की पूर्वोक्त कल्पना युक्तिसगत है परन्तु क्योकि यह वलि केवल जगली पशुओं के आगे ही धरी जाती थी, इसलिए ऐसा करने का वास्तविक अभिप्राय उनकी पूजा करना नही था अपितु उनमे आविष्ट भूत-प्रेतादि आसुरी शक्तियो को सन्तुष्ट करके उनकी हिंस्रता को दूर करना और उन्हें मनुष्य का उपकारक बनाना था । इस प्रसग मे मैं दो सिंधु-मुद्राओ का प्रमाण प्रस्तुत करता हूँ । इनमे से एक मोहेंजो-दडो की मुद्राछाप न० १ है जिसके एक तरफ छोटे सीगो वाला वैल टोकरे पर मुँह ताने खड़ा है [1] । सामने एक मनुष्य उसकी ओर ताक रहा है । मनुष्य नें अपनी दाहिनी भुजा वैल की ओर फैलाई है और वाएँ हाथ से वह एक सयुक्त चित्राक्षर की ओर सकेत कर रहा है (फलक २१, झ) । वैल टोकरे मे मुँह डालने से कुछ हिचकिचा रहा है मानो वह इस खाद्य में किसी षड्यत्र अथवा कूट-चाल की शका कर रहा हो । इस ऐंद्रजालिक मनुष्य के दायें हाथ की मुद्रा ठीक उस यक्ष की हस्तमुद्रा के समान है जो जीवनतरु पर बैठकर व्याघ्र-दानव को मन्त्र-मुग्ध करने की चेष्टा मे प्रवृत्त दिखाई देता है । मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० ३४७ पर

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक १०१ ।

जमा है। एक हाथ से सीग पकड कर दूसरे हाथ से वह इसकी पीठ मे भाला घोप रहा है। भैसे के गले के नीचे एक चित्राक्षर है। यह दृश्य या तो जगली भैसे के शिकार का है अथवा पशुवलि का। सम्भव है कि महिषमुण्ड देवता से सम्वद्ध होने के कारण भैसा पशुरूप मे कोई देवयोनि का जीव हो जो नररूप आक्रमणकारी दानव से युद्ध कर रहा हो। इस सम्भावना का समर्थन मुद्राछाप न० ११[1] वी (फलक २६, ग) से होता है जहाँ प्रतिद्वन्द्वी मनुष्य से लडने वाले वैल की रक्षा एक नाग कर रहा है। वैल के पीछे नाग के होने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि सम्भवत वैल पशुरूप मे एक नाग उपदेवता हो।

मुद्रा न० ५१० पर एक विचित्र उत्सव-दृश्य हैं। इसमे कृत्रिम चोटियाँ पहने हुए पाँच मनुष्य जो सम्भवत देव-पुरोहित हैं, एक भैसे पर से फाँदते हुए दिखलाए गए हैं। इनमे से दो मनुष्य सिर के वल भूमि पर गिर पडे हैं परन्तु शेष तीन अभी आकाश मे ही हैं (फलक २७, ५)[2]। ऊपर के बायें कोने पर जो मनुष्य छलाँग भर रहा है उसका सिर नीचे की ओर और धड दोहरा हो गया है। इसने वैल को फाँद लिया है और अब भूमि पर गिरने ही वाला है। भैसे के सीगो मे उलझे हुए नटिये की कृत्रिम चोटी पशु की पीठ पर पीछे की ओर उड रही है और उस दिशा की ओर सकेत करती है जिधर से नटिये ने छलाँग लगाई है। भैसे पर से फाँदने की क्रिया महिषमुण्ड देवता से सम्बद्ध किसी उत्सव का अग मालूम होती है। मुद्रा न० १२ (फलक २८, ग)[3] पर भी इसी प्रकार का दृश्य बना है। यहाँ नीचे के बाये कोने पर एक भैसा बना है। इसके सामने एक खिलाडी एक टाँग के बल खडा भुजाओ को सामने सीधा ताने हुए है। मनुष्य की विलक्षण मुद्रा से प्रतीत होता है कि वह छलाँग लगाकर भैसे को फाँदने ही वाला है। इसके अतिरिक्त तीन और नटिये पशु को फाँदने के प्रयत्न मे आकाश मे उडते दिखाई दे रहे हैं। मुद्रा के दाएँ कोने पर 'क्रेड्यूशस' के आकार का चित्र है जो जमेदत-नसर काल के सुमेरियन अलकरणो मे से एक है। यद्यपि इस मुद्राछाप पर चित्र अस्पष्ट हैं तथापि प्रतीत होता है कि यह 'नाच का दृश्य' नही, जैसा मेके महोदय ने इसे समझा है, किन्तु भैसे को फाँदने की धार्मिक क्रीडा का दृश्य है। इसी प्रकार का दृश्य मुद्रा न० ८ (फलक २०, ख)[4] पर पाया जाता है। इसमे एक पुरोहित अथवा याजक भैसे के स्थान छोटे सीगो वाले

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ९२।

२ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ९६, ५१०।

३ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलत ९१।

४ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक १०३।

जमा है। एक हाथ से सीग पकड कर दूसरे हाथ से वह इसकी पीठ मे भाला घोप रहा है। भैंसे के गले के नीचे एक चित्राक्षर है। यह दृश्य या तो जगली भैंसे के शिकार का है अथवा पशुवलि का। सम्भव है कि महिषमुण्ड देवता से सम्बद्ध होने के कारण भैंसा पशुरूप मे कोई देवयोनि का जीव हो जो नररूप आक्रमणकारी दानव से युद्ध कर रहा हो। इस सम्भावना का समर्थन मुद्राछाप न० ११[1] वी (फलक २६, ग) से होता है जहाँ प्रतिद्वन्द्वी मनुष्य से लडने वाले वैल की रक्षा एक नाग कर रहा है। वैल के पीछे नाग के होने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि सम्भवत वैल पशुरूप मे एक नाग उपदेवता हो।

मुद्रा न० ५१० पर एक विचित्र उत्सव-दृश्य हैं। इसमे कृत्रिम चोटियाँ पहने हुए पाँच मनुष्य जो सम्भवत देव-पुरोहित हैं, एक भैंसे पर से फाँदते हुए दिखलाए गए हैं। इनमे से दो मनुष्य सिर के वल भूमि पर गिर पडे हैं परन्तु शेष तीन अभी आकाश मे ही हैं (फलक २७, ५)[2]। ऊपर के बायें कोने पर जो मनुष्य छलांग भर रहा है उसका सिर नीचे की ओर और धड दोहरा हो गया है। इसने वैल को फाँद लिया है और अब भूमि पर गिरने ही वाला है। भैंसे के सीगो मे उलझे हुए नटिये की कृत्रिम चोटी पशु की पीठ पर पीछे की ओर उड रही है और उस दिशा की ओर सकेत करती है जिधर से नटिये ने छलांग लगाई है। भैंसे पर से फाँदने की क्रिया महिषमुण्ड देवता से सम्बद्ध किसी उत्सव का अग मालूम होती है। मुद्रा न० १२ (फलक २८, ग)[3] पर भी इसी प्रकार का दृश्य बना है। यहाँ नीचे के बाये कोने पर एक भैंसा बना है। इसके सामने एक खिलाडी एक टाँग के बल खडा भुजाओ को सामने सीधा ताने हुए है। मनुष्य की विलक्षण मुद्रा से प्रतीत होता है कि वह छलांग लगाकर भैंसे को फाँदने ही वाला है। इसके अतिरिक्त तीन और नटिये पशु को फाँदने के प्रयत्न मे आकाश मे उडते दिखाई दे रहे हैं। मुद्रा के दाएँ कोने पर 'क्रेड्यूशस' के आकार का चित्र है जो जमेदत-नसर काल के सुमेरियन अलकरणो मे से एक है। यद्यपि इस मुद्राछाप पर चित्र अस्पष्ट हैं तथापि प्रतीत होता है कि यह 'नाच का दृश्य' नही, जैसा मेके महोदय ने इसे समझा है, किन्तु भैंसे को फाँदने की धार्मिक क्रीडा का दृश्य है। इसी प्रकार का दृश्य मुद्रा न० ८ (फलक २०, ख)[4] पर पाया जाता है। इसमे एक पुरोहित अथवा याजक भैंसे के स्थान छोटे सीगो वाले

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ६२।

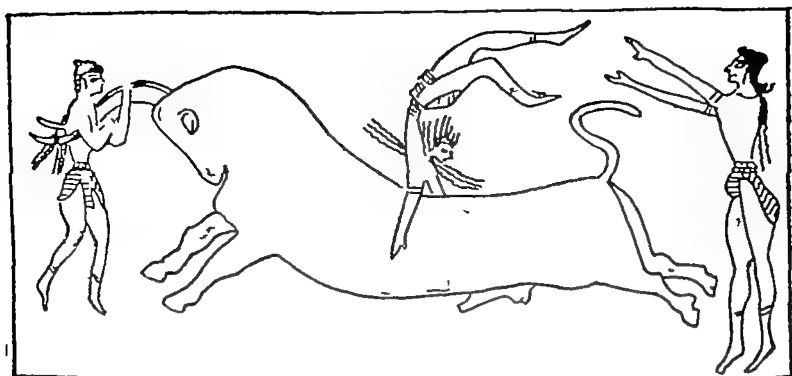
२ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ६६, ५१०।

३ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलत ६१।

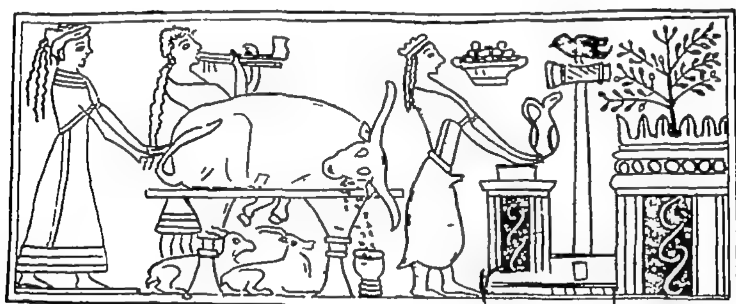
४ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक १०३।

जाति के प्रथम भारत-प्रवेश का यथार्थ कालनिर्णय करना भयावह है। हड़प्पा की संक्षिप्त खुदाई के आधार पर डा० व्हीलर का इस निर्णय पर पहुँचना कि आर्य-जाति ईसापूर्व १५०० के लगभग भारत मे आई भ्रममूलक होने से अतीव अश्रद्धेय है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि अभी तक इस सम्बन्ध मे यह मालूम नही हो सका है कि सिंधु-सभ्यता के निर्माता लोग किस जाति के थे। तत्कालीन साहित्य के अत्यन्ताभाव के कारण हमे यह भी मालूम नही कि इन लोगो के दार्शनिक एव वैज्ञानिक विचार कैसे थे।

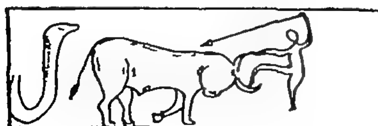
जाति के प्रथम भारत-प्रवेश का यथार्थ कालनिर्णय करना भयावह है। हड़प्पा की संक्षिप्त खुदाई के आधार पर डा० व्हीलर का इस निर्णय पर पहुँचना कि आर्य-जाति ईसापूर्व १५०० के लगभग भारत मे आई भ्रममूलक होने से अतीव अश्रद्धेय है। दूसरी विचारणीय बात यह है कि अभी तक इस सम्बन्ध मे यह मालूम नही हो सका है कि सिंधु-सभ्यता के निर्माता लोग किस जाति के थे। तत्कालीन साहित्य के अत्यन्ताभाव के कारण हमे यह भी मालूम नही कि इन लोगो के दार्शनिक एव वैज्ञानिक विचार कैसे थे।



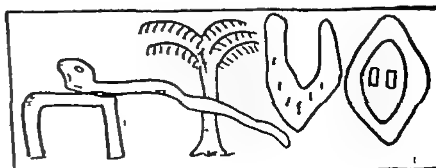
क 1



ख 2

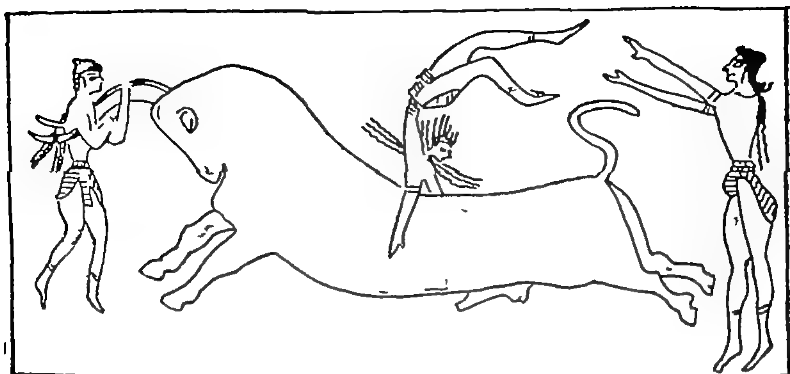


ग 3

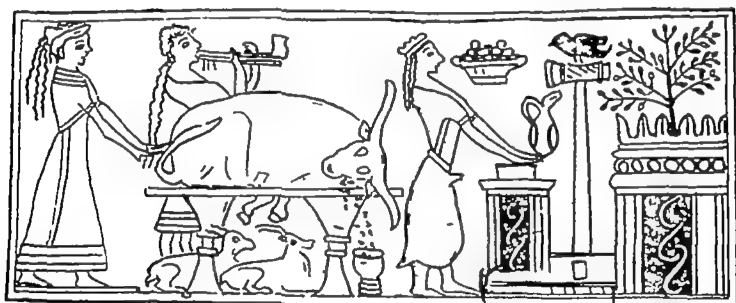


घ 4

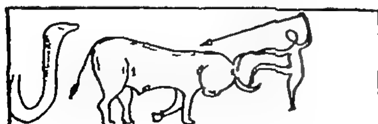
फलक २६ सिंधु-युग तथा मिनोअन क्रीट द्वीप की वृषोत्प्लव क्रीडाएँ



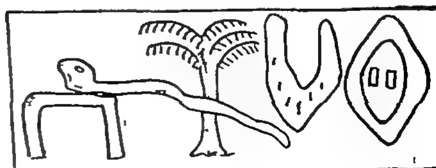
क 1



ख 2

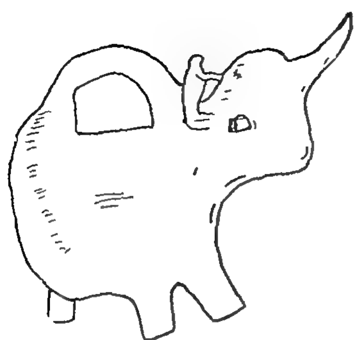


ग 3

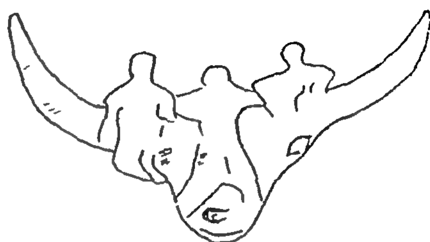


घ 4

फलक २६ सिंधु-युग तथा मिनोअन क्रीट द्वीप की वृषोत्प्लव क्रीडाएँ



1



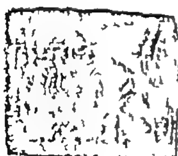
2



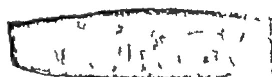
3



4

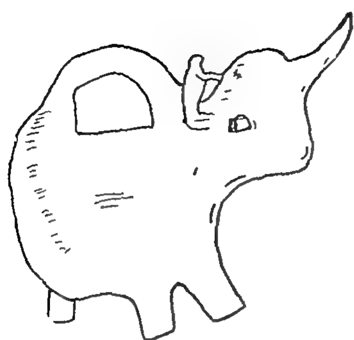


5

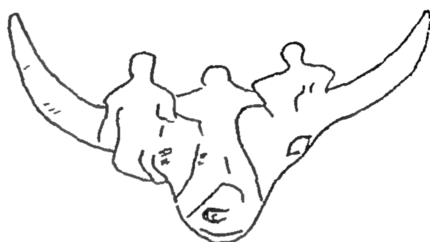


6

फलक २७



1



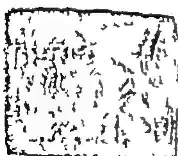
2



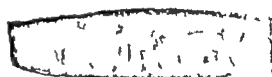
3



4



5



6

फलक २७

अवश्य है, परन्तु इसे मातृदेवी का प्रतीक समझना सम्भव नही, क्योकि सिंधु-मुद्राओ पर बने हुए चित्रो मे इस वृक्ष का कही भी उक्त देवता से सम्बन्ध सिद्ध नही होता।

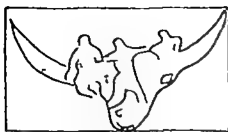
देवद्रुम कथानक—हाँ, यह बात सुविदित है कि सुमेरियन कथानक की तरह सिंधु-सभ्यता मे भी एक देवद्रुम कथानक था। प्राचीन सिंधु-निवासी पीपल और शमी को देवद्रुम मानकर उनकी पूजा करते थे। इनमे शमी 'जीवनतरु' और पीपल 'ज्ञानतरु' अथवा 'सृष्टितरु' समझा जाता था। मुद्राकित चित्रो से यह भी प्रतीत होता है कि देवताओ से जीवनतरु को छीनने के लिए दानव सदा यत्नशील रहते थे। देवताओ के समान वे भी इस देवद्रुम की शाखाओ को अपने सिरो पर धारण करना चाहते थे जिससे वे मृत्यु और पराजय पर विजय प्राप्त कर सकें। सिंधु-मुद्राओ पर ऐसे अनेक दृश्य हैं जिनमें व्याघ्र-दानव जीवनतरु की शाखा चुराने के लिए बार-बार आता है परन्तु देवद्रुम का दिव्य सरक्षक उसकी पाप-वासना को सफल नही होने देता। इस सरक्षक के अतिरिक्त देवद्रुम के और भी कई एक पहरुए थे। इनमे नर-वृषभ, नरमुण्ड सकीर्ण जन्तु और तीन सिर वाला पशु वर्णनीय हैं। सम्भव है कि पूर्वोक्त दो मुद्राओ (फलक २०, ग तथा फलक २७, ४) पर जहाँ बैल अथवा भैंसे पर मनुष्य भाला चला रहा है, पशु जीवनतरु का सरक्षक ही हो और प्रतिद्वन्द्वी मनुष्य नररूप मे दानव हो।

नागदेवता—इस सम्भावना का आशिक समर्थन इस बात से भी होता है कि एक सिंधु-मुद्रा पर शक्तिधर मनुष्य से युद्ध करने वाले बैल के पीछे नाग खड़ा है (फलक २०, ग)। डा० फाब्री के विचार में यह नाग मातृदेवी का प्रतीक है। परन्तु यह सम्भव नही, क्योकि सिंधु-मुद्राओ पर इस जन्तु का देवी के साथ साहचर्य कही दिखाई नही देता। इसके विपरीत यह एक स्वतन्त्र नाग देवता है, जैसा कि दो सिंधु मुद्राओ से प्रतीत होता है (फलक १६, ज)। इन मुद्राओ में महिषमुण्ड प्रधान देवता के पार्श्ववर्ती दो नररूप उपदेवताओ के पीछे एक-एक नाग खड़ा है। एक और सिंधु-मुद्रा पर नाग काष्ठपीठ पर सिर रखे देवद्रुम की रक्षा कर रहा है (फलक २०, ड)। पूर्वोक्त साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि चित्र न० ग (फलक २०) में मनुष्य से युद्ध करने वाला बैल सम्भवत पशुरूप मे कोई देवता ही है, जो देवद्रुम की रक्षा के लिए आक्रमणकारी किसी नररूप दानव से लड़ रहा है। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा न० डी० के० ४५४७ (फलक २०, छ १) पर जो तीन मनुष्य वृक्ष की ओट मे खड़े हैं वे डा० फाब्री के मत में तीन स्त्रियाँ हैं, जो फलक २६, ख पर बने हुए दृश्य के समान बैल की बलि देने के लिए समय की प्रतीक्षा कर रही हैं। परन्तु उनका यह विचार कल्पनामूलक है। ऐसा कोई लक्षण नही जिससे यह सिद्ध हो सके कि वे स्त्रियाँ हैं, और पुरुष नही। सम्भव है कि वे नररूप दानव देवद्रुम की शाखाए

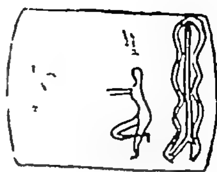
अवश्य है, परन्तु इसे मातृदेवी का प्रतीक समझना सम्भव नही, क्योंकि सिंधु-मुद्राओ पर बने हुए चित्रो मे इस वृक्ष का कही भी उक्त देवता से सम्बन्ध सिद्ध नही होता।

देवद्रुम कथानक—हाँ, यह बात सुविदित है कि सुमेरियन कथानक की तरह सिंधु-सभ्यता मे भी एक देवद्रुम कथानक था। प्राचीन सिंधु-निवासी पीपल और शमी को देवद्रुम मानकर उनकी पूजा करते थे। इनमे शमी 'जीवनतरु' और पीपल 'ज्ञानतरु' अथवा 'सृष्टितरु' समझा जाता था। मुद्राकित चित्रो से यह भी प्रतीत होता है कि देवताओ से जीवनतरु को छीनने के लिए दानव सदा यत्नशील रहते थे। देवताओ के समान वे भी इस देवद्रुम की शाखाओ को अपने सिरो पर धारण करना चाहते थे जिससे वे मृत्यु और पराजय पर विजय प्राप्त कर सकें। सिंधु-मुद्राओ पर ऐसे अनेक दृश्य हैं जिनमें व्याघ्र-दानव जीवनतरु की शाखा चुराने के लिए बार-बार आता है परन्तु देवद्रुम का दिव्य सरक्षक उसकी पाप-वासना को सफल नही होने देता। इस सरक्षक के अतिरिक्त देवद्रुम के और भी कई एक पहरुए थे। इनमे नर-वृषभ, नरमुण्ड सकीर्ण जन्तु और तीन सिर वाला पशु वर्णनीय हैं। सम्भव है कि पूर्वोक्त दो मुद्राओ (फलक २०, ग तथा फलक २७, ४) पर जहाँ बैल अथवा भैंसे पर मनुष्य भाला चला रहा है, पशु जीवनतरु का सरक्षक ही हो और प्रतिद्वन्द्वी मनुष्य नररूप मे दानव हो।

नागदेवता—इस सम्भावना का आशिक समर्थन इस बात से भी होता है कि एक सिंधु-मुद्रा पर शक्तिधर मनुष्य से युद्ध करने वाले बैल के पीछे नाग खडा है (फलक २०, ग)। डा० फाब्री के विचार में यह नाग मातृदेवी का प्रतीक है। परन्तु यह सम्भव नही, क्योंकि सिंधु-मुद्राओ पर इस जन्तु का देवी के साथ साहचर्य कही दिखाई नही देता। इसके विपरीत यह एक स्वतन्त्र नाग देवता है, जैसा कि दो सिंधु मुद्राओ से प्रतीत होता है (फलक १६, ज)। इन मुद्राओ में महिषमुण्ड प्रधान देवता के पार्श्ववर्ती दो नररूप उपदेवताओ के पीछे एक-एक नाग खडा है। एक और सिंधु-मुद्रा पर नाग काष्ठपीठ पर सिर रखे देवद्रुम की रक्षा कर रहा है (फलक २०, ड)। पूर्वोक्त साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि चित्र न० ग (फलक २०) में मनुष्य से युद्ध करने वाला बैल सम्भवत पशुरूप मे कोई देवता ही है, जो देवद्रुम की रक्षा के लिए आक्रमणकारी किसी नररूप दानव से लड रहा है। मोहेंजो-दडो की मुद्रा न० डी० के० ४५४७ (फलक २०, छ १) पर जो तीन मनुष्य वृक्ष की ओट मे खडे हैं वे डा० फाब्री के मत में तीन स्त्रियाँ हैं, जो फलक २६, ख पर बने हुए दृश्य के समान बैल की बलि देने के लिए समय की प्रतीक्षा कर रही हैं। परन्तु उनका यह विचार कल्पनामूलक है। ऐसा कोई लक्षण नही जिससे यह सिद्ध हो सके कि वे स्त्रियाँ हैं, और पुरुष नही। सम्भव है कि वे नररूप दानव देवद्रुम की शाखाए


क


ख


ग


ङ




ज

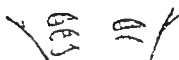

च


घ


झ


छ

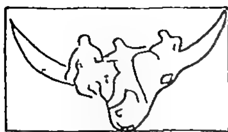

ञ


ट


ठ


ड

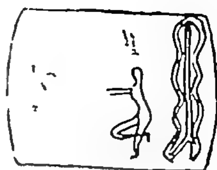
फलक २८ सिंधु-युग तथा मिनोअन क्रीट द्वीप की वृषोत्प्लव क्रीडाएँ



क



ख



ग



ङ





ज



च



घ



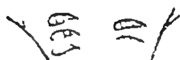
झ



छ



ञ



ट



ठ



ड

फलक २८ सिंधु-युग तथा मिनोअन क्रीट द्वीप की वृषोत्प्लव क्रीडाएं

वृषोत्प्लव क्रीडाओ का जन्मस्थान भारत—वृषोत्प्लव क्रीडाओ के प्रादुर्भाव और प्रचार के विषय मे क्रीट और सिंधु-सभ्यता की तुलना करने के लिए ईवान्स के कालमान का अनुसरण करना आवश्यक है। इन क्रीडाओ के विषय मे यदि क्रीट ने सिंधु देश पर अपना प्रभाव डाला था तो वह ईसापूर्व १७५०-१२०० की कालसीमा के अन्दर ही हुआ होगा। परन्तु इस काल मे सिंधु-सभ्यता का अन्त हो चुका था। दूसरी आपत्ति यह है कि अपने सिद्धान्त की पुष्टि मे डा० फाब्री ने जिन सिंधु-मुद्राओ का प्रमाण दिया है वे सब बहुत प्राचीन युग से सम्बन्ध रखती हैं और सिद्ध करती हैं कि सिंधु के काठे मे इन धार्मिक क्रीडाओ का अभिनय मिनोअन काल से पहले भी होता था। उदाहरणत. फलक २७, ३, ५ मे प्रदर्शित सिंधु-मुद्राएँ मोहेजो-दडो के निम्नस्तरो से मिलने के कारण ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्तकाल की है। शेष तीन मुद्राएँ (फलक २५ क, ३, फलक २०, ग) जो मोहेजो-दडो के ऊपर के स्तरो से उपलब्ध हुई थी ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्यकाल की हैं। वृषोत्प्लव क्रीडाओ के काल का निर्धारण करने के लिए फलक २७, ३, ५ वाली मुद्राएँ बहुत महत्त्व-पूर्ण हैं। इन मुद्राओ मे पशु पर से कूदते हुए मनुष्य अपने सिर पर लम्बी कृत्रिम चोटियाँ पहन रहे हैं, जो केवल देवताओ, दिव्य वीरो और देव-पुरोहितो का ही पहनावा था। महिषमुण्ड देवता की मागलिक अध्यक्षता मे देवद्रुम के सामने पुरोहितो द्वारा इन खेलो के अभिनय से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्त मे वृषोत्प्लव क्रीडाएँ सिंधु-देश मे धार्मिक स्वरूप धारण कर चुकी थी। भारत मे इन खेलो की इतनी प्राचीनता स्वय ही इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है कि इस आदान-प्रदान मे भारत क्रीट द्वीप का ऋणी था अथवा क्रीट द्वीप भारत का।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि मिनोअन-काल का क्रीट इन क्रीडाओ का जन्म-स्थान नही था। सर आर्थर ईवान्स ने स्पष्ट लिखा है कि वृषोत्प्लव क्रीडा का सर्वप्रथम प्रमाण ईसापूर्व २४०० वर्ष पुरानी केपेडोशिया की एक शलाका-मुद्रा पर मिला है और उनका यह भी कथन है कि क्रीट के वृषाकार अर्घपात्रो का जन्म भी मेसोपोटेमिया मे हुआ था। इससे पता चलता है कि मिनोअन सभ्यता ने इन क्रीडाओ के आदर्श और उदाहरणों को एशिया महाद्वीप से प्राप्त किया था।

क्रीट की मिनोअन सभ्यता मे विदेशीय अश—क्रीट द्वीप न केवल इन धार्मिक क्रीडाओ के विषय मे ही एशिया का ऋणी था, अपितु और भी अनेक बातो मे। इस द्वीप के आदि-निवासियो मे लघु-एशिया की आर्मीनियन जाति के लोगो का प्राधान्य था। दो-मुँहा कुल्हाडा, मातृदेवी, पाषाण-गदा, रथ, घोडा आदि मिनोअन सभ्यता के अन्य बहुत से अश भी एशिया से ही इस द्वीप मे पहुँचे थे। इसी प्रकार अपनी सभ्यता के विकास के लिए यह द्वीप मिश्र की प्राचीन सभ्यता का भी किसी कदर कम

वृषोत्प्लव क्रीडाओ का जन्मस्थान भारत—वृषोत्प्लव क्रीडाओ के प्रादुर्भाव और प्रचार के विषय मे क्रीट और सिंधु-सभ्यता की तुलना करने के लिए ईवान्स के कालमान का अनुसरण करना आवश्यक है। इन क्रीडाओ के विषय मे यदि क्रीट ने सिंधु देश पर अपना प्रभाव डाला था तो वह ईसापूर्व १७५०-१२०० की कालसीमा के अन्दर ही हुआ होगा। परन्तु इस काल मे सिंधु-सभ्यता का अन्त हो चुका था। दूसरी आपत्ति यह है कि अपने सिद्धान्त की पुष्टि मे डा० फाब्री ने जिन सिंधु-मुद्राओ का प्रमाण दिया है वे सब बहुत प्राचीन युग से सम्बन्ध रखती हैं और सिद्ध करती हैं कि सिंधु के काठे मे इन धार्मिक क्रीडाओ का अभिनय मिनोअन काल से पहले भी होता था। उदाहरणत- फलक २७, ३, ५ मे प्रदर्शित सिंधु-मुद्राएँ मोहेंजो-दडो के निम्नस्तरो से मिलने के कारण ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्तकाल की है। शेष तीन मुद्राएँ (फलक २५ क, ३, फलक २०, ग) जो मोहेंजो-दडो के ऊपर के स्तरो से उपलब्ध हुई थी ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्यकाल की हैं। वृषोत्प्लव क्रीडाओ के काल का निर्धारण करने के लिए फलक २७, ३, ५ वाली मुद्राएँ बहुत महत्त्व-पूर्ण हैं। इन मुद्राओ मे पशु पर से कूदते हुए मनुष्य अपने सिर पर लम्बी कृत्रिम चोटियाँ पहन रहे हैं, जो केवल देवताओ, दिव्य वीरो और देव-पुरोहितो का ही पहनावा था। महिषमुण्ड देवता की मागलिक अध्यक्षता मे देवद्रुम के सामने पुरोहितो द्वारा इन खेलो के अभिनय से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के अन्त मे वृषोत्प्लव क्रीडाएँ सिंधु-देश मे धार्मिक स्वरूप धारण कर चुकी थी। भारत मे इन खेलो की इतनी प्राचीनता स्वय ही इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है कि इस आदान-प्रदान मे भारत क्रीट द्वीप का ऋणी था अथवा क्रीट द्वीप भारत का।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि मिनोअन-काल का क्रीट इन क्रीडाओ का जन्म-स्थान नही था। सर आर्थर ईवान्स ने स्पष्ट लिखा है कि वृषोत्प्लव क्रीडा का सर्वप्रथम प्रमाण ईसापूर्व २४०० वर्ष पुरानी केपेडोशिया की एक शलाका-मुद्रा पर मिला है और उनका यह भी कथन है कि क्रीट के वृषाकार अर्घपात्रो का जन्म भी मेसोपोटेमिया मे हुआ था। इससे पता चलता है कि मिनोअन सभ्यता ने इन क्रीडाओ के आदर्श और उदाहरणों को एशिया महाद्वीप से प्राप्त किया था।

क्रीट की मिनोअन सभ्यता मे विदेशीय अश—क्रीट द्वीप न केवल इन धार्मिक क्रीडाओ के विषय मे ही एशिया का ऋणी था, अपितु और भी अनेक बातो मे। इस द्वीप के आदि-निवासियो मे लघु-एशिया की आर्मीनियन जाति के लोगो का प्राधान्य था। दो-मुँहा कुल्हाडा, मातृदेवी, पाषाण-गदा, रथ, घोडा आदि मिनोअन सभ्यता के अन्य बहुत से अश भी एशिया से ही इस द्वीप मे पहुँचे थे। इसी प्रकार अपनी सभ्यता के विकास के लिए यह द्वीप मिश्र की प्राचीन सभ्यता का भी किसी कदर कम

कुम्भकला के उदाहरण है। इनमे से अधिकाश के मुंह ढकनो, छोटे वर्तनो, ईंटो अथवा ठीकरो से ढके हुए थे।

ग्यारह मटको मे, जिनमे एक अडाकार और शेप गोल थे, वच्चो के शव गडे थे। नन्हे वच्चो को सिकोडकर और सम्भवत कपडे मे लपेटकर समूचे ही मटके मे इस प्रकार रखा जाता था मानो वे माता के गर्भ मे पडे हो। परन्तु वडी आयु के मनुष्यो के शव पहले कुछ समय तक खुले स्थान मे फेंक दिये जाते थे[1], और गीध, गीदड आदि से वची हुई हड्डियाँ वटोरकर मटको मे रख दी जाती थी। खोपडी मटके के मध्य मे और वाकी हड्डियां उसके चारो ओर जुडी हुई रहती थी। प्रत्येक शव-भांड मे हड्डियो की सख्या भिन्न-भिन्न थी और किसी एक मे भी मानव-शरीर की समस्त अस्थियाँ एकत्र नही पाई गईं।

असाधारण शव-भांड—कई वडे शव-भांड अपनी असाधारण वस्तु-सामग्री के कारण विशेष रूप से वर्णनीय हैं। भांड न० १४९ मे अग्निदग्ध और अदग्ध शवो की अस्थियाँ, राख, जले हुए ठीकरे आदि मिश्रित वस्तुएँ थी। एक दूसरे मटके मे मिट्टी की चित्रित कलसी और वडी आयु के मनुष्य की अस्थियाँ थी। चार मटको मे खडित मानव खोपडियो के अतिरिक्त और कुछ नही था। कई मे दो मनुष्यो की अस्थियाँ थी और एक मे वच्चे की हड्डियो के साथ किसी छोटे शष्पाद (चरिन्द) पशु के अवशेष थे। सम्भवत बच्चे का क्रीडा-सहचर होने के कारण इसे भी मारकर उसके साथ कब्र मे गाड दिया गया था जिससे परलोक मे भी वह शिशु के विनोद का कारण बन सके। बहुत से शव-भांड चित्रो से अलकृत थे। कई पर काली पट्टियाँ और कई पर जीव-जन्तु, पौधे, सितारे आदि थे।

निचले स्तर की कब्रें—शव भांडो के ठीक नीचे तीन से छ फुट की गहराई के बीच वारह के लगभग कब्रें पाई गई थी। मुर्दे प्राय पूर्वोत्तर से दक्षिण-पश्चिम की दिशा मे लिटाए हुए थे, परन्तु कई अस्तव्यस्त दशा मे भी पडे थे। बहुत से शव पार्श्व के बल

---

१ यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) तत्कालीन प्रथाओ का वर्णन करता हुआ लिखता है—"ईरानियो (पारसियो) मे यह प्रथा है कि वे अपने मृतको को खुले स्थान मे छोड देते हैं जिससे गीध उन्हे खा जाएँ।"

आज भी भारतीय पारसियो मे वही प्रथा प्रचलित है। ऐसी ही प्रथा तिब्बत मे अव भी पाई जाती है। प्राचीन समय मे वैशाली के लिच्छवीगण मे ऐसी ही रीति थी जिससे मालूम होता है कि इस गण के लोग या तो तिब्बत से आए थे या उस देश के लोगों के सजातीय थे।

—इडियन ऐंटिक्वरी, १९०३, पृ० २३३।

कुम्भकला के उदाहरण है। इनमे से अधिकाश के मुंह ढकनो, छोटे वर्तनो, ईंटो अथवा ठीकरो से ढके हुए थे।

ग्यारह मटको मे, जिनमे एक अडाकार और शेष गोल थे, वच्चो के शव गडे थे। नन्हे वच्चो को सिकोडकर और सम्भवत कपडे मे लपेटकर समूचे ही मटके मे इस प्रकार रखा जाता था मानो वे माता के गर्भ मे पडे हो। परन्तु वडी आयु के मनुष्यो के शव पहले कुछ समय तक खुले स्थान मे फेंक दिये जाते थे[१], और गीध, गीदड आदि से वची हुई हड्डियाँ वटोरकर मटको मे रख दी जाती थी। खोपडी मटके के मध्य मे और वाकी हड्डियाँ उसके चारो ओर जुडी हुई रहती थी। प्रत्येक शव-भाँड मे हड्डियो की सख्या भिन्न-भिन्न थी और किसी एक मे भी मानव-शरीर की समस्त अस्थियाँ एकत्र नही पाई गईं।

असाधारण शव-भाँड—कई वडे शव-भाँड अपनी असाधारण वस्तु-सामग्री के कारण विशेष रूप से वर्णनीय हैं। भाँड न० १४९ मे अग्निदग्ध और अदग्ध शवो की अस्थियाँ, राख, जले हुए ठीकरे आदि मिश्रित वस्तुएँ थी। एक दूसरे मटके मे मिट्टी की चित्रित कलसी और बडी आयु के मनुष्य की अस्थियाँ थी। चार मटको मे खडित मानव खोपडियो के अतिरिक्त और कुछ नही था। कई मे दो मनुष्यो की अस्थियाँ थी और एक मे वच्चे की हड्डियो के साथ किसी छोटे शष्पाद (चरिन्द) पशु के अवशेष थे। सम्भवत बच्चे का क्रीडा-सहचर होने के कारण इसे भी मारकर उसके साथ कब्र मे गाड दिया गया था जिससे परलोक मे भी वह शिशु के विनोद का कारण बन सके। बहुत से शव-भाँड चित्रो से अलकृत थे। कई पर काली पट्टियाँ और कई पर जीव-जन्तु, पौधे, सितारे आदि थे।

निचले स्तर की कब्रें—शव भाँडो के ठीक नीचे तीन से छ फुट की गहराई के बीच वारह के लगभग कब्रें पाई गई थी। मुर्दे प्राय पूर्वोत्तर से दक्षिण-पश्चिम की दिशा मे लिटाए हुए थे, परन्तु कई अस्तव्यस्त दशा मे भी पडे थे। बहुत से शव पार्श्व के बल

---

१ यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) तत्कालीन प्रथाओ का वर्णन करता हुआ लिखता है—"ईरानियो (पारसियो) मे यह प्रथा है कि वे अपने मृतको को खुले स्थान मे छोड देते हैं जिससे गीध उन्हे खा जाएँ।"

आज भी भारतीय पारसियो मे वही प्रथा प्रचलित है। ऐसी ही प्रथा तिब्बत मे अब भी पाई जाती है। प्राचीन समय मे वैशाली के लिच्छवीगण मे ऐसी ही रीति थी जिससे मालूम होता है कि इस गण के लोग या तो तिब्बत से आए थे या उस देश के लोगों के सजातीय थे।

—इडियन ऐंटिक्वरी, १९०३, पृ० २३३।

कुम्भकला के उदाहरण हैं। इनमे से अधिकाश के मुँह ढकनो, छोटे वर्तनो, ईंटो अथव ठीकरो से ढके हुए थे।

ग्यारह मटको मे, जिनमे एक अडाकार और शेष गोल थे, वच्चो के शव ग थे। नन्हे वच्चो को सिकोडकर और सम्भवत कपडे मे लपेटकर समूचे ही मटके मे इस प्रकार रखा जाता था मानो वे माता के गर्भ मे पडे हो। परन्तु वडी आयु के मनुष्यो के शव पहले कुछ समय तक खुले स्थान मे फेंक दिये जाते थे[1], और गीध, गीदड आदि से बची हुई हड्डियाँ वटोरकर मटको मे रख दी जाती थी। खोपडी मटके के मध्य मे और वाकी हड्डियाँ उसके चारो ओर जुडी हुई रहती थी। प्रत्येक शव-भाँड मे हड्डियो की सख्या भिन्न-भिन्न थी और किसी एक मे भी मानव-शरीर की समस्त अस्थियाँ एकत्र नही पाई गईं।

असाधारण शव-भाँड—कई वडे शव-भाँड अपनी असाधारण वस्तु-सामग्री के कारण विशेष रूप से वर्णनीय हैं। भाँड न० १४६ मे अग्निदग्ध और अदग्ध शवो की अस्थियाँ, राख, जले हुए ठीकरे आदि मिश्रित वस्तुएँ थी। एक दूसरे मटके मे मिट्टी की चित्रित कलसी और वडी आयु के मनुष्य की अस्थियाँ थी। चार मटको मे खडित मानव खोपड़ियो के अतिरिक्त और कुछ नही था। कई मे दो मनुष्यो की अस्थियाँ थी और एक मे बच्चे की हड्डियो के साथ किसी छोटे शष्पाद (चरिन्द) पशु के अवशेष थे। सम्भवत बच्चे का क्रीडा-सहचर होने के कारण इसे भी मारकर उसके साथ कब्र मे गाड दिया गया था जिससे परलोक मे भी वह शिशु के विनोद का कारण बन सके। बहुत से शव-भाँड चित्रो से अलकृत थे। कई पर काली पट्टियाँ और कई पर जीव-जन्तु, पौधे, सितारे आदि थे।

निचले स्तर की कब्रें—शव भाँडो के ठीक नीचे तीन से छ फुट की गहराई के बीच बारह के लगभग कब्रें पाई गई थी। मुर्दे प्राय पूर्वोत्तर से दक्षिण-पश्चिम की दिशा मे लिटाए हुए थे, परन्तु कई अस्तव्यस्त दशा मे भी पडे थे। बहुत से शव पार्श्व के बल

---

१ यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) तत्कालीन प्रथाओ का वर्णन करता हुआ लिखता है—"ईरानियो (पारसियो) में यह प्रथा है कि वे अपने मृतको को खुले स्थान मे छोड देते हैं जिससे गीध उन्हे खा जाएँ।"

आज भी भारतीय पारसियो मे वही प्रथा प्रचलित है। ऐसी ही प्रथा तिब्बत मे अब भी पाई जाती है। प्राचीन समय में वैशाली के लिच्छवीगण मे ऐसी ही रीति थी जिससे मालूम होता है कि इस गण के लोग या तो तिब्बत से आए थे या देश के लोगो के सजातीय थे।

—इडियन ऐंटिक्वरी, १६०३, पृ० २३

कुम्भकला के उदाहरण हैं। इनमे से अधिकाश के मुँह ढकनो, छोटे वर्तनो, ईंटो अथव ठीकरो से ढके हुए थे।

ग्यारह मटको मे, जिनमे एक अडाकार और शेप गोल थे, वच्चो के शव ग थे। नन्हे वच्चो को सिकोडकर और सम्भवत कपडे मे लपेटकर समूचे ही मटके मे इस प्रकार रखा जाता था मानो वे माता के गर्भ मे पडे हो। परन्तु वडी आयु के मनुष्यो के शव पहले कुछ समय तक खुले स्थान मे फेंक दिये जाते थे[1], और गीध, गीदड आदि से बची हुई हड्डियाँ वटोरकर मटको मे रख दी जाती थी। खोपडी मटके के मध्य मे और वाकी हड्डियाँ उसके चारो ओर जुडी हुई रहती थी। प्रत्येक शव-भाँड मे हड्डियो की सख्या भिन्न-भिन्न थी और किसी एक मे भी मानव-शरीर की समस्त अस्थियाँ एकत्र नही पाई गईं।

असाधारण शव-भाँड—कई वडे शव-भाँड अपनी असाधारण वस्तु-सामग्री के कारण विशेष रूप से वर्णनीय हैं। भाँड न० १४६ मे अग्निदग्ध और अदग्ध शवो की अस्थियाँ, राख, जले हुए ठीकरे आदि मिश्रित वस्तुएँ थी। एक दूसरे मटके मे मिट्टी की चित्रित कलसी और वडी आयु के मनुष्य की अस्थियाँ थी। चार मटको मे खडित मानव खोपडियो के अतिरिक्त और कुछ नही था। कई मे दो मनुष्यो की अस्थियाँ थी और एक मे बच्चे की हड्डियो के साथ किसी छोटे शष्पाद (चरिन्द) पशु के अवशेष थे। सम्भवत बच्चे का क्रीडा-सहचर होने के कारण इसे भी मारकर उसके साथ कब्र मे गाड दिया गया था जिससे परलोक मे भी वह शिशु के विनोद का कारण बन सके। बहुत से शव-भाँड चित्रो से अलकृत थे। कई पर काली पट्टियाँ और कई पर जीव-जन्तु, पौधे, सितारे आदि थे।

निचले स्तर की कब्रें—शव भाँडो के ठीक नीचे तीन से छ फुट की गहराई के बीच बारह के लगभग कब्रें पाई गई थी। मुर्दे प्राय पूर्वोत्तर से दक्षिण-पश्चिम की दिशा मे लिटाए हुए थे, परन्तु कई अस्तव्यस्त दशा मे भी पडे थे। बहुत से शव पार्श्व के बल

---

१ यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (४८४-४२५ ई० पू०) तत्कालीन प्रथाओ का वर्णन करता हुआ लिखता है—"ईरानियो (पारसियो) में यह प्रथा है कि वे अपने मृतको को खुले स्थान मे छोड देते हैं जिससे गीध उन्हे खा जाएँ।"

आज भी भारतीय पारसियो मे वही प्रथा प्रचलित है। ऐसी ही प्रथा तिब्बत मे अब भी पाई जाती है। प्राचीन समय में वैशाली के लिच्छवीगण मे ऐसी ही रीति थी जिससे मालूम होता है कि इस गण के लोग या तो तिब्बत से आए थे या देश के लोगो के सजातीय थे।

—इडियन ऐंटिक्वरी, १९०३, पृ० २३

परलोक-यात्रा मे मृतक का पथ-प्रदर्शक था। कल्पना की जा सकती है कि नर-मयूर प्राणी, जो वृषाकार पशुओ के बीच खडा है, सम्भवत मृतक के सूक्ष्म शरीर का प्रतीक है और दोनो पशु परलोक यात्रा मे उसके सहायक हैं। यहाँ यह लिखना प्रासगिक है कि वैदिक काल के आर्यों मे एक प्रथा थी जिसके अनुसार शव के अग्निदाह के समय 'अनुस्तरणी' नाम गौ का वध किया जाता था। इस गौ की मज्जा से मृतक के सिर और मुंह को ढक दिया जाता था जिससे अग्निदेव अपनी प्रचडता को मज्जा पर ही समाप्त करके मृतक को सुखपूर्वक दिव्य लोको का अधिकारी वनाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्निदेव से प्रार्थना भी की जाती थी। पशु की आँतडियाँ मृतक के हाथो मे इसलिये दी जाती थी कि वे यमराज के कुत्ते की वलि है। इस मटके पर चित्रित दृश्य मे रोचक वात यह है कि समान रूप दूसरे चित्र मे कुत्ता और पशु की आँतडियाँ दोनो अदृश्य हैं, मानो आक्रमणकारी श्वापद अपना नियत भाग लेकर भाग गया हो। यह उल्लेखनीय है कि नीचे उद्धृत वैदिक मन्त्र मे अनुस्तरणी के स्थान वकरे की वलि का भी विधान है[1]। उत्तरकालीन वैदिक आर्यों मे मरण-शय्या पर पडा हुआ मनुष्य ब्राह्मण को 'वैतरणी' गौ का दान करता था। सिन्धु तथा वैदिक काल की मृतक सम्वन्धी प्रथाओ मे सादृश्य दिखलाने का तात्पर्य यह है कि वैदिक आर्यों और भारत की आदिजातियो मे परस्पर सम्पर्क के अनन्तर स्वाभाविक ही था कि सिन्धु-वासियो के कई धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाज आर्य जाति के जीवन का अग बन जाते। पूर्वोक्त परलोक-यात्रा-चित्र मे प्रधान मूर्तियो के वीच रिक्त स्थान मे सितारे,

---

से पुकारा जाता था। यह मार्गभ्रष्ट पथिको को मार्ग दिखलाता था।

पूषण् का बकरा परलोक का मार्ग दिखाता हुआ यज्ञाश्व के आगे आगे चलता है। विकट मार्गों से शायद वह इसलिये परिचित है कि उसके रथ मे अचूक पावो वाला बकरा लगा है। वलिरूप से वध किया हुआ बकरा आगे-आगे चलता है और पितृगण को मृतक के आगमन की सूचना देता है। तीसरे दिव्य-लोक मे पहुँचने के पहले उसे अन्धतामिस्र गहन मार्गों मे से गुजरना पडता है।

अथर्ववेद (मेकडानेल)

१ अनुस्तरण्या वपामुच्छिद्य शिरोमुख प्रच्छादयेत्
अग्नेर्वर्म परि गाभि र्व्ययस्व (ऋग्वेद, १, १६, ७)
अनुस्तरणी गामजा वैकवर्णा कृष्णा मेके सव्ये बाहौ बध्वाऽ-
नुसकालयन्ति॥ पितृभ्यो वाऽनुस्तरणी (आश्वलायन गृ० सू० ४,३)
सायण—सेय गौ स्तृत दीक्षित मनुस्तृतत्वा द्धिसितत्वाच्चानुस्तरणीत्युच्यते।

परलोक-यात्रा मे मृतक का पथ-प्रदर्शक था। कल्पना की जा सकती है कि नर-मयूर प्राणी, जो वृषाकार पशुओ के बीच खडा है, सम्भवत मृतक के सूक्ष्म शरीर का प्रतीक है और दोनो पशु परलोक यात्रा मे उसके सहायक हैं। यहाँ यह लिखना प्रासगिक है कि वैदिक काल के आर्यों मे एक प्रथा थी जिसके अनुसार शव के अग्निदाह के समय 'अनुस्तरणी' नाम गौ का वध किया जाता था। इस गौ की मज्जा से मृतक के सिर और मुंह को ढक दिया जाता था जिससे अग्निदेव अपनी प्रचडता को मज्जा पर ही समाप्त करके मृतक को सुखपूर्वक दिव्य लोको का अधिकारी वनाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अग्निदेव से प्रार्थना भी की जाती थी। पशु की आँतडियाँ मृतक के हाथो मे इसलिये दी जाती थी कि वे यमराज के कुत्ते की वलि है। इस मटके पर चित्रित दृश्य मे रोचक वात यह है कि समान रूप दूसरे चित्र मे कुत्ता और पशु की आँतडियाँ दोनो अदृश्य हैं, मानो आक्रमणकारी श्वापद अपना नियत भाग लेकर भाग गया हो। यह उल्लेखनीय है कि नीचे उद्धृत वैदिक मन्त्र मे अनुस्तरणी के स्थान वकरे की वलि का भी विधान है[1]। उत्तरकालीन वैदिक आर्यों मे मरण-शय्या पर पडा हुआ मनुष्य ब्राह्मण को 'वैतरणी' गौ का दान करता था। सिन्धु तथा वैदिक काल की मृतक सम्वन्धी प्रथाओ मे सादृश्य दिखलाने का तात्पर्य यह है कि वैदिक आर्यों और भारत की आदिजातियो मे परस्पर सम्पर्क के अनन्तर स्वाभाविक ही था कि सिन्धु-वासियो के कई धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाज आर्य जाति के जीवन का अग वन जाते। पूर्वोक्त परलोक-यात्रा-चित्र मे प्रधान मूर्तियो के वीच रिक्त स्थान मे सितारे,

---

से पुकारा जाता था। यह मार्गभ्रष्ट पथिको को मार्ग दिखलाता था।

पूषण् का बकरा परलोक का मार्ग दिखाता हुआ यज्ञाश्व के आगे आगे चलता है। विकट मार्गों से शायद वह इसलिये परिचित है कि उसके रथ मे अचूक पावो वाला बकरा लगा है। वलिरूप से वध किया हुआ बकरा आगे-आगे चलता है और पितृगण को मृतक के आगमन की सूचना देता है। तीसरे दिव्य-लोक मे पहुँचने के पहले उसे अन्धतामिस्र गहन मार्गों मे से गुजरना पडता है।

अथर्ववेद (मेकडानेल)

१ अनुस्तरण्या वपामुच्छिद्य शिरोमुख प्रच्छादयेत्
अग्नेर्वर्मं परि गाभि र्व्ययस्व (ऋग्वेद, १, १६, ७)
अनुस्तरणी गामजा वैकवर्णा कृष्णा मेके सव्ये बाहौ बध्वाऽ-
नुसकालयन्ति॥ पितृभ्यो वाऽनुस्तरणी (आश्वलायन गृ० सू० ४,३)
सायण—सेय गौ स्तृत दीक्षित मनुस्तृतत्वा द्धिसितत्वाच्चानुस्तरणीत्युच्यते।

विहग श्रेणियाँ, पत्तियाँ आदि गौण अभिप्राय भी बने हुए हैं

शव-भांड 'एच २०६ (ए)'—इस मटके पर आकाश मे उडते हुए तीन मोर चित्रित हैं। इनमे से हर एक के पेट मे एक सकीर्ण नर-मयूर प्राणी लेटा पडा है और उसके आस-पास पान-पत्ती या फेफडे के आकार के अभिप्राय भी बने है (फलक ३० ख)[1]। यह प्राणी पूर्ववर्णित शव-भाड एच २०६ (बी) पर बने हुए नर-मयूर प्राणी के अनुरूप है। इसमे सदेह नही कि यह भी उस मृतक के सूक्ष्म शरीर का प्रतीक है जिसकी अस्थियाँ इस शव-भांड मे पाई गई थी। मोरो के अन्तराल मे सितारो के झुरमुट हैं।

शव-भांड एच २४५ (बी)—इस शव-भांड पर आग्ल भाषा के 'यू' अक्षर के समान मयूर-शीर्षक नाँद बने हैं। इनके बीच कही-कही सितारे हैं (फलक ३०, घ)[2]। मोरो के सिर पर भी इसी आकार के सीग हैं जिनके मध्य मे परस्पर जुडे हुए पीपल के पत्ते चित्रित हैं। हर एक नाद के अन्दर पत्तो अथवा मछलियो की पक्तियाँ भी वनी हैं।

शव-भांड 'एच २४५ (सी)'—यह एक मध्योन्नत लम्वोत्तरा मटका है जिसके शरीर पर सितारो से घिरे हुए दो वेडौल मोर बने हैं (फलक ३०, ग)[3]। हर एक मोर की पूंछ और गला पल्लवित दिखलाया गया है और प्रत्येक पल्लव के मध्य मे एक एक विन्दु है। मोरो के वीच रिक्त स्थान मे रेखाओ के बने हुए नाँद के आकार के दो बाँध हैं जिनमे से हर एक के वीच एक किरणमाली विम्व और मत्स्य-पक्ति है। एक विम्ब के अन्दर पाँच रेखापूर्ण पत्तियाँ और दूसरे मे नाशपाती के आकार के अनेक विन्दुमध्य गोलक भरे हैं। सम्भवत चित्रकार ने इन बिम्वो मे दिव्य लोको की कल्पना की है और इनमे नाना प्रकार के प्राणियो के निवास का आभास कराने का भी प्रयत्न किया है। शायद यह पितृलोक है जहाँ मृतको की आत्माएँ आत्यन्तिक शान्ति पाने के लिये विश्राम कर रही हैं। वृत्तो के मध्यवर्ती बिंदु सम्भवत शरीर मे निश्चेष्ट जीवन-तत्त्व के द्योतक हैं। सम्भव है कि मोर के निकट वाले सितारो के गर्भ मे बिंदु-मध्य गोलक भी उन ग्रहो के निवासी विविध प्राणियो के प्रतीक हैं। इसी प्रकार मोर के गले और पूंछ मे चिमटे हुए पल्लवाकार अभिप्राय भी शायद मृत प्राणियो की आत्माएँ हैं जिन्हे मोर पितृलोक मे ले जा रहा है। इसमे सन्देह नही कि इन चित्रो का सम्भावित अभिप्राय जो मैंने ऊपर दिया है काल्पनिक है, परन्तु मृतक की पार-

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ६२, २।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ६२, ४।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ६२, ३।

विहग श्रेणियाँ, पत्तियाँ ग्रादि गौण ग्रभिप्राय भी बने हुए हैं

शव-भांड 'एच २०६ (ए)'—इस मटके पर ग्राकाश मे उडते हुए तीन मोर चित्रित हैं। इनमे से हर एक के पेट मे एक सकीर्ण नर-मयूर प्राणी लेटा पडा है ग्रौर उसके ग्रास-पास पान-पत्ती या फेफडे के ग्राकार के ग्रभिप्राय भी बने है (फलक ३० ख)[१]। यह प्राणी पूर्ववर्णित शव-भाड एच २०६ (बी) पर बने हुए नर-मयूर प्राणी के ग्रनुरूप है। इसमे सदेह नही कि यह भी उस मृतक के सूक्ष्म शरीर का प्रतीक है जिसकी ग्रस्थियाँ इस शव-भांड मे पाई गई थी। मोरो के ग्रन्तराल मे सितारो के झुरमुट हैं।

शव-भांड एच २४५ (बी)—इस शव-भांड पर ग्राग्ल भाषा के 'यू' ग्रक्षर के समान मयूर-शीर्षक नांद बने हैं। इनके बीच कही-कही सितारे हैं (फलक ३०, घ)[२]। मोरो के सिर पर भी इसी ग्राकार के सीग हैं जिनके मध्य मे परस्पर जुडे हुए पीपल के पत्ते चित्रित हैं। हर एक नाद के ग्रन्दर पत्तो ग्रथवा मछलियो की पक्तियाँ भी बनी हैं।

शव-भांड 'एच २४५ (सी)'—यह एक मध्योन्नत लम्बोत्तरा मटका है जिसके शरीर पर सितारो से घिरे हुए दो बेडौल मोर बने हैं (फलक ३०, ग)[३]। हर एक मोर की पूंछ ग्रौर गला पल्लवित दिखलाया गया है ग्रौर प्रत्येक पल्लव के मध्य मे एक एक बिन्दु है। मोरो के बीच रिक्त स्थान मे रेखाग्रो के बने हुए नांद के ग्राकार के दो बांध हैं जिनमे से हर एक के बीच एक किरणमाली बिम्ब ग्रौर मत्स्य-पक्ति है। एक बिम्ब के ग्रन्दर पांच रेखापूर्ण पत्तियां ग्रौर दूसरे मे नाशपाती के ग्राकार के ग्रनेक बिन्दुमध्य गोलक भरे हैं। सम्भवत चित्रकार ने इन बिम्बो मे दिव्य लोको की कल्पना की है ग्रौर इनमे नाना प्रकार के प्राणियो के निवास का ग्राभास कराने का भी प्रयत्न किया है। शायद यह पितृलोक है जहां मृतको की ग्रात्माएँ ग्रात्यन्तिक शान्ति पाने के लिये विश्राम कर रही हैं। वृत्तो के मध्यवर्ती बिंदु सम्भवत शरीर मे निश्चेष्ट जीवन-तत्त्व के द्योतक हैं। सम्भव है कि मोर के निकट वाले सितारो के गर्भ मे बिंदु-मध्य गोलक भी उन ग्रहो के निवासी विविध प्राणियो के प्रतीक हैं। इसी प्रकार मोर के गले ग्रौर पूंछ मे चिमटे हुए पल्लवाकार ग्रभिप्राय भी शायद मृत प्राणियो की ग्रात्माएँ हैं जिन्हे मोर पितृलोक मे ले जा रहा है। इसमे सन्देह नही कि इन चित्रो का सम्भावित ग्रभिप्राय जो मैंने ऊपर दिया है काल्पनिक है, परन्तु मृतक की पार-

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ६२, २।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ६२, ४।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ६२, ३।

लौकिक यात्रा के प्रसग मे बहुत युक्तिसगत प्रतीत होता है।

शव-भांड 'एच १५४ (ए)'—यह उन्नतोदर लबोतरा मटका लबे सीगों वाले कूबडदार चतुष्पादो, जो प्रकट मे बैल हैं, तथा मछलियो और सितारो के चित्रो से अलकृत है (फलक ३०, ड)[1]। हर एक चतुष्पाद के सिर पर अग्रेजी वर्ण 'यू' के आकार के सीग हैं और कूबड पर से पीपल का पत्ता उभर रहा है। रिक्त स्थान मे प्रदर्शित मछलियो मे से हर एक के पेट मे एक-एक बिंदु है जो मृतको की आत्मा अथवा सुषुप्ति मे निश्चेष्ट जीवन-तत्त्व के बीज हो सकते हैं। सितारो के पेट भी रेखाओ से पूर्ण हैं।

शव-भांड 'एच १४८ (ए)', १५० और न० १५—इन मटको पर मोर तथा अन्य अभिप्राय चित्रित हैं। शव-भांड 'एच १५०' पर केवल बेडौल, भद्दे मोर हैं (फलक ३०, ग)[2]। मटका न० एच १४८ (ए) रेखापूर्ण पेट वाले उडते हुए मोरो से अलकृत है। हर दो मोरो के मध्य मे एक रेखामय नाँद का चिह्न है (फलक ३०, ग)[3]। यह अभिप्राय, जैसा कि नीचे दिखलाया गया है, नाँद अथवा जलपात्रो की प्रतिकृतियाँ हैं जिनमे सजीव मत्स्य खेल रहे हैं। तीसरे शव-भांड पर लहरिया रेखाओ के बने हुए कोष्ठो के अन्दर बेडौल मोर बने हैं[4]। ये कोष्ठ नाँद के आकार के हैं और बीच के रिक्त स्थानो में सयुक्त पीपल के पत्तो की पक्तियाँ हैं। हर एक लहरिया रेखा की चोटी पर बने हुए सितारे के मध्य मे बिंदुगर्भ वृत्त हैं। लहरिया रेखाएँ सम्भवत सितारो की किरणें हैं, जिससे प्रतीत होता है कि मोर दिव्यलोक मे उड़ान कर रहा है।

शव-भांड 'एच ७०६ (ए)'—इस मटके के ऊपरी भाग मे गले के इर्द-गिर्द चित्रो की दो पट्टियाँ हैं[5]। अदर की पट्टी मे आकाश मे उडते हुए दो मोर हैं और उनके मध्य मे तीन बिंदुगर्भ अडाकार गोले। बाहर की पट्टी मे रेखा-परिवृत किरण-माली वलय सम्भवत सूर्यबिम्ब है। समस्त दृश्य का अभिप्राय यह हो सकता है कि मृतको की आत्माओ का अनुसरण करने वाले मोर सूर्य और तारागण से आलोकित दिव्यलोकों मे विहरण कर रहे हैं।

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ५।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ६।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ८।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १५।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, १२।

लौकिक यात्रा के प्रसग मे बहुत युक्तिसगत प्रतीत होता है।

शव-भांड 'एच १५४ (ए)'—यह उन्नतोदर लबोतरा मटका लबे सीगों वाले कूबडदार चतुष्पादो, जो प्रकट मे बैल हैं, तथा मछलियो और सितारो के चित्रो से अलकृत है (फलक ३०, ड)[1]। हर एक चतुष्पाद के सिर पर अग्रेजी वर्ण 'यू' के आकार के सीग हैं और कूबड पर से पीपल का पत्ता उभर रहा है। रिक्त स्थान मे प्रदर्शित मछलियो मे से हर एक के पेट मे एक-एक बिंदु है जो मृतको की आत्मा अथवा सुषुप्ति मे निश्चेष्ट जीवन-तत्त्व के बीज हो सकते हैं। सितारो के पेट भी रेखाओ से पूर्ण हैं।

शव-भांड 'एच १४८ (ए)', १५० और न० १५—इन मटको पर मोर तथा अन्य अभिप्राय चित्रित हैं। शव-भांड 'एच १५०' पर केवल बेडौल, भद्दे मोर हैं (फलक ३०, ग)[2]। मटका न० एच १४८ (ए) रेखापूर्ण पेट वाले उडते हुए मोरो से अलकृत है। हर दो मोरो के मध्य मे एक रेखामय नाँद का चिह्न है (फलक ३०, ग)[3]। यह अभिप्राय, जैसा कि नीचे दिखलाया गया है, नाँद अथवा जलपात्रो की प्रतिकृतियाँ हैं जिनमे सजीव मत्स्य खेल रहे हैं। तीसरे शव-भांड पर लहरिया रेखाओ के बने हुए कोष्ठो के अन्दर बेडौल मोर बने हैं[4]। ये कोष्ठ नाँद के आकार के हैं और बीच के रिक्त स्थानो में सयुक्त पीपल के पत्तो की पक्तियाँ हैं। हर एक लहरिया रेखा की चोटी पर बने हुए सितारे के मध्य मे बिंदुगर्भ वृत्त हैं। लहरिया रेखाएँ सम्भवत सितारो की किरणें हैं, जिससे प्रतीत होता है कि मोर दिव्यलोक मे उड़ान कर रहा है।

शव-भांड 'एच ७०६ (ए)'—इस मटके के ऊपरी भाग मे गले के इर्द-गिर्द चित्रो की दो पट्टियाँ हैं[5]। अदर की पट्टी मे आकाश मे उडते हुए दो मोर हैं और उनके मध्य मे तीन बिंदुगर्भ अडाकार गोले। बाहर की पट्टी मे रेखा-परिवृत किरण-माली वलय सम्भवत सूर्यबिम्ब है। समस्त दृश्य का अभिप्राय यह हो सकता है कि मृतको की आत्माओ का अनुसरण करने वाले मोर सूर्य और तारागण से आलोकित दिव्यलोकों मे विहरण कर रहे हैं।

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ५।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ६।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ८।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १५।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, १२।

आकाश मे उडते हुए पक्षियो की पक्तियाँ तथा सयुक्त पीपल के पत्तो के अलकरण भी हैं। 'कब्रिस्तान-एच' के प्रथम स्तर की कुम्भकला पर 'वी' अक्षर के आकार के नांद अधिक सख्या मे तथा कई प्रकार के हैं। कई मटको पर उनके पार्श्व एक या अनेक लहरिया रेखाओ के और कई पर त्रिगुण शाखाओ[1] के तथा पत्तो[2] के भी बने हैं (फलक २८, झ, ञ)। इन नुकीली पैंदी के नांदो के अदर मछलियाँ विंदुगर्भ वृत्त, सितारे और मोर चित्रित हैं (फलक २८, ड, छ) आदि।

कई शव-भांडो पर वनस्पति और प्राणियो के चित्र हैं। मटका न० 'एच-३४६ (वी)[3]' पर कीटो के साथ परस्पर जुडे हुए तीन पीपल के पत्ते हैं (फलक ३१, ज), न० १७ पर बारी-बारी से कीट और बिंदुगर्भ गोलक हैं[4]। न० १८ पर कीट और खेचर पक्षिओ की पक्तियाँ, वृक्ष और सितारे हैं[5]। मटका न० १७ पर एकान्तर क्रम से खडी और पडी रेखाओ के समूह तथा बिंदुगर्भ गोलक हैं[6]। न० २० पर चतुर्भुज कोष्ठो के अन्तर्गत कीट-पक्तियाँ, और सितारे (फलक ३२, ख)[7], न० १९ पर यथाक्रम कीट-पक्तियाँ, सितारे तथा वृक्षो के झुरमुट[8] और मटका न० २१ पर ऊपर की पट्टी मे गो-मूत्रि का बध के मोडो मे कीट पक्तियाँ, पल्लवित तोरण तथा नीचे की पट्टी मे खडी रेखाओ के समूहो से सीमित केवल कीट-पक्तियाँ हैं (फलक ३२, झ)[9]। पूर्वोक्त मटका न० २१ पर अन्य अभिप्रायो के साथ तोरण भी बने हैं जिनकी चोटियो से उभरते हुए कई एक वृक्ष दिखाए गए हैं। यह अलकरण प्राचीन सिंधुकालीन मुद्राओ पर बने हुए उन अश्वत्थ-तोरणो का स्मरण कराता है जिनके नीचे अश्वत्थाधिष्ठातृ-परम-देवता स्थानमुद्रा मे पाया जाता है। इसका सादृश्य मेसोपोटेमिया के उन तोरणाकार अभिप्रायो से भी है जिनके नीचे अधोलोक के देवता स्थान अथवा आसीन

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १५।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ७।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ९।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १७।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १८।
६ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, १७।
७ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, २०।
८ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, १९।
९ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, २१।

आकाश मे उडते हुए पक्षियो की पक्तियाँ तथा सयुक्त पीपल के पत्तो के अलकरण भी हैं। 'कब्रिस्तान-एच' के प्रथम स्तर की कुम्भकला पर 'वी' अक्षर के आकार के नाँद अधिक सख्या मे तथा कई प्रकार के हैं। कई मटको पर उनके पार्श्व एक या अनेक लहरिया रेखाओ के और कई पर त्रिगुण शाखाओ[1] के तथा पत्तो[2] के भी बने हैं (फलक २८, झ, ञ)। इन नुकीली पैंदी के नाँदो के अदर मछलियाँ विंदुगर्भ वृत्त, सितारे और मोर चित्रित हैं (फलक २८, ड, छ) आदि।

कई शव-भाँडो पर वनस्पति और प्राणियो के चित्र हैं। मटका न० 'एच-३४६ (वी)[3]' पर कीटो के साथ परस्पर जुडे हुए तीन पीपल के पत्ते हैं (फलक ३१, ज), न० १७ पर बारी-बारी से कीट और बिंदुगर्भ गोलक हैं[4]। न० १८ पर कीट और खेचर पक्षिओ की पक्तियाँ, वृक्ष और सितारे हैं[5]। मटका न० १७ पर एकान्तर क्रम से खडी और पडी रेखाओ के समूह तथा बिंदुगर्भ गोलक हैं[6]। न० २० पर चतुर्भुज कोष्ठो के अन्तर्गत कीट-पक्तियाँ, और सितारे (फलक ३२, ख)[7], न० १९ पर यथाक्रम कीट-पक्तियाँ, सितारे तथा वृक्षो के झुरमुट[8] और मटका न० २१ पर ऊपर की पट्टी मे गो-मूत्रि का बध के मोडो मे कीट पक्तियाँ, पल्लवित तोरण तथा नीचे की पट्टी मे खडी रेखाओ के समूहो से सीमित केवल कीट-पक्तियाँ हैं (फलक ३२, झ)[9]। पूर्वोक्त मटका न० २१ पर अन्य अभिप्रायो के साथ तोरण भी बने हैं जिनकी चोटियो से उभरते हुए कई एक वृक्ष दिखाए गए हैं। यह अलकरण प्राचीन सिंधुकालीन मुद्राओ पर बने हुए उन अश्वत्थ-तोरणो का स्मरण कराता है जिनके नीचे अश्वत्थाधिष्ठातृ-परम-देवता स्थानमुद्रा मे पाया जाता है। इसका सादृश्य मेसोपोटेमिया के उन तोरणाकार अभिप्रायो से भी है जिनके नीचे अधोलोक के देवता स्थान अथवा आसीन

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १५।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ७।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, ९।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १७।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६२, १८।
६ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, १७।
७ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, २०।
८ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, १९।
९ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६३, २१।

चौथे बैल मे वृषारूढ प्रेत सकीर्ण बैल के साथ एकात्मता प्राप्त करके तद्रूप ही हो गया है। पहले और चौथे बैल के आकार मे वस्तुत कोई भेद नही है सिवाए इसके कि चौथे बैल की पीठ मे से एक सितारा उभर रहा है जिसे प्रेत किरण रूपी डोरी से अपने पजे मे पकडे खडा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसी प्रकार का सितारा तीसरे बैल और चौथे मोर की पीठ पर से भी निकल रहा है। शेष रिक्त स्थान सितारो और अर्धांडो की टुकडियो से भरा पडा है।

निचले स्तर के चित्रित ढकने—'कब्रिस्तान-एच' के निचले स्तर की कब्रो से मिले हुए मिट्टी के ढकने भी एक मनोरजक उपलब्धि है। इन पर पशुओ और वनस्पतियो के विविध अभिप्राय तथा चित्र बने हैं। पशुओ मे लम्बे और कुटिल सीगो वाले बकरे और मोर हैं। रिक्त स्थानो मे आलिखित गौण अभिप्रायो मे मछलियाँ, सितारे, लहरिया रेखाएँ, सयुक्त पीपल के पत्ते आदि वर्णनीय हैं। इन ढकनो के मध्य मे बने हुए चित्र वृत्ताकार पट्टियो से परिवेष्टित हैं। रेखाचित्रो मे किरणमाली बिम्ब, सितारे, झालर आदि और वनस्पतियो मे पीपल, खजूर, और सयुक्त पीपल के पत्ते हैं। इनमे निम्नलिखित चित्रित ढकने विशेषत उल्लेखनीय हैं—

ढकना न० ११ (फलक ३१, क)—इस ढकने पर वृत्ताकार वलय के अन्तर्गत साथ-साथ बने हुए दो स्तम्भ हैं जिनमे से हर एक का शरीर एक दूसरे पर आरूढ चार पक्षियो का बना हुआ है[१]। दाईं ओर के पक्षी दाईं ओर और बाईं के बाईं ओर मुँह किये एक दूसरे की पीठ पर बैठे हैं। सिंधुकाल की कुम्भकला के अभिप्रायो मे यह अलकरण अद्वितीय है और इसका सम्बन्ध विदेशीय कुम्भकला के अलकरणो से है। सिंधु-प्रान्त मे इसका प्रवेश निस्सन्देह पश्चिमी एशिया से हुआ था क्योकि ऐसा दूसरा उदाहरण न तो मोहेंजो-दडो और न ही हडप्पा मे अभी तक मिला है[२]।

ढकना न० १४—इस ढकने पर रेखा-वलयित बिम्ब के अन्दर एक विचित्र सकीर्ण अभिप्राय है। मूल मे तीन मछलियाँ हैं, और हर एक मछली के सिर पर एक पीपल का पत्ता और हर पीपल के पत्ते पर बैल का सिर है। मत्स्य-पक्ति के दोनो ओर एक-एक छोटी मछली है (फलक ३१, ख)[३]।

ढकना न० १६—इस पर मध्य मे दो रेखाओ की बनी हुई सीधी पट्टी है जिसके नीचे-ऊपर लहरिया रेखाओ द्वारा झालर का-सा अलकरण बना है (फलक

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६४।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६४।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६४।

चौथे बैल मे वृषारूढ प्रेत सकीर्ण बैल के साथ एकात्मता प्राप्त करके तद्रूप ही हो गया है। पहले और चौथे बैल के आकार मे वस्तुत कोई भेद नही है सिवाए इसके कि चौथे बैल की पीठ मे से एक सितारा उभर रहा है जिसे प्रेत किरण रूपी डोरी से अपने पजे मे पकडे खडा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसी प्रकार का सितारा तीसरे बैल और चौथे मोर की पीठ पर से भी निकल रहा है। शेष रिक्त स्थान सितारो और अर्धांडो की टुकडियो से भरा पडा है।

निचले स्तर के चित्रित ढकने—'कब्रिस्तान-एच' के निचले स्तर की कब्रो से मिले हुए मिट्टी के ढकने भी एक मनोरजक उपलब्धि है। इन पर पशुओ और वनस्पतियो के विविध अभिप्राय तथा चित्र बने हैं। पशुओ मे लम्बे और कुटिल सीगो वाले बकरे और मोर हैं। रिक्त स्थानो मे आलिखित गौण अभिप्रायो मे मछलियाँ, सितारे, लहरिया रेखाएँ, सयुक्त पीपल के पत्ते आदि वर्णनीय हैं। इन ढकनो के मध्य मे बने हुए चित्र वृत्ताकार पट्टियो से परिवेष्टित हैं। रेखाचित्रो मे किरणमाली बिम्ब, सितारे, झालर आदि और वनस्पतियो मे पीपल, खजूर, और सयुक्त पीपल के पत्ते हैं। इनमे निम्नलिखित चित्रित ढकने विशेषत उल्लेखनीय हैं—

ढकना न० ११ (फलक ३१, क)—इस ढकने पर वृत्ताकार वलय के अन्तर्गत साथ-साथ बने हुए दो स्तम्भ हैं जिनमे से हर एक का शरीर एक दूसरे पर आरूढ चार पक्षियो का बना हुआ है[1]। दाईं ओर के पक्षी दाईं ओर और बाईं के बाईं ओर मुँह किये एक दूसरे की पीठ पर बैठे हैं। सिंधुकाल की कुम्भकला के अभिप्रायो मे यह अलकरण अद्वितीय है और इसका सम्बन्ध विदेशीय कुम्भकला के अलकरणो से है। सिंधु-प्रान्त मे इसका प्रवेश निस्सन्देह पश्चिमी एशिया से हुआ था क्योकि ऐसा दूसरा उदाहरण न तो मोहेंजो-दडो और न ही हडप्पा मे अभी तक मिला है[2]।

ढकना न० १४—इस ढकने पर रेखा-वलयित बिम्ब के अन्दर एक विचित्र सकीर्ण अभिप्राय है। मूल मे तीन मछलियाँ हैं, और हर एक मछली के सिर पर एक पीपल का पत्ता और हर पीपल के पत्ते पर बैल का सिर है। मत्स्य-पक्ति के दोनो ओर एक-एक छोटी मछली है (फलक ३१, ख)[3]।

ढकना न० १६—इस पर मध्य मे दो रेखाओ की बनी हुई सीधी पट्टी है जिसके नीचे-ऊपर लहरिया रेखाओ द्वारा झालर का-सा अलकरण बना है (फलक

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६४।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६४।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ २, फलक ६४।

हुई हैं, मानो इसका माँस खा रही हो। इसी प्रकार का चित्र ठीकरा न० ५ (फलक ३१, ठ)[१] पर भी बना है, जहाँ केवल एक ही मछली गोजाति के पशु की पीठ के साथ चिमटी है।

ठीकरे न० ३ और ४—इन ठीकरो पर बैल के समान किसी पशु का केवल मध्यभाग ही बचा है जिस पर बना हुआ बालो का कुटिल गुच्छा कूबड का भ्रम पैदा करता है (फलक ३२, ट)[२]। ठीकरा न० ३ पर बने हुए पशु के कूबड से एक पौधा, सम्भवत कमल का, उभर रहा है। कमल की डण्डियो मे से एक के शिखर पर कली सी दिखाई देती है। इससे भी अधिक मनोरजक ठीकरा न० ४ है जिस पर बैल सरीखे किसी पशु का धड ही शेष है[३]। यहाँ भी कूबड पर से कमल का पौधा उग रहा है जिसकी बाहर की डण्डियाँ, जो अन्दर की डण्डियो से छोटी हैं, पीछे को मुडी हुई हैं। इनकी चोटियो पर कटोरियो के आकार के बीजकोष बने हैं। बैल की पीठ पर खडा मनुष्य कमल की लम्बी डण्डियो को हाथ मे थामे है (फलक ३५, छ)। एक और ठीकरे (न० १२) पर चित्रित पशु के कूबड पर एक सकीर्ण नर-मयूर प्राणी खडा है जिसकी रोमश भुजाएँ मोर की टाँगो के समान हैं (फलक ३१, झ)[४]। ये दोनो पूर्वोक्त ठीकरे इस बात के सूचक हैं कि मृतक बैल की पीठ पर सवार होकर परलोक की यात्रा कर रहा है और सम्भव है कि उसकी इस रोमहर्षण यात्रा मे प्राण धारण करने के लिए उसके पास केवल कमल का बीजकोश ही एकमात्र पाथेय था। ठीकरा न० १२ के बाएँ किनारे पर दो कमल डण्डियाँ कूबड से उभर रही हैं परन्तु खण्डित होने के कारण इनका अभिप्राय स्पष्ट नही है।

ठीकरा न० ३९—इस ठीकरे पर एक स्तम्भ का चित्र है जिसके दोनो पार्श्व पल्लवित दिखाई देते हैं (फलक ३२, ड)[५]। आकार मे यह स्तम्भ पूर्वोक्त शव-भाँड न० २५ पर बने हुए स्तम्भ (फलक ३२, क) से बहुत मिलता है। भेद केवल इतना है कि इसके पार्श्वो से बजाय सर्पाकार कुटिल रेखाओ के पत्ते निकल रहे हैं। सम्भव है कि शव-भाँड न० १५ पर बने हुए कुटिल अलकरण भी शायद किसी प्रकार के पत्ते ही हो।

ठीकरा नं० ४६—इस ठीकरे पर कूबड वाले बैल के सामने एक मनुष्य डण्डा

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।
२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।
३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।
४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६६।
५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६६।

हुई हैं, मानो इसका मांस खा रही हो। इसी प्रकार का चित्र ठीकरा न० ५ (फलक ३१, ठ)[1] पर भी बना है, जहाँ केवल एक ही मछली गोजाति के पशु की पीठ के साथ चिमटी है।

ठीकरे न० ३ और ४—इन ठीकरो पर बैल के समान किसी पशु का केवल मध्यभाग ही बचा है जिस पर बना हुआ बालो का कुटिल गुच्छा कूबड का भ्रम पैदा करता है (फलक ३२, ट)[2]। ठीकरा न० ३ पर बने हुए पशु के कूबड से एक पौधा, सम्भवत कमल का, उभर रहा है। कमल की डण्डियो मे से एक के शिखर पर कली सी दिखाई देती है। इससे भी अधिक मनोरजक ठीकरा न० ४ है जिस पर बैल सरीखे किसी पशु का धड ही शेष है[3]। यहाँ भी कूबड पर से कमल का पौधा उग रहा है जिसकी बाहर की डण्डियाँ, जो अन्दर की डण्डियो से छोटी हैं, पीछे को मुडी हुई हैं। इनकी चोटियो पर कटोरियो के आकार के बीजकोष बने हैं। बैल की पीठ पर खडा मनुष्य कमल की लम्बी डण्डियो को हाथ मे थामे है (फलक ३५, छ)। एक और ठीकरे (न० १२) पर चित्रित पशु के कूबड पर एक सकीर्ण नर-मयूर प्राणी खडा है जिसकी रोमश भुजाएँ मोर की टाँगो के समान हैं (फलक ३१, झ)[4]। ये दोनो पूर्वोक्त ठीकरे इस बात के सूचक हैं कि मृतक बैल की पीठ पर सवार होकर परलोक की यात्रा कर रहा है और सम्भव है कि उसकी इस रोमहर्षण यात्रा मे प्राण धारण करने के लिए उसके पास केवल कमल का बीजकोश ही एकमात्र पाथेय था। ठीकरा न० १२ के बाएँ किनारे पर दो कमल डण्डियाँ कूबड से उभर रही हैं परन्तु खण्डित होने के कारण इनका अभिप्राय स्पष्ट नही है।

ठीकरा न० ३९—इस ठीकरे पर एक स्तम्भ का चित्र है जिसके दोनो पार्श्व पल्लवित दिखाई देते हैं (फलक ३२, ङ)[5]। आकार मे यह स्तम्भ पूर्वोक्त शव-भाँड न० २५ पर बने हुए स्तम्भ (फलक ३२, क) से बहुत मिलता है। भेद केवल इतना है कि इसके पार्श्वो से बजाय सर्पाकार कुटिल रेखाओ के पत्ते निकल रहे हैं। सम्भव है कि शव-भाँड न० १५ पर बने हुए कुटिल अलकरण भी शायद किसी प्रकार के पत्ते ही हो।

ठीकरा नं० ४६—इस ठीकरे पर कूबड वाले बैल के सामने एक मनुष्य डण्डा

---

१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।

२ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।

३ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६५।

४ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६६।

५ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रन्थ २, फलक ६६।

मण्डल में कलरव करती हुई विहग श्रेणियाँ विहार करती थीं। यहाँ मृतक की आत्मा शाश्वत परमानन्द और शान्ति मे लीन निवास करती थी। इन लोको मे पहुँचने के लिए जीव को अज्ञात कान्तारो मे से चलना पडता था जो अनेक प्रकार की विभीषिकाओ और उपद्रवो से सकुल थे। रास्ते मे इसे एक अति गम्भीर भयानक नदी भी पार करनी पडती थी जहाँ न कोई नाव और न ही मल्लाह थे। यात्रा लम्बी और भयावह थी और रास्ते मे खाने-पीने की कोई वस्तु भी नही थी। इसलिए मृतक के जीवित सम्बन्धियो का यह परम कर्त्तव्य था कि वे प्राणी को उन सब वस्तुओ से सुसज्जित करते जिनसे उसकी यात्रा सुगम हो जाती। मृतक के पारलौकिक जीवन मे इस प्रकार का विश्वास 'कब्रिस्तान-एच' के शव-भाँड 'एच-२०६ बी' के चित्रो मे चारु रूप से प्रतिबिम्बित है। इसमे दो बैलो के मध्य मे स्थित मृतक के सूक्ष्म शरीर के साथ भैंसे के सीगो वाला एक विशालकाय बकरा और इसी प्रकार के सीगो वाले दो मोर भी हैं। जैसा कि कई एक कब्रो मे उपलब्ध हुआ है कभी-कभी मृतक के उपलक्ष्य मे एक बकरा भी बलिदान किया जाता था और उसे मृतक के साथ कब्र मे दबाया जाता था। परलोक के दुर्गम मार्ग मे विश्वस्त गति वाला बकरा मृतक का बहुत उपयुक्त पथ-प्रदर्शक समझा जाता था। कभी-कभी इसी उद्देश्य से गोजाति के पशु की बलि भी दी जाती थी। इस मार्ग का सरक्षक एक कुत्ता था जो यम के श्याम और कर्बुर नाम के दो कुत्तो की तरह मृतक के मार्ग मे बाधा डालता था। सुमेर और मिश्र के प्राचीन लोग भी पितृलोक मे विश्वास रखते थे। उनके विचार में यह लोक एक दूरस्थ द्वीप था जहाँ मृतक का जीव एक द्विमुख नाविक की सहायता से ही पहुँच सकता था।

'कब्रिस्तान-एच' के लोगो की धारणा के अनुसार मृतक का जीव तब तक पितृलोक मे प्रवेश नही कर सकता था जब तक कि उसका सूक्ष्म शरीर अशत मयूराकार[1] न बन जाता था। इस आशिक परिवर्तन के बिना शाश्वत केवलानन्दमय लोक मे उसका प्रवेश असम्भव था। शव-भाँड एच-२०६ (ए) और २०६ (बी) पर बने हुए चित्र बतलाते हैं कि मोर इहलोक और परलोक मे सम्बन्ध जोडने का एकमात्र साधन था। शव-भाँड 'एच-२०६ ए' पर बने हुए तीन मोर मृतक को अपने शरीरो मे धारण किये ग्रहगण से आलोकित अन्तरिक्ष मे उड रहे हैं, और शव-भाँड '२०६ बी' पर यही दिव्य पक्षी पशुओ के बीच मृतक के आगे-पीछे फुदकते हुए परलोक मार्ग मे उसके सहायक बन रहे हैं। मटका न० ७४३५ (ई) पर इन पथ-प्रदर्शको का विशद

---

१ ऋग्वेद और अथर्ववेद में उल्लेख है कि मयूरी मे विष का जानने और विष-दोष दूर करने की अद्भुत शक्ति है।

मण्डल में कलरव करती हुई विहग श्रेणियाँ विहार करती थीं। यहाँ मृतक की आत्मा शाश्वत परमानन्द और शान्ति मे लीन निवास करती थी। इन लोको मे पहुँचने के लिए जीव को अज्ञात कान्तारो मे से चलना पड़ता था जो अनेक प्रकार की विभीषिकाओ और उपद्रवो से सकुल थे। रास्ते मे इसे एक अति गम्भीर भयानक नदी भी पार करनी पड़ती थी जहाँ न कोई नाव और न ही मल्लाह थे। यात्रा लम्बी और भयावह थी और रास्ते मे खाने-पीने की कोई वस्तु भी नही थी। इसलिए मृतक के जीवित सम्बन्धियो का यह परम कर्त्तव्य था कि वे प्राणी को उन सब वस्तुओ से सुसज्जित करते जिनसे उसकी यात्रा सुगम हो जाती। मृतक के पारलौकिक जीवन मे इस प्रकार का विश्वास 'कब्रिस्तान-एच' के शव-भाँड 'एच-२०६ बी' के चित्रो मे चारु रूप से प्रतिबिम्बित है। इसमे दो बैलो के मध्य मे स्थित मृतक के सूक्ष्म शरीर के साथ भैंसे के सीगो वाला एक विशालकाय बकरा और इसी प्रकार के सीगो वाले दो मोर भी हैं। जैसा कि कई एक कब्रो मे उपलब्ध हुआ है कभी-कभी मृतक के उपलक्ष्य मे एक बकरा भी बलिदान किया जाता था और उसे मृतक के साथ कब्र मे दबाया जाता था। परलोक के दुर्गम मार्ग मे विश्वस्त गति वाला बकरा मृतक का बहुत उपयुक्त पथ-प्रदर्शक समझा जाता था। कभी-कभी इसी उद्देश्य से गोजाति के पशु की बलि भी दी जाती थी। इस मार्ग का सरक्षक एक कुत्ता था जो यम के श्याम और कर्बुर नाम के दो कुत्तो की तरह मृतक के मार्ग मे बाधा डालता था। सुमेर और मिश्र के प्राचीन लोग भी पितृलोक मे विश्वास रखते थे। उनके विचार में यह लोक एक दूरस्थ द्वीप था जहाँ मृतक का जीव एक द्विमुख नाविक की सहायता से ही पहुँच सकता था।

'कब्रिस्तान-एच' के लोगो की धारणा के अनुसार मृतक का जीव तब तक पितृलोक मे प्रवेश नही कर सकता था जब तक कि उसका सूक्ष्म शरीर अशत मयूराकार[1] न बन जाता था। इस आशिक परिवर्तन के बिना शाश्वत केवलानन्दमय लोक मे उसका प्रवेश असम्भव था। शव-भाँड एच-२०६ (ए) और २०६ (बी) पर बने हुए चित्र बतलाते हैं कि मोर इहलोक और परलोक मे सम्बन्ध जोड़ने का एकमात्र साधन था। शव-भाँड 'एच-२०६ ए' पर बने हुए तीन मोर मृतक को अपने शरीरो मे धारण किये ग्रहगण से आलोकित अन्तरिक्ष मे उड़ रहे हैं, और शव-भाँड '२०६ बी' पर यही दिव्य पक्षी पशुओ के बीच मृतक के आगे-पीछे फुदकते हुए परलोक मार्ग मे उसके सहायक बन रहे हैं। मटका न० ७४३५ (ई) पर इन पथ-प्रदर्शको का विशद

---

१ ऋग्वेद और अथर्ववेद में उल्लेख है कि मयूरी मे विष का जानने और विष-दोष दूर करने की अद्भुत शक्ति है।

और मछलियो के उदर मे जो बिंदु दिखलाये गये हैं वे शरीरगत निश्चेष्ट जीवन-शक्ति अथवा जीवन-तत्त्व के सूचक हैं। इन चित्रो के यथार्थ अध्ययन के लिये हमे इनके हर एक विवरण को महत्त्व देना चाहिये और उनके गूढार्थ को जानने मे यत्नशील होना आवश्यक है। ये क्षुद्र विवरण कब्रिस्तान की कुम्भकला पर एक ही रूप मे बार-बार दुहराये गये हैं, इसलिये वे निरर्थक अलकरण मात्र नही हैं। उनमे मृतक के पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध मे तत्कालीन लोगो के परम्परागत दृढ विश्वास और धारणाएं अर्न्तहित हैं।

पूर्वोक्त समालोचना के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि 'कब्रिस्तान-एच' के लोग अपने मुर्दों को कब्रो मे गाडते थे, तथापि अधोलोक मे विश्वास नही करते थे। इसके विपरीत मृतको का अग्निदाह करने वाली जातियो की तरह उनका विश्वास था कि मरणानन्तर मनुष्य की आत्मा अधोलोक मे नही किन्तु उन्नत दिव्यलोक, सम्भवत सूर्यलोक, मे सक्रमण करती है[1]।

'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला पर प्रदर्शित अभिप्रायो मे पीपल के वृक्ष का उच्च स्थान है। सिन्धुकालीन लोग इसे पवित्र ही नही किन्तु शाश्वत ज्ञान का देने वाला ब्रह्मतरु भी मानते थे। इसीलिये यह वृक्ष सिन्धुकालीन मुद्राओं और कुम्भकला पर प्रचुर सख्या मे मिलता है। परन्तु प्रतीत होता है कि 'कब्रिस्तान-एच' के लोग भी इसमे वैसी ही पूज्य भावना और निष्ठा रखते थे क्योकि इस क्षेत्र से उपलब्ध शव-भांडो तथा अन्य बर्तनो पर इसके अनन्त चित्र पाये गये हैं।

'कब्रिस्तान-एच' के निचले स्तर के बर्तनो पर जो चित्र मिले हैं उनमे मृतक का परलोक-यात्रा के दृश्य नही हैं, केवल वृक्ष, लता, पल्लव, पशु, सितारे, मछली आदि के साधारण चित्र ही पाये जाते हैं।

सूर्य-लोक में विश्वास—सिधु युग के लोगो का विश्वास था कि मरने के अनन्तर प्रेत सूर्यलोक की ओर प्रस्थान करता है। परन्तु उस लोक मे प्रवेश करने के पहले आवश्यक था कि प्रेत का शरीर अशत मोर के आकार मे बदल जाता। मोर

१ ऋग्वेद में स्वर्ग-सुख के सम्बन्ध मे वर्णन मिलता है कि स्वर्ग मे शाश्वत ज्योति और प्रबहमान सरिताएँ हैं। वहाँ स्वच्छ विहार, दिव्य भोजन, परम सन्तोष, आह्लाद, आनन्द और सब कामनाओ की सिद्धि है।

(मेकडानेल-वैदिक माईथालॉजी)

पितृगण के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करता हुआ जीव शाश्वत ""लोक वाले लोक मे पहुँचता है और उसका शरीर दिव्य प्रभामण्डल से आलोकित होता है।

(अथर्व० ११, १)

और मछलियो के उदर मे जो बिंदु दिखलाये गये हैं वे शरीरगत निश्चेष्ट जीवन-शक्ति अथवा जीवन-तत्त्व के सूचक हैं। इन चित्रो के यथार्थ अध्ययन के लिये हमे इनके हर एक विवरण को महत्त्व देना चाहिये और उनके गूढार्थ को जानने मे यत्नशील होना आवश्यक है। ये क्षुद्र विवरण कब्रिस्तान की कुम्भकला पर एक ही रूप मे बार-बार दुहराये गये हैं, इसलिये वे निरर्थक अलकरण मात्र नही हैं। उनमे मृतक के पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध मे तत्कालीन लोगो के परम्परागत दृढ विश्वास और धारणाएं अर्न्तहित हैं।

पूर्वोक्त समालोचना के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि 'कब्रिस्तान-एच' के लोग अपने मुर्दों को कब्रो मे गाडते थे, तथापि अधोलोक मे विश्वास नही करते थे। इसके विपरीत मृतको का अग्निदाह करने वाली जातियो की तरह उनका विश्वास था कि मरणानन्तर मनुष्य की आत्मा अधोलोक मे नही किन्तु उन्नत दिव्यलोक, सम्भवत सूर्यलोक, मे सक्रमण करती है[1]।

'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला पर प्रदर्शित अभिप्रायो मे पीपल के वृक्ष का उच्च स्थान है। सिन्धुकालीन लोग इसे पवित्र ही नही किन्तु शाश्वत ज्ञान का देने वाला ब्रह्मतरु भी मानते थे। इसीलिये यह वृक्ष सिन्धुकालीन मुद्राओं और कुम्भकला पर प्रचुर सख्या मे मिलता है। परन्तु प्रतीत होता है कि 'कब्रिस्तान-एच' के लोग भी इसमे वैसी ही पूज्य भावना और निष्ठा रखते थे क्योकि इस क्षेत्र से उपलब्ध शव-भांडो तथा अन्य बर्तनो पर इसके अनन्त चित्र पाये गये हैं।

'कब्रिस्तान-एच' के निचले स्तर के बर्तनो पर जो चित्र मिले हैं उनमे मृतक का परलोक-यात्रा के दृश्य नही हैं, केवल वृक्ष, लता, पल्लव, पशु, सितारे, मछली आदि के साधारण चित्र ही पाये जाते हैं।

सूर्य-लोक में विश्वास—सिधु युग के लोगो का विश्वास था कि मरने के अनन्तर प्रेत सूर्यलोक की ओर प्रस्थान करता है। परन्तु उस लोक मे प्रवेश करने के पहले आवश्यक था कि प्रेत का शरीर अशत मोर के आकार मे बदल जाता। मोर

---

१ ऋग्वेद में स्वर्ग-सुख के सम्बन्ध मे वर्णन मिलता है कि स्वर्ग मे शाश्वत ज्योति और प्रबहमान सरिताएँ हैं। वहाँ स्वच्छ विहार, दिव्य भोजन, परम सन्तोष, आह्लाद, आनन्द और सब कामनाओ की सिद्धि है।

(मेकडानेल-वैदिक माईथालॉजी)

पितृगण के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करता हुआ जीव शाश्वत ज्योति वाले लोक मे पहुँचता है और उसका शरीर दिव्य प्रभामण्डल से आलोकित होता है।

(अथर्व० ११, १)

निस्सन्देह मर्त्यलोक और सूर्यलोक के बीच सम्बन्ध जोडने मे दिव्य दूत समझा जाता था। ऊपर के वर्णन मे दिखलाया गया है कि शव-भांडो पर बने हुए चित्रो मे कही तो मोर प्रेत को अपने शरीर मे उठाये सूर्यलोक की ओर उड रहा है और कही पथ-प्रदर्शक के रूप मे परलोक-यात्रा मे उसका सहायक है। शव-भांड ७४३५ ई पर प्रेत सकीर्ण-शरीर बैलो पर सवार है और मोर उसके आगे-पीछे फुदक रहे हैं (फलक ३० ड)। ऐसा मालूम होता है कि किसी न किसी कारण से बैल, मोर, अश्वत्थ और कमल सूर्यलोक से सम्बन्ध रखते थे।

बहुत से शव-भांडो पर किरण-माली बिम्ब बने हैं जो स्पष्ट रूप से सूर्यबिम्ब के प्रतीक हैं। मोर का सूर्य के साथ साहचर्य लोक-प्रसिद्ध है क्योकि नाना रग के चदवो से अलकृत नाचते मोर के वृत्ताकार पख हठात् सौर-बिम्ब का स्मरण कराते हैं। ससार मे इस सरीखा दूसरा कोई पक्षी नही है जिसका सम्बन्ध सूर्य से जोडा जा सके। इसीलिये कई जातियो के लोग इसे सौर-पक्षी (सन् वर्ड) कहते हैं और कई कई इसके प्रति पूज्य भावना भी रखते हैं।

सिंधु युग मे अश्वत्थ भी सूर्य से सम्बन्ध रखता था। सिंधु मुद्राओ पर अश्वत्थ देवता पीपल के दोफांक तोरण के नीचे खडा दिखलाया है। तोरण के शरीर पर पीपल के पत्ते सूर्य की किरणो के समान बाहर को निखर रहे हैं (फलक १९ क)। सिंध मे चन्हुदडो के टीले की खुदाई मे जो ठीकरे मिले उनमे से कई पर बने हुए सूर्य बिम्बो पर किरणो की बजाय निखरते हुए पीपल के पत्ते हैं। इन बिम्बो को मोर बडी उत्कठा से देख रहे हैं (फलक ३३, ग)। कई ठीकरो पर पीपल की शाखाओ पर खडे मोर पत्तो पर ठोगें मारते दिखाई दे रहे हैं। सम्भवत वे वृक्ष के साथ चिमटे हुए विष-कीटों को हटाकर इसकी रक्षा कर रहे हैं (फलक ३३, ड)। ऋग्वेद मे वर्णन आता है कि मोर मे विष दूर करने की अपूर्व शक्ति है (१, २४)। भारत के प्राचीन साहित्य मे "सूर्योदय पर कमल-वन का खिल उठना और सूर्यास्त पर उसका मुंद जाना" आदि उल्लेख अनेक बार मिलते हैं। सिन्धु युग के लोग कमल के इस गुण से अच्छी प्रकार परिचित थे। इसीलिये उन्होंने सूर्य के साथ कमल के सम्बन्ध का प्रदर्शन किया है।

चिरकाल से बैल भारत मे पूज्य पशु माना जाता है। वैदिक काल मे इसे महोक्ष अथवा महर्षभ कहते थे और लोग इसके प्रति सद्भावना रखते थे। पौराणिक युग मे यही पशु शिववाहन नन्दी हुआ। सिन्धु युग मे भी यह किसी देवता का वाहन या प्रिय पशु था। क्योकि अश्वत्थ-देव सिन्धु-काल का परमदेवता था इसलिये यही अनुमान लगाना उचित है कि पालतू पशुओ मे वलिष्ठ यह भव्य पशु अश्वत्थ देवता से ही सम्बन्ध रखता था, और अश्वत्थ देवता की सूर्यदेव से एकात्मता सम्भव है।

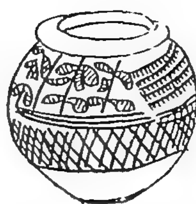
निस्सन्देह मर्त्यलोक और सूर्यलोक के बीच सम्बन्ध जोडने मे दिव्य दूत समझा जाता था। ऊपर के वर्णन मे दिखलाया गया है कि शव-भांडो पर बने हुए चित्रो मे कही तो मोर प्रेत को अपने शरीर मे उठाये सूर्यलोक की ओर उड रहा है और कही पथ-प्रदर्शक के रूप मे परलोक-यात्रा मे उसका सहायक है। शव-भांड ७४३५ ई पर प्रेत सकीर्ण-शरीर बैलो पर सवार है और मोर उसके आगे-पीछे फुदक रहे हैं (फलक ३० ङ)। ऐसा मालूम होता है कि किसी न किसी कारण से बैल, मोर, अश्वत्थ और कमल सूर्यलोक से सम्वन्व रखते थे।

बहुत से शव-भांडो पर किरण-माली विम्ब बने हैं जो स्पष्ट रूप से सूर्यबिम्ब के प्रतीक हैं। मोर का सूर्य के साथ साहचर्य लोक-प्रसिद्ध है क्योकि नाना रग के चदवो से अलकृत नाचते मोर के वृत्ताकार पख हठात् सौर-बिम्ब का स्मरण कराते हैं। ससार मे इस सरीखा दूसरा कोई पक्षी नही है जिसका सम्बन्ध सूर्य से जोडा जा सके। इसीलिये कई जातियो के लोग इसे सौर-पक्षी (सन् वर्ड) कहते हैं और कई कई इसके प्रति पूज्य भावना भी रखते हैं।

सिंधु युग मे अश्वत्थ भी सूर्य से सम्बन्ध रखता था। सिंधु मुद्राओ पर अश्वत्थ देवता पीपल के दोफांक तोरण के नीचे खडा दिखलाया है। तोरण के शरीर पर पीपल के पत्ते सूर्य की किरणो के समान बाहर को निखर रहे हैं (फलक १६ क)। सिंध मे चन्हुदडो के टीले की खुदाई मे जो ठीकरे मिले उनमे से कई पर बने हुए सूर्य बिम्बो पर किरणो की बजाय निखरते हुए पीपल के पत्ते हैं। इन विम्बो को मोर बडी उत्कठा से देख रहे हैं (फलक ३३, ग)। कई ठीकरो पर पीपल की शाखाओ पर खडे मोर पत्तो पर ठोगें मारते दिखाई दे रहे हैं। सम्भवत वे वृक्ष के साथ चिमटे हुए विष-कीटों को हटाकर इसकी रक्षा कर रहे हैं (फलक ३३, ङ)। ऋग्वेद मे वर्णन आता है कि मोर मे विष दूर करने की अपूर्व शक्ति है (१, २४)। भारत के प्राचीन साहित्य मे "सूर्योदय पर कमल-वन का खिल उठना और सूर्यास्त पर उसका मुंद जाना" आदि उल्लेख अनेक बार मिलते हैं। सिन्धु युग के लोग कमल के इस गुण से अच्छी प्रकार परिचित थे। इसीलिये उन्होंने सूर्य के साथ कमल के सम्बन्ध का प्रदर्शन किया है।

चिरकाल से बैल भारत मे पूज्य पशु माना जाता है। वैदिक काल मे इसे महोक्ष अथवा महर्षभ कहते थे और लोग इसके प्रति सद्भावना रखते थे। पौराणिक युग मे यही पशु शिववाहन नन्दी हुआ। सिन्धु युग मे भी यह किसी देवता का वाहन या प्रिय पशु था। क्योकि अश्वत्थ-देव सिन्धु-काल का परमदेवता था इसलिये यही अनुमान लगाना उचित है कि पालतू पशुओ मे वलिष्ठ यह भव्य पशु अश्वत्थ देवता से ही सम्वन्ध रखता था, और अश्वत्थ देवता की सूर्यदेव से एकात्मता सम्भव है।


क


ख


ग

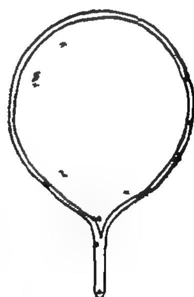

घ


ङ


च

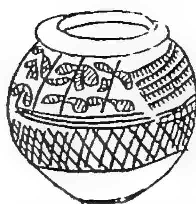

छ


ज


झ

फलक ३४ हड़प्पा—कब्रिस्तान 'आर-३७' से उत्खात शवों के साथ रखे हुए बर्तन आदि


क


ख


ग

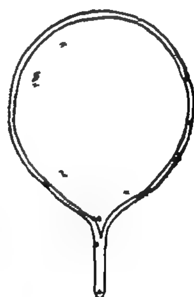

घ


ङ


च


छ


ज


झ

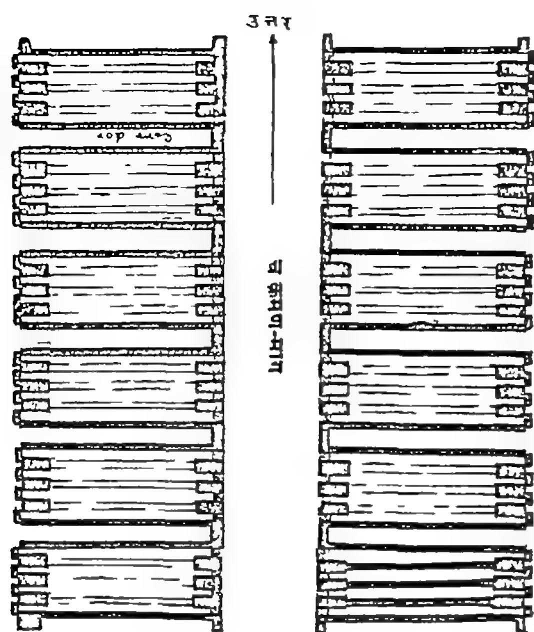
फलक ३४ हड़प्पा—कब्रिस्तान 'आर-३७' से उत्खात शवों के साथ रखे हुए बर्तन आदि

जिससे सिर के पास बहुत से बर्तन रखे जा सकें। मुर्दे के साथ रखे हुए बर्तनो की सख्या दो से चालीस तक थी। अधिकाश बर्तन उसी शैली के थे जैसे कि हडप्पा खडहर के दूसरे भागो मे पाए गये थे (फलक ३४, क-ज)।

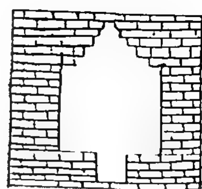
कई कब्रो मे मुर्दो के पजरो के पास कुछ भूषण भी पडे पाए गये। इनमे खडिया पत्थर के मनको से गुथे हुए हार तथा पाजेबे, कान की बालियाँ, शख की चूडियाँ और मनके आदि सम्मिलित थे। एक मानव-पजर के दाएँ हाथ की अनामिका अगुली मे ताँबे की अगूठी थी। मिट्टी के बर्तनो तथा भूषणो के अतिरिक्त शृगार की वस्तुएँ भी कब्र की सामग्री का अग थी। सन १९३७ से १९४६ तक जितनी कब्रें खोदी गईं उनमे बारह ऐसी थी जिनमे से हर एक मे ताँबे का दर्पण मिला था (फलक ३४, झ)। कई कब्रो मे सीपियाँ, अजन-शलाकाएँ और शख के चम्मच भी पाए गये। कई मुर्दों के साथ पशुओ की हड्डियाँ भी मिली थी। एक कब्र मे मुर्गे की हड्डियो के अतिरिक्त मुर्दे के पाँव के पास मिट्टी का दिया भी पडा था।

जिससे सिर के पास बहुत से वर्तन रखे जा सकें। मुर्दे के साथ रखे हुए वर्तनो की सख्या दो से चालीस तक थी। अधिकाश वर्तन उसी शैली के थे जैसे कि हड़प्पा खडहर के दूसरे भागो मे पाए गये थे (फलक ३४, क-ज)।

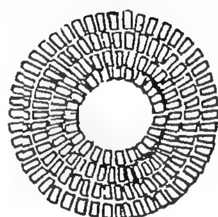
कई कब्रो मे मुर्दों के पजरो के पास कुछ भूषण भी पडे पाए गये। इनमे खडिया पत्थर के मनको से गुथे हुए हार तथा पाजेबे, कान की बालियाँ, शख की चूडियाँ और मनके आदि सम्मिलित थे। एक मानव-पजर के दाएँ हाथ की अनामिका अगुली मे ताँबे की अगूठी थी। मिट्टी के वर्तनो तथा भूषणो के अतिरिक्त शृगार की वस्तुएँ भी कब्र की सामग्री का अग थी। सन १९३७ से १९४६ तक जितनी कब्रें खोदी गईं उनमे बारह ऐसी थी जिनमे से हर एक मे ताँबे का दर्पण मिला था (फलक ३४, झ)। कई कब्रो मे सीपियाँ, अजन-शलाकाएँ और शख के चम्मच भी पाए गये। कई मुर्दों के साथ पशुओ की हड्डियाँ भी मिली थी। एक कब्र मे मुर्गे की हड्डियो के अतिरिक्त मुर्दे के पाँव के पास मिट्टी का दिया भी पडा था।



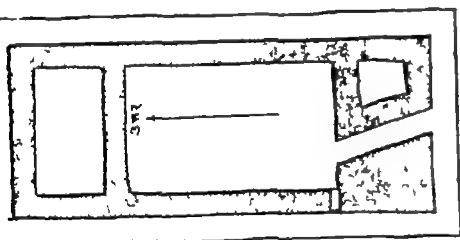
क



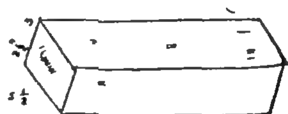
ख



ग



घ



ङ

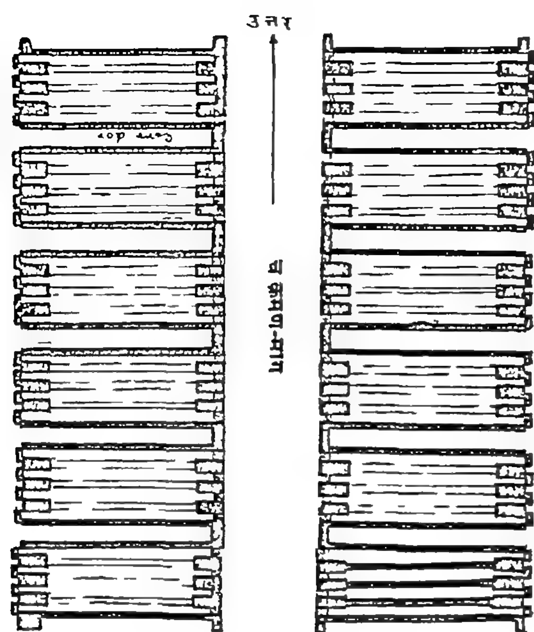


च

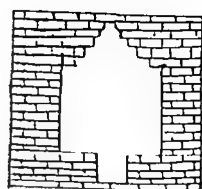


छ

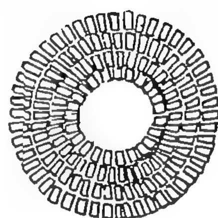
फलक ३५ हड़प्पा के प्रसिद्ध वास्तु



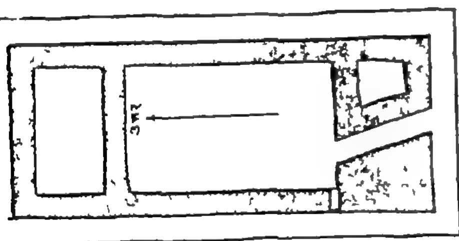
क



ख



ग



घ



ङ



च



छ

फलक ३५ हड़प्पा के प्रसिद्ध वास्तु

नालियाँ जमीदोज़ नाले मे मिलकर नगर के मल को शहर के वाहर ले जाती थी। छोटी और वडी नालियो मे कही-कही कुंड वने होते थे जहाँ पानी मे मिली हुई ठोस वस्तुएँ नीचे बैठ जाती थी और गदा पानी वेरोक-टोक आगे वह जाता था। समय-समय पर इन कुडो को साफ करने का भी प्रवन्ध था। नालियो के फर्श पक्के थे और जलस्राव रोकने के लिये इनकी दरज़ो मे कही-कही जिपसम और चूने की टीप भी पाई गई थी। छतो पर से वारिशी पानी का निकास मकानो की दीवारो मे वने हुए परनालो अथवा शृंखलावद्ध पकी मिट्टी की नलिकाओ (फलक ३५ च) के द्वारा किया जाता था।

हड़प्पा और मोहेंजो-दडो के खडहरो मे निचले स्तरो की इमारत ऊपर के स्तरो की इमारतो से वहुत उत्कृष्ट हैं। अर्थात् प्रारम्भिक और मध्ययुग की इमारतें सुयोजित, विशाल एव ठोस वनी है, परन्तु उत्तरकाल की वास्तु-कृतियाँ सकुचित, दुर्बल और वेतुकी है। इससे सिद्ध होता है कि सिधु-सभ्यता के जीवन मे पहले दो युग इस सभ्यता का अभ्युदय काल था परन्तु उत्तरकाल मे वह धीरे-धीरे अवनति की ओर लुढक रही थी। अन्तिम काल मे प्राक्तन विशाल एव सुदृढ मकान लुप्त होना शुरू हो गये और उनकी जगह छोटे और दुर्वल मकान वनाए जाने लगे। विशाल मकानो का छोटे-छोटे भागो मे विभाजन और ईंट पकाने की भट्टियो का, जो पहले शहर के वाहर थी, नगर के अदर आ जाना, इस वात का प्रतीक है कि सिधु-सभ्यता के अन्तिम काल मे नगरपालिका का नियत्रण शिथिल हो गया था। तत्कालीन ध्वंसावशेष इस वात के साक्षी हैं कि उस समय के हड़प्पा निवासी निर्धन तथा श्रमजीवी लोग थे। मोहेजो-दडो के टीलो की स्तर-रचना से पता लगता है कि उस नगर के जीवन मे कम से कम दो वार वाढ-कांड का सकट आया था। इनमे से एक मध्यकाल के अन्त मे और दूसरा उत्तरकाल के अन्त मे आया। मालूम होता है कि दूसरे वाढ-कांड ने धन-जन की भयकर हानि की और उत्तरकाल की सभ्यता को प्राय मलियामेट ही कर दिया। इस घोर सकट के कारण उच्च तथा मध्यम श्रेणी के व्यापारी और दूसरे लोग इस स्थान को सदा के लिये त्याग गये और केवल निर्धन श्रमजीवी ही यहाँ टिके रहे[1]।

हड़प्पा की जीवन कथा भी इसी प्रकार की है। इस खण्डहर की आन्तरिक स्तर-रचना से सिद्ध हो गया है कि जव 'टीला ए-वी' के चारो ओर दुर्ग-प्राकार का निर्माण हुआ तो यह स्थान भयकर वाढो का आखेट वना हुआ था। वाढ़ो का पानी उच्छ्राय-रेखा ५४० तक मार करता था जैसा कि प्राकार की नीव के नीचे नदी पक के

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रथ १, पृष्ठ १, ६।

नालियाँ जमीदोज़ नाले मे मिलकर नगर के मल को शहर के बाहर ले जाती थी। छोटी और बडी नालियो मे कही-कही कुंड बने होते थे जहाँ पानी मे मिली हुई ठोस वस्तुएँ नीचे बैठ जाती थी और गदा पानी बेरोक-टोक आगे वह जाता था। समय-समय पर इन कुडो को साफ करने का भी प्रबन्ध था। नालियो के फर्श पक्के थे और जलस्राव रोकने के लिये इनकी दरजो मे कही-कही जिपसम और चूने की टीप भी पाई गई थी। छतो पर से बारिशी पानी का निकास मकानो की दीवारो मे बने हुए परनालो अथवा शृ खलाबद्ध पकी मिट्टी की नलिकाओ (फलक ३५ च) के द्वारा किया जाता था।

हड़प्पा और मोहेंजो-दडो के खडहरो मे निचले स्तरो की इमारत ऊपर के स्तरो की इमारतो से बहुत उत्कृष्ट हैं। अर्थात् प्रारम्भिक और मध्ययुग की इमारतें सुयोजित, विशाल एव ठोस बनी है, परन्तु उत्तरकाल की वास्तु-कृतियाँ सकुचित, दुर्बल और बेतुकी है। इससे सिद्ध होता है कि सिधु-सभ्यता के जीवन मे पहले दो युग इस सभ्यता का अभ्युदय काल था परन्तु उत्तरकाल मे वह धीरे-धीरे अवनति की ओर लुढक रही थी। अन्तिम काल मे प्राक्तन विशाल एव सुदृढ मकान लुप्त होना शुरू हो गये और उनकी जगह छोटे और दुर्बल मकान बनाए जाने लगे। विशाल मकानो का छोटे-छोटे भागो मे विभाजन और ईंट पकाने की भट्टियो का, जो पहले शहर के बाहर थी, नगर के अदर आ जाना, इस बात का प्रतीक है कि सिधु-सभ्यता के अन्तिम काल मे नगरपालिका का नियत्रण शिथिल हो गया था। तत्कालीन ध्वंसावशेष इस बात के साक्षी हैं कि उस समय के हड़प्पा निवासी निर्धन तथा श्रमजीवी लोग थे। मोहेजो-दडो के टीलो की स्तर-रचना से पता लगता है कि उस नगर के जीवन मे कम से कम दो बार बाढ-कांड का सकट आया था। इनमे से एक मध्यकाल के अन्त मे और दूसरा उत्तरकाल के अन्त मे आया। मालूम होता है कि दूसरे बाढ-कांड ने धन-जन की भयकर हानि की और उत्तरकाल की सभ्यता को प्राय मलियामेट ही कर दिया। इस घोर सकट के कारण उच्च तथा मध्यम श्रेणी के व्यापारी और दूसरे लोग इस स्थान को सदा के लिये त्याग गये और केवल निर्धन श्रमजीवी ही यहाँ टिके रहे[1]।

हड़प्पा की जीवन कथा भी इसी प्रकार की है। इस खण्डहर की आन्तरिक स्तर-रचना से सिद्ध हो गया है कि जब 'टीला ए-बी' के चारो ओर दुर्ग-प्राकार का निर्माण हुआ तो यह स्थान भयकर बाढो का आखेट बना हुआ था। बाढ़ो का पानी उच्छ्राय-रेखा ५४० तक मार करता था जैसा कि प्राकार की नीव के नीचे नदी पक के

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रथ १, पृष्ठ १, ६।

चतुर्भुजाकार पाये थे, सकीर्ण वीथियो मे बाँट दिया गया था। वीथियाँ चिकनी और कठोर मिट्टी से भरी थी, परन्तु शालाओ के अन्दर जो मिट्टी का भराव था, उसमे ईंट, रोडे और ठीकरे मिले थे। वीथियाँ चक्रमण-मार्ग की ओर ईंटो से बन्द की गई थी परन्तु दूसरे सिरे पर खुली थी। इनके और पाओ के मध्य मे जो तग दरारें थी उन्हे आरम्भ मे वायु-सचार के लिये खुला छोड दिया गया था, परन्तु बाद मे ईंटो के छेददार चौपहल खम्भो से बन्द कर दिया गया था। धान्यशाला के दोनो पक्षो की उत्तरी और दक्षिणी सीमाओ की अन्तिम दीवारो के सिरो पर दृढता के लिए चौपहल पाये बने थे। दोनो पक्षो की दीवारो के चक्रमण-मार्ग वाले अन्त पर तीन फुट चौडी और एक फुट तीन इच गहरी एक बुनियादी दीवार थी। खुदाई के समय पश्चिमी पक्ष पूर्वी पक्ष की अपेक्षा अधिक सुरक्षित दशा मे था। इसकी अगभूत वीथियाँ और पाये सतह जमीन से तीन फुट की ऊँचाई तक खडे थे परन्तु शालाओ के अन्दर की पतली दीवारें प्राय नष्ट हो चुकी थी।

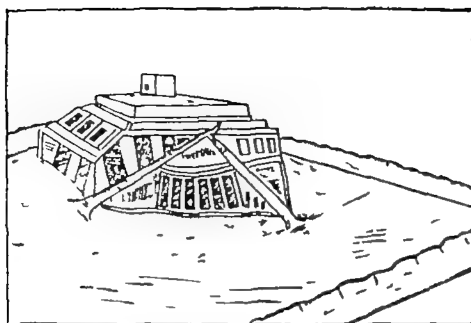
दोनो पक्ष बनावट मे परस्पर समान और एक ही आकार के बने हैं। इनकी शालाएँ और वीथियाँ एक दूसरी के बिलकुल सामने हैं। प्रतीत होता है कि उत्तर-काल मे पूर्वी पक्ष का जीर्णोद्धार किया गया था, विशेषत दक्षिणी सिरे पर, जहाँ पहली इमारत की तीन दीवारें बाद की दीवारो के नीचे दबी पडी हैं। मध्यवर्ती चक्रमण-मार्ग मे वीथियो के अन्त पर बने हुए कई एक सुदृढ पाये, दो सीढियाँ और खडी ईंटो के कुछ फर्श प्राचीन इमारत का ही अग प्रतीत होते हैं। दोनो पक्षो की एक और विलक्षणता यह है कि इनके इर्द-गिर्द एक जमीदोज़ पुश्ता दीवार के खण्ड मिले है। दक्षिणी सीमा पर यह दीवार दोनो पक्षो की लम्बाई के बराबर है, परन्तु पूर्वी और पश्चिमी सीमाओ पर इसके केवल खण्ड ही मिले थे। मार्शल के विचार मे यह इमारत एक विशाल धान्यशाला थी। इसमे सन्देह नही कि यह विचित्र वास्तु निवास गृह नही था क्योकि इसमे बहुत कम घरेलू वस्तुएँ हस्तगत हुई थी और इसकी शालाएँ ऐसे सकीर्ण भागो मे बँटी थी कि वे मनुष्य-निवास के उपयुक्त भी नही थी। अपने वर्तमान रूप मे यह स्मारक पूर्णांग इमारत की केवल पीठिका ही है जो सम्भवत भूमि के नीचे ही छिपी थी। जब शालाओ की विभाजक दीवारें वीथियो के बराबर ऊँची थी तो इनके बीच का अवकाश दन्तक मेहराब विधि (फलक ३५, ख) अथवा लकडी के बत्तो से छता जा सकता। इस प्रकार छत डाल देने से जो चबूतरा सा बन जाता था वही यथार्थ धान्यशाला थी। इसके अधोभाग मे बनी हुई तग गलियो मे वायु के निरन्तर आवागमन से धान्य सडने गलने से सुरक्षित रहता था।

शिल्पियो के निवास-गृह (फलक ३५, घ)—हडप्पा की यह विचित्र इमारत 'टीला-एफ' के खात न० ४ मे निकली थी। इसमे भी समानाकार बने हुए निवास-

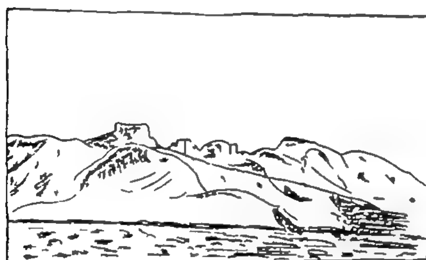
चतुर्भुजाकार पाये थे, सकीर्ण वीथियो मे बाँट दिया गया था। वीथियाँ चिकनी और कठोर मिट्टी से भरी थी, परन्तु शालाओ के अन्दर जो मिट्टी का भराव था, उसमे ईंट, रोडे और ठीकरे मिले थे। वीथियाँ चक्रमण-मार्ग की ओर ईंटो से बन्द की गई थी परन्तु दूसरे सिरे पर खुली थीं। इनके और पाओ के मध्य मे जो तग दरारें थी उन्हे आरम्भ मे वायु-सचार के लिये खुला छोड दिया गया था, परन्तु बाद मे ईंटो के छेददार चौपहल खम्भो से बन्द कर दिया गया था। धान्यशाला के दोनो पक्षो की उत्तरी और दक्षिणी सीमाओ की अन्तिम दीवारो के सिरो पर दृढता के लिए चौपहल पाये बने थे। दोनो पक्षो की दीवारो के चक्रमण-मार्ग वाले अन्त पर तीन फुट चौडी और एक फुट तीन इच गहरी एक बुनियादी दीवार थी। खुदाई के समय पश्चिमी पक्ष पूर्वी पक्ष की अपेक्षा अधिक सुरक्षित दशा मे था। इसकी अगभूत वीथियाँ और पाये सतह जमीन से तीन फुट की ऊँचाई तक खडे थे परन्तु शालाओ के अन्दर की पतली दीवारें प्राय नष्ट हो चुकी थी।

दोनो पक्ष बनावट मे परस्पर समान और एक ही आकार के बने हैं। इनकी शालाएँ और वीथियाँ एक दूसरी के बिलकुल सामने हैं। प्रतीत होता है कि उत्तर-काल मे पूर्वी पक्ष का जीर्णोद्धार किया गया था, विशेषत दक्षिणी सिरे पर, जहाँ पहली इमारत की तीन दीवारें बाद की दीवारो के नीचे दबी पडी हैं। मध्यवर्ती चक्रमण-मार्ग मे वीथियो के अन्त पर बने हुए कई एक सुदृढ पाये, दो सीढियाँ और खडी ईंटो के कुछ फर्श प्राचीन इमारत का ही अग प्रतीत होते हैं। दोनो पक्षो की एक और विलक्षणता यह है कि इनके इर्द-गिर्द एक जमीदोज़ पुश्ता दीवार के खण्ड मिले है। दक्षिणी सीमा पर यह दीवार दोनो पक्षो की लम्बाई के बराबर है, परन्तु पूर्वी और पश्चिमी सीमाओ पर इसके केवल खण्ड ही मिले थे। मार्शल के विचार मे यह इमारत एक विशाल धान्यशाला थी। इसमे सन्देह नही कि यह विचित्र वास्तु निवास गृह नही था क्योकि इसमे बहुत कम घरेलू वस्तुएँ हस्तगत हुई थी और इसकी शालाएँ ऐसे सकीर्ण भागो मे बँटी थी कि वे मनुष्य-निवास के उपयुक्त भी नही थी। अपने वर्तमान रूप मे यह स्मारक पूर्णांग इमारत की केवल पीठिका ही है जो सम्भवत भूमि के नीचे ही छिपी थी। जब शालाओ की विभाजक दीवारें वीथियो के बराबर ऊँची थी तो इनके बीच का अवकाश दन्तक मेहराब विधि (फलक ३५, ख) अथवा लकडी के वत्तो से छता जा सकता। इस प्रकार छत डाल देने से जो चबूतरा सा बन जाता था वही यथार्थ धान्यशाला थी। इसके अधोभाग मे बनी हुई तग गलियो मे वायु के निरन्तर आवागमन से धान्य सडने गलने से सुरक्षित रहता था।

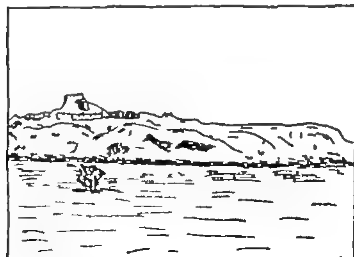
शिल्पियो के निवास-गृह (फलक ३५, घ)—हडप्पा की यह विचित्र इमारत 'टीला-एफ' के खात न० ४ मे निकली थी। इसमे भी समानाकार बने हुए निवास-

क  I

ZIGGURET AT UR
'उर' नगर का पीठ मन्दिर

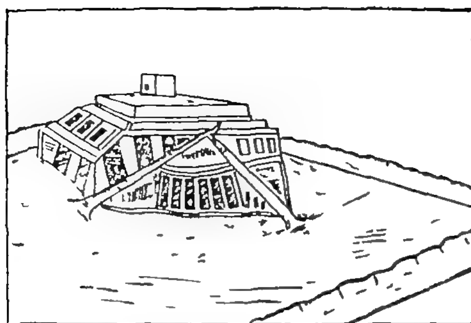
ख  2

RUINS OF TOWER OF BABEL
बाबल के विख्यात पीठ मन्दिर के ध्वस

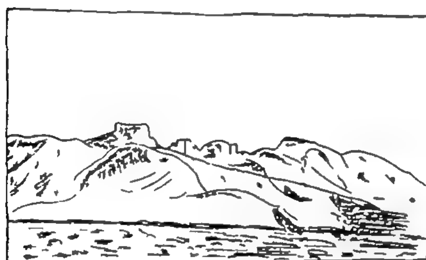
ग  3

STUPA MOUND (Mohenjo-Daro)
स्तूप-टीला (मोहेंजो-दडो)

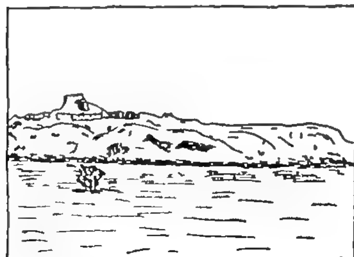
फलक ३६ मेसोपोटेमिया के जिग्गुरत और मोहेंजो-दडो का स्तूप-टीला

क  I

ZIGGURET AT UR
'उर' नगर का पीठ मन्दिर

ख  2

RUINS OF TOWER OF BABEL
बाबल के विख्यात पीठ मन्दिर के ध्वस

ग  3

STUPA MOUND (Mohenjo-Daro)
स्तूप-टीला (मोहेंजो-दडो)

फलक ३६ मेसोपोटेमिया के जिग्गुरत और मोहेंजो-दडो का स्तूप-टीला

गोल चबूतरे—हडप्पा की विलक्षण इमारतो मे अठारह गोल चबूतरे भी हैं जो 'टीला-एफ' के खात न० ४ और ५ मे बिखरे पडे हैं। वे परस्पर समानाकार और समानान्तर हैं (फलक ३५, ग)। हर एक चबूतरा व्यास मे ११ फुट खडी ईंटो के समान केन्द्र चार वृत्तो का बना है, इसका फर्श, जो मध्य मे खोखला है, गहराई मे केवल एक ईंट मोटा है। मध्यवर्ती खाली स्थानो मे कुछ नही मिला था केवल चबूतरा न० ८ मे एक सेर के लगभग पशुओ की अस्थियाँ, गली सडी गदम के कुछ ढेले और दूसरे धान्यकरण उपलब्ध हुए थे। चबूतरे क्योकि खुले स्थान मे पक्तिबद्ध बने थे इसलिये प्रतीत होता है कि ये जनता के साधारण उपयोग के लिये बनाये गये थे। सन् १९४६ की खुदाई मे डा० व्हीलर ने एक नये चबूतरे की सूक्ष्म दृष्टि से खुदाई कराई थी। उनके विचार मे ये चबूतरे धान्य कूटने के लिये बने थे। वे लिखते हैं कि इनके मध्य मे ऊखल गाडा जाता था जिसमे लोग लकडी के मूसलो से धान्य कूटकर दानो को छिलके से अलग करते थे जैसे कि आजकल भी गाँव के लोग करते हैं। डा० व्हीलर का यह सुझाव परिस्थिति के बहुत अनुकूल और युक्ति सगत है। आपत्ति केवल यह है कि चबूतरो के अन्दर बाहर अथवा आस-पास कही भी गला सडा धान्य इस मात्रा मे नही मिला कि उनके पूर्वोक्त सुझाव का समर्थन हो सकता।

निवास-गृह—हडप्पा मे ऐसे वास्तु नही मिले जिन्हे हम समृद्ध लोगो के निवास-गृह कह सकें। ईंटो की लूट खसूट के कारण ये घर पुरातत्त्व विभाग की खुदाई के बहुत पहले ही नष्ट हो चुके थे। तथापि 'टीला-एफ' पर दो एक ऐसे अवशेष अवश्य मिले हैं जो तत्कालीन निवास गृहो के आकार और स्वरूप पर कुछ प्रकाश डालते हैं। इनमे से एक खात न० ६ की खुदाई मे निकला था। यह मकान लम्बाई मे १०० फुट के लगभग था परन्तु खडित होने के कारण इसकी चौडाई का पता नही लग सका। इसमे दस के करीब कमरे थे जिनमे पुरुषो और स्त्रियो के रहने के लिये पृथक् पृथक् विभाग थे। घर के बाहर साथ के खुले स्थान मे एक कुआँ था जो पडोसियो के काम भी आता था। दूसरा निवास-गृह विशाल धान्यशाला के पश्चिमी प्रसार मे निकला था। प्रतीत होता है कि लोगो के घर चौकोण होते थे जिनकी चारो भुजाओ मे अदर की ओर कमरे बनाये जाते थे और बीच का रिक्त स्थान आँगन के रूप मे व्यवहार मे आता था।

हडप्पा खडहर के भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे कम से कम छ प्राचीन कुएँ खोदे गये थे। उनके व्यास १ फुट १० इच से लेकर ७ फुट ३ इच तक हैं। फिन्नी के आकार की ईंटें केवल एक ही कुएँ मे प्रयुक्त हुई थी, बाकी सब कुएँ साबत ईंटो के ही बने हैं।

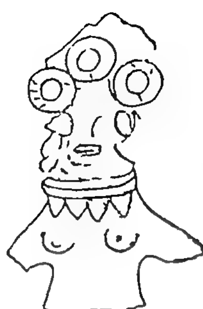
गोल चबूतरे—हडप्पा की विलक्षण इमारतो मे अठारह गोल चबूतरे भी हैं जो 'टीला-एफ' के खात न० ४ और ५ मे बिखरे पडे हैं। वे परस्पर समानाकार और समानान्तर हैं (फलक ३५, ग)। हर एक चबूतरा व्यास मे ११ फुट खडी ईंटो के समान केन्द्र चार वृत्तो का बना है, इसका फर्श, जो मध्य मे खोखला है, गहराई मे केवल एक ईंट मोटा है। मध्यवर्ती खाली स्थानो मे कुछ नही मिला था केवल चबूतरा न० ८ मे एक सेर के लगभग पशुओ की अस्थियाँ, गली सडी गदम के कुछ ढेले और दूसरे धान्यकण उपलब्ध हुए थे। चबूतरे क्योकि खुले स्थान मे पक्तिबद्ध बने थे इसलिये प्रतीत होता है कि ये जनता के साधारण उपयोग के लिये बनाये गये थे। सन् १९४६ की खुदाई मे डा० व्हीलर ने एक नये चबूतरे की सूक्ष्म दृष्टि से खुदाई कराई थी। उनके विचार मे ये चबूतरे धान्य कूटने के लिये बने थे। वे लिखते हैं कि इनके मध्य मे ऊखल गाडा जाता था जिसमे लोग लकडी के मूसलो से धान्य कूटकर दानो को छिलके से अलग करते थे जैसे कि आजकल भी गाँव के लोग करते हैं। डा० व्हीलर का यह सुझाव परिस्थिति के बहुत अनुकूल और युक्ति सगत है। आपत्ति केवल यह है कि चबूतरो के अन्दर बाहर अथवा आस-पास कही भी गला सडा धान्य इस मात्रा मे नही मिला कि उनके पूर्वोक्त सुझाव का समर्थन हो सकता।

निवास-गृह—हडप्पा मे ऐसे वास्तु नही मिले जिन्हे हम समृद्ध लोगो के निवास-गृह कह सकें। ईंटो की लूट खसूट के कारण ये घर पुरातत्त्व विभाग की खुदाई के बहुत पहले ही नष्ट हो चुके थे। तथापि 'टीला-एफ' पर दो एक ऐसे अवशेप अवश्य मिले हैं जो तत्कालीन निवास गृहो के आकार और स्वरूप पर कुछ प्रकाश डालते हैं। इनमे से एक खात न० ६ की खुदाई मे निकला था। यह मकान लम्बाई मे १०० फुट के लगभग था परन्तु खडित होने के कारण इसकी चौडाई का पता नही लग सका। इसमे दस के करीब कमरे थे जिनमे पुरुषो और स्त्रियो के रहने के लिये पृथक् पृथक् विभाग थे। घर के बाहर साथ के खुले स्थान मे एक कुआँ था जो पडोसियो के काम भी आता था। दूसरा निवास-गृह विशाल धान्यशाला के पश्चिमी प्रसार मे निकला था। प्रतीत होता है कि लोगो के घर चौकोण होते थे जिनकी चारो भुजाओ मे अदर की ओर कमरे बनाये जाते थे और बीच का रिक्त स्थान आँगन के रूप मे व्यवहार मे आता था।

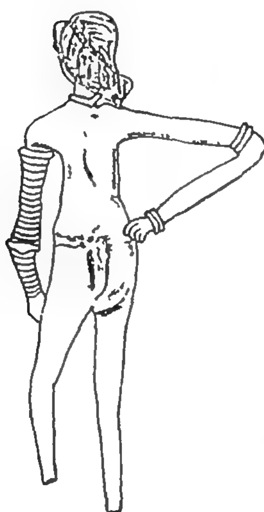
हडप्पा खडहर के भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे कम से कम छ प्राचीन कुएँ खोदे गये थे। उनके व्यास १ फुट १० इच से लेकर ७ फुट ३ इच तक हैं। फिन्नी के आकार की ईंटें केवल एक ही कुएँ मे प्रयुक्त हुई थी, बाकी सब कुएँ साबत ईंटो के ही बने हैं।


क

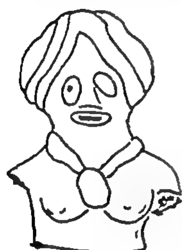

ख


ग


घ


ङ


च


छ


ज


झ


ञ

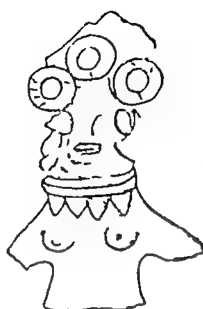

ट


ठ

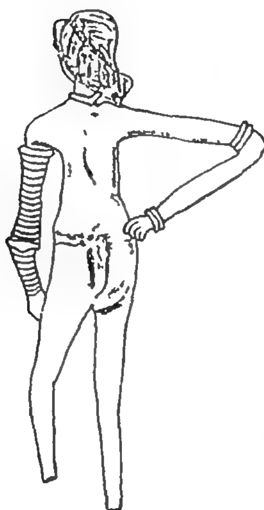
फलक ३७ सिन्धु-कालीन वेष-भूषा के कुछ उदाहरण


क


ख


ग


घ


ङ


च


छ


ज

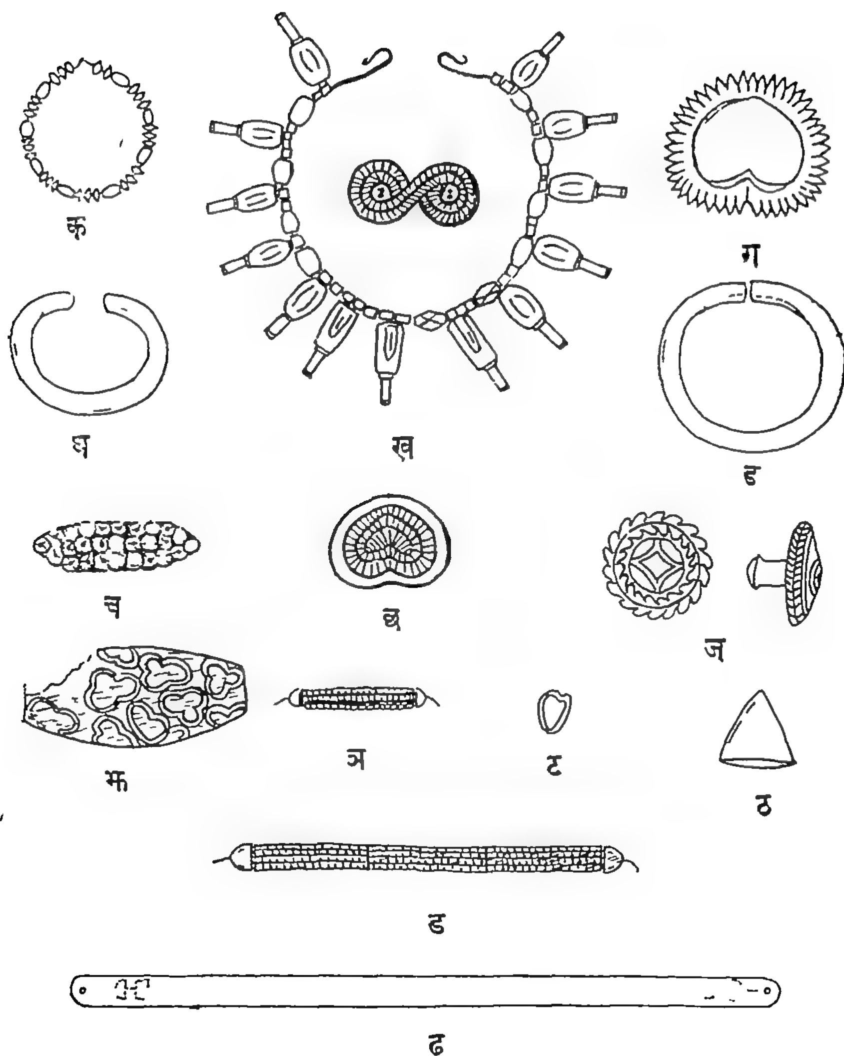

झ


ञ

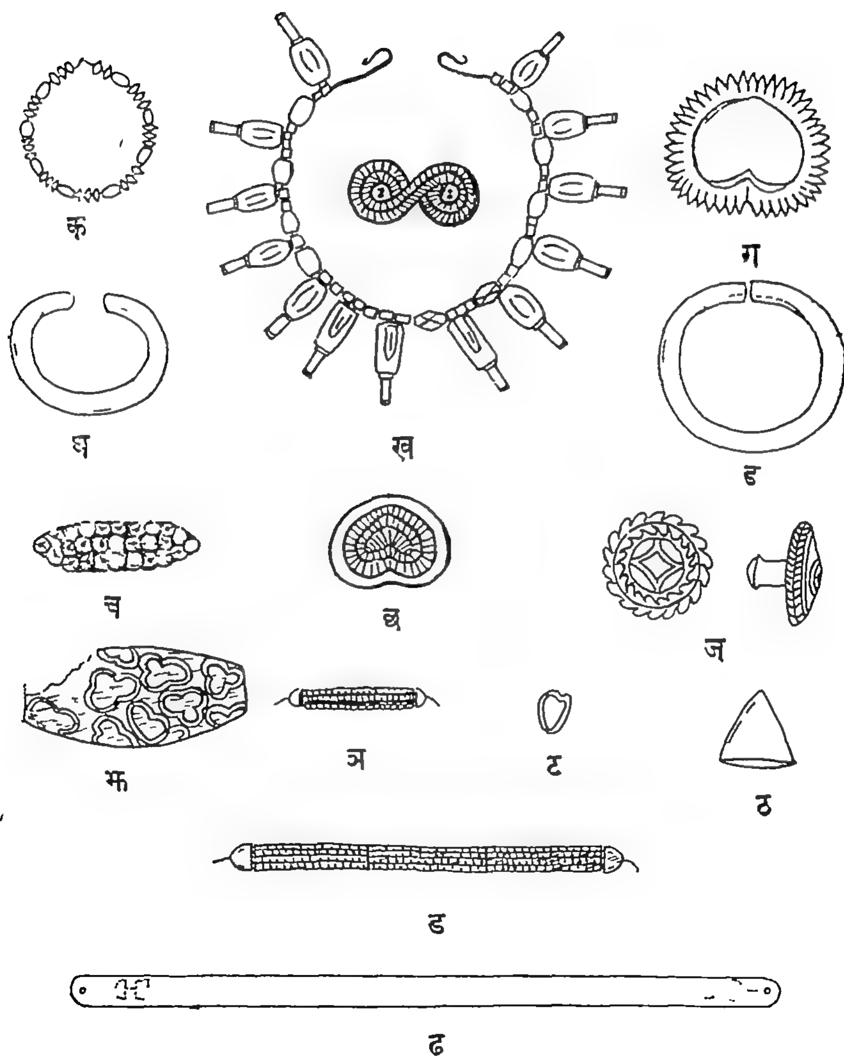

ट


ठ

फलक ३७ सिन्धु-कालीन वेष-भूषा के कुछ उदाहरण



फलक ३८ सिन्धुकालीन भूषणों के कुछ उदाहरण



फलक ३८ सिन्धुकालीन भूषणों के कुछ उदाहरण

अलकृत शाल ओढे है। एक दूसरी मूर्ति के अधोभाग मे घाघरे की तरह लम्बा कटि-वस्त्र है जिसे एक कमरबन्द से कसकर बाँधा हुआ है (फलक ३५, ठ)। इससे प्रतीत होता है कि सिन्धु-निवासियो मे उत्तम कोटि के लोग सुन्दर वस्त्र पहनते थे। आश्चर्य है कि सिन्धु-प्रान्त मे जहाँ कपास की इतनी पैदावार थी और लोग कपडा बनाना भी अच्छी प्रकार जानते थे नर-नारियो मे इतनी नग्नता हो। सम्भव है कि स्त्री पुरुषो मे इस प्रकार नग्नता दिखलाने का कोई और ही कारण हो। हड़प्पा के एक कुम्भखड पर चित्रित वहँगी वाला मनुष्य अधोभाग मे जोधपुरी पाजामो की तरह वस्त्र पहने दिखाई देता है (फलक ४३, क)। कपास सिन्धु देश की अपनी उपज थी और यहाँ से विदेशो को भी जाती थी। मेसोपोटेमिया मे भारतीय कपास को 'सिंदु' और यूनान मे 'सिंडान' के नाम से पुकारते थे। दोनो शब्दो का अर्थ 'सिन्धु' अर्थात् 'सिन्धु देश की उपज कपास' है। इस बात को दृष्टिगत करते हुए कि सिन्धु निवासी सभ्यता की कोटि मे बहुत ऊँचे थे और उनके देश मे भेड बकरियाँ भी प्रचुर सख्या मे थी, यह अनुमान लगाना कठिन नही कि इन लोगो को ऊनी कपडे बनाना भी आता था। यद्यपि प्रत्यक्षरूप से ऐसी कोई उपलब्धि नही हुई जिससे इसका समर्थन हो सके।

सिन्धुकालीन शासक जाति के लोग सुवर्ण-पत्र की बनी हुई सिंगार पट्टियाँ (नारे) माथे पर पहनते थे। हड़प्पा मे इस प्रकार की केवल एक ही पट्टी मिली थी (फलक ३८, ढ), परन्तु मोहेंजो-दडो मे कई एक हस्तगत हुई थी। इनमे से एक पट्टा के दोनो सिरो पर बारीक छेदो से उस पवित्र वेदिका की आकृति बनी है जो मुद्राओ पर एकशृग के गले के नीचे पाई जाती है। इसमे सदेह नहीं कि माथे की सिंगार पट्टी पर इस अलकरण का अभिप्राय केवल यह था कि इस पट्टी का धारण करने वाला सदा दीर्घायु, समृद्ध और शक्तिशाली बना रहे। स्मरण रहे कि सिन्धु मुद्राओ पर यह पवित्र वेदिका अश्वत्थ-देवता के प्रियपशु एकशृग से सम्बद्ध पाई जाती है।

केशवेश—सिन्धुकालीन स्त्री-मूर्तियो के सिर प्राय ऊँचे शिरोवेष्टनो से ढके हैं, इसलिये उनके केशवेश का पूरा विवरण देना कठिन है। फिर भी उनके सिरो का जो थोडा बहुत भाग दृष्टिगोचर होता है उसमे इस विषय मे कुछ न कुछ कहा ही जा सकता है। साधारणत स्त्रियो के लम्बे बाल खुले या मेढियो से गुथे हुए पीठ पर लटकते हैं। कई मेढियाँ सामने दोनो ओर छाती पर गिरती हैं, और कई कानो के पास कटोरियो और कानफूलो के इर्दगिर्द लिपटी रहती हैं। कई मूर्तियो मे घुँघराले बाल सिर के पीछे पीठ पर गिरते हैं। मोहेंजो-दडो की नर्तकी की वेणी के आकार की चोटी बाएँ कान पर से होती हुई ग्रीवा पर पड रही है (फलक ३७, ड)। इस प्रकार का केश प्रसाधन इसी मूर्ति मे देखा गया है। डा० मेके का कथन है कि मुद्राओ

अलकृत शाल ओढे है। एक दूसरी मूर्ति के अधोभाग मे घाघरे की तरह लम्बा कटि-वस्त्र है जिसे एक कमरबन्द से कसकर बाँधा हुआ है (फलक ३५, ठ)। इससे प्रतीत होता है कि सिन्धु-निवासियो मे उत्तम कोटि के लोग सुन्दर वस्त्र पहनते थे। आश्चर्य है कि सिन्धु-प्रान्त मे जहाँ कपास की इतनी पैदावार थी और लोग कपड़ा बनाना भी अच्छी प्रकार जानते थे नर-नारियो मे इतनी नग्नता हो। सम्भव है कि स्त्री पुरुपो मे इस प्रकार नग्नता दिखलाने का कोई और ही कारण हो। हड़प्पा के एक कुम्भखड पर चित्रित वहँगी वाला मनुष्य अधोभाग मे जोधपुरी पाजामो की तरह वस्त्र पहने दिखाई देता है (फलक ४३, क)। कपास सिन्धु देश की अपनी उपज थी और यहाँ से विदेशो को भी जाती थी। मेसोपोटेमिया मे भारतीय कपास को 'सिंदु' और यूनान मे 'सिडान' के नाम से पुकारते थे। दोनो शब्दो का अर्थ 'सिन्धु' अर्थात् 'सिन्धु देश की उपज कपास' है। इस बात को दृष्टिगत करते हुए कि सिन्धु निवासी सभ्यता की कोटि मे बहुत ऊँचे थे और उनके देश मे भेड बकरियाँ भी प्रचुर सख्या मे थी, यह अनुमान लगाना कठिन नही कि इन लोगो को ऊनी कपडे बनाना भी आता था। यद्यपि प्रत्यक्षरूप से ऐसी कोई उपलब्धि नही हुई जिससे इसका समर्थन हो सके।

सिन्धुकालीन शासक जाति के लोग सुवर्ण-पत्र की बनी हुई सिंगार पट्टियाँ (नारे) माथे पर पहनते थे। हड़प्पा मे इस प्रकार की केवल एक ही पट्टी मिली थी (फलक ३८, ढ), परन्तु मोहेंजो-दड़ो मे कई एक हस्तगत हुई थी। इनमे से एक पट्टा के दोनो सिरो पर बारीक छेदो से उस पवित्र वेदिका की आकृति बनी है जो मुद्राओ पर एकशृग के गले के नीचे पाई जाती है। इसमे सदेह नही कि माथे की सिंगार पट्टी पर इस अलकरण का अभिप्राय केवल यह था कि इस पट्टी का धारण करने वाला सदा दीर्घायु, समृद्ध और शक्तिशाली बना रहे। स्मरण रहे कि सिन्धु मुद्राओ पर यह पवित्र वेदिका अश्वत्थ-देवता के प्रियपशु एकशृ ग से सम्बद्ध पाई जाती है।

केशवेश—सिन्धुकालीन स्त्री-मूर्तियो के सिर प्राय ऊँचे शिरोवेष्टनो से ढके हैं, इसलिये उनके केशवेश का पूरा विवरण देना कठिन है। फिर भी उनके सिरो का जो थोड़ा बहुत भाग दृष्टिगोचर होता है उसमे इस विषय मे कुछ न कुछ कहा ही जा सकता है। साधारणत स्त्रियो के लम्बे बाल खुले या मेढियो से गुथे हुए पीठ पर लटकते हैं। कई मेढियाँ सामने दोनो ओर छाती पर गिरती हैं, और कई कानो के पास कटोरियो और कानफूलो के इर्दगिर्द लिपटी रहती हैं। कई मूर्तियो मे घुँघराले बाल सिर के पीछे पीठ पर गिरते हैं। मोहेंजो-दड़ो की नर्तकी की वेणी के आकार की चोटी बाएँ कान पर से होती हुई ग्रीवा पर पड रही है (फलक ३७, ड)। इस प्रकार का केश प्रसाधन इसी मूर्ति मे देखा गया है। डा० मेके का कथन है कि मुद्राओ

पर खुदी हुई देवियो की चोटियो के सिरे पर एक फूल सा अलकरण लगा रहता है।

हडप्पा और मोहेजो-दडो से प्राप्त मिट्टी की पुरुष-मूर्तियो का केशवेश विविध प्रकार का है। हडप्पा की दो पाषाण मूर्तियाँ केवल कवन्ध मात्र हैं इसलिये उनकी केश-रचना के सम्वन्ध मे कुछ कहना असम्भव है। परन्तु मोहेजो-दडो की पाषाण मूर्तियाँ जिनके सिर सुरक्षित हैं स्पष्टरूप से बतलाती हैं कि इस युग मे उच्च श्रेणी के मनुष्यो का केशवेश किस प्रकार का था। खडिया पत्थर की आवक्ष देवमूर्ति के सिर पर के पट्टो मे सीधी सीवन है और माथे पर सिंगार पट्टी का अलकरण है (फलक १५ ग)। इसी भाँति की दूसरी आवक्ष मूर्ति के लम्बे केश जूडे के रूप मे सिर के पीछे बँधे हुए हैं (फलक १२, क २)। कई एक मिट्टी की मूर्तियो के वाल कुँडलाकार हैं जिनमे से कुछ कुँडल सिर की चोटी पर और कुछ कानो के इर्दगिर्द लिपटे हुए हैं (फलक ३६, ड)। एक दूसरी मूर्ति ने अपनी चुटिया को दोहरा करके उसे पट्टी से बाँधा हुआ है (फलक ३६, च)। एक अन्य पुरुष के बाल ऊँचे जटाजूट के रूप मे प्रसाधित हैं (फलक ३७, ठ)।

पुरुषो की दाढियाँ प्राय छोटी और कुछ नुकीली तथा मूँछे सफाचट हैं (फलक ३६, ड-छ)। मालूम होता है कि पुरुषो मे यह सामान्य रिवाज था, यद्यपि कई मूर्तियो मे इसके विरुद्ध और प्रकार की क्षौर क्रिया के उदाहरण भी मिले हैं, जैसे पुरुषमूर्तियाँ न० २,३,४,२० आदि विना दाढी के हैं[1]। और पुरुष मस्तक न० ७ की मूँछ दाढी सब सफाचट है[2]। केवल लम्बे केश स्त्रियो की चोटी की तरह कुँडलाकार पीछे बँधे हुए हैं।

वेश-भूषा के कई रिवाज स्त्री पुरुषो में सामान्य थे। लम्बे बालो को जूडा बनाकर सिर के पीछे धारण करना और उनकी सजावट तथा उन्हे अपने स्थान पर बिठाने के लिये सूइयो का प्रयोग करना स्त्री पुरुषो मे सामान्य था। मोहेजो-दडो की एक मूर्ति के सिर पर वालो मे सूई दिखलाई गई है। बालो की सजावट के लिये पशु शीर्षक तथा कुन्तल शीर्षक सूइयाँ (फलक १२, छ-ञ) भी प्रयोग मे आती थी। दोनो पक्षो मे कघो का व्यापक प्रयोग होता था और कभी-कभी कघे सिर मे भी टँगे रहते थे। यह प्रथा अव भी उन लोगो मे प्रचलित है जो सिखो की तरह लम्बे केश धारण

---

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ७६।

२ मार्शल—मोहेजो-दडो एण्ड दि इडस वेली सिविलाइजेशन ग्र० ३, फलक ६६।

पर खुदी हुई देवियो की चोटियो के सिरे पर एक फूल सा अलकरण लगा रहता है।

हड़प्पा और मोहेजो-दडो से प्राप्त मिट्टी की पुरुष-मूर्तियो का केशवेश विविध प्रकार का है। हड़प्पा की दो पाषाण मूर्तियाँ केवल कवन्ध मात्र हैं इसलिये उनकी केश-रचना के सम्बन्ध मे कुछ कहना असम्भव है। परन्तु मोहेजो-दडो की पाषाण मूर्तियाँ जिनके सिर सुरक्षित हैं स्पष्टरूप से बतलाती हैं कि इस युग मे उच्च श्रेणी के मनुष्यो का केशवेश किस प्रकार का था। खडिया पत्थर की आवक्ष देवमूर्ति के सिर पर के पट्टो मे सीधी सीवन है और माथे पर सिंगार पट्टी का अलकरण है (फलक १५ ग)। इसी भाँति की दूसरी आवक्ष मूर्ति के लम्बे केश जूडे के रूप मे सिर के पीछे बँधे हुए हैं (फलक १२, क २)। कई एक मिट्टी की मूर्तियो के बाल कुँडलाकार हैं जिनमे से कुछ कुँडल सिर की चोटी पर और कुछ कानो के इर्दगिर्द लिपटे हुए हैं (फलक ३६, ड)। एक दूसरी मूर्ति ने अपनी चुटिया को दोहरा करके उसे पट्टी से बाँधा हुआ है (फलक ३६, च)। एक अन्य पुरुष के बाल ऊँचे जटाजूट के रूप मे प्रसाधित हैं (फलक ३७, ठ)।

पुरुषो की दाढियाँ प्राय छोटी और कुछ नुकीली तथा मूँछे सफाचट हैं (फलक ३६, ड-छ)। मालूम होता है कि पुरुषो मे यह सामान्य रिवाज था, यद्यपि कई मूर्तियो मे इसके विरुद्ध और प्रकार की क्षौर क्रिया के उदाहरण भी मिले हैं, जैसे पुरुषमूर्तियाँ न० २,३,४,२० आदि विना दाढी के हैं[1]। और पुरुष मस्तक न० ७ की मूँछ दाढी सव सफाचट है[2]। केवल लम्बे केश स्त्रियो की चोटी की तरह कुँडलाकार पीछे बँधे हुए हैं।

वेश-भूषा के कई रिवाज स्त्री पुरुषो में सामान्य थे। लम्बे बालो को जूडा बनाकर सिर के पीछे धारण करना और उनकी सजावट तथा उन्हे अपने स्थान पर बिठाने के लिये सूइयो का प्रयोग करना स्त्री पुरुषो मे सामान्य था। मोहेजो-दडो की एक मूर्ति के सिर पर बालो मे सूई दिखलाई गई है। बालो की सजावट के लिये पशु शीर्षक तथा कुन्तल शीर्षक सूइयाँ (फलक १२, छ-ञ) भी प्रयोग मे आती थी। दोनो पक्षो मे कघो का व्यापक प्रयोग होता था और कभी-कभी कघे सिर मे भी टँगे रहते थे। यह प्रथा अव भी उन लोगो मे प्रचलित है जो सिखो की तरह लम्बे केश धारण

१ मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्र० २, फलक ७६।

२ मार्शल—मोहेजो-दडो एण्ड दि इडस वेली सिविलाइजेशन ग्र० ३, फलक ६६।

१२

धात की वस्तुएँ

सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा और सीसा ये पाँच धातें सिंधु युग के लोगो को अच्छी प्रकार मालूम थी। उन्हे सोने और चाँदी के मिश्रण से बनी हुई 'एलेक्ट्रम' नाम धात का भी ज्ञान था। ताँबे और राँगे के मिश्रण से काँसा बनाना उन्हे आता था और मिश्रित धात को वे प्राकृत रूप मे खानो से भी प्राप्न करते थे। साधारणत ताँबे मे ९ से १२ प्रतिशत राँगे की मिलावट अच्छी भाँत का काँमा बनाने के लिये पर्याप्त है। परन्तु मोहेजो-दडो की कई कास्यवस्तुओ मे राँगे की मात्रा २६ प्रनिशत तक पहुँच जाती है। इससे पता लगता है कि सिंधुकालीन शिल्पियो को काँसा वनाने मे उचित अनुपात मे इन धातो के मिश्रण पर नियत्रण नही था और साधारणत वे काँसे को प्राकृतरूप मे खानो से ही प्राप्त करते थे।

सोना विविध आभूषण वनाने के काम आता था। मोहेंजो-दडो मे सोने की जो तीन सूइयाँ मिली वे एक असाधारण सोना उपलब्धि थी। कई गहने केवल सोने के ही थे, और वहुत से, जो चाँदी, पत्थर आदि के वने थे, उनमे सोना केवल अशत प्रयोग मे लाया गया था। अभी तक सोने का एक भी बर्तन सिंधु के काठे मे नही मिला। सोने के आभूषणो मे मनके, मनको की टोपियाँ, बाजूवद, चूडियाँ, कानफूल, लटकन, क्लिप, कठहार, कलाई वद, सिंगार पट्टियाँ, बालियाँ आदि सम्मिलित थी। सोने का प्रधान गुण यह है कि हजारो वर्ष मिट्टी मे दबा रहने से भी इस पर न तो जग लगता है और न ही यह अपनी दमक छोडता है। हडप्पा और मोहेजो-दडो की खुदाई मे सोने चाँदी की छोटी से छोटी वस्तु भी यथावत् सुरक्षित पाई गई थी। सिंधु कालीन खडहरो मे चाँदी की वस्तुएँ इतनी सख्या मे नही मिली जितनी कि सोने की, शायद इसलिये कि चाँदी मिट्टी मे दबी रहने से गल सड जाती है। ताँबे की तरह इस पर भी हरे रग का जग चढ जाता है और इस दशा मे चाँदी और ताँबे मे पहचान करना कठिन होता है। केवल रासायनिक शुद्धि के अनन्तर जब जग उतर जाता है तभी चाँदी और ताँबे की वस्तुओ मे भेद-प्रतीति सम्भव है। सिंधु के काठे मे भूषण या छोटे पात्र वनाने के लिये चाँदी का उपयोग किया जाता था। हडप्पा क खुदाई मे चाँदी के मनके, खोखले कगण, टोपियाँ एक छोटा पात्र तथा अन्य कई वस्तुएँ मिली थी।

१२

धात की वस्तुएँ

सोना, चाँदी, तांबा, रांगा और सीसा ये पाँच धातें सिंधु युग के लोगो को अच्छी प्रकार मालूम थी। उन्हे सोने और चाँदी के मिश्रण से बनी हुई 'एलेक्ट्रम' नाम धात का भी ज्ञान था। तांबे और रांगे के मिश्रण से कांसा बनाना उन्हे आता था और मिश्रित धात को वे प्राकृत रूप मे खानो से भी प्राप्त करते थे। साधारणत तांबे मे ९ से १२ प्रतिशत रांगे की मिलावट अच्छी भांत का कांसा बनाने के लिये पर्याप्त है। परन्तु मोहेजो-दडो की कई कास्यवस्तुओ मे रांगे की मात्रा २६ प्रतिशत तक पहुँच जाती है। इससे पता लगता है कि सिंधुकालीन शिल्पियो को काँसा वनाने मे उचित अनुपात मे इन धातो के मिश्रण पर नियत्रण नही था और साधारणत वे काँसे को प्राकृतरूप मे खानो से ही प्राप्त करते थे।

सोना विविध आभूषण वनाने के काम आता था। मोहेंजो-दडो मे सोने की जो तीन सूइयाँ मिली वे एक असाधारण सोना उपलब्धि थी। कई गहने केवल सोने के ही थे, और बहुत से, जो चाँदी, पत्थर आदि के वने थे, उनमे सोना केवल अशत प्रयोग मे लाया गया था। अभी तक सोने का एक भी वर्तन सिंधु के काठे मे नही मिला। सोने के आभूषणो मे मनके, मनको की टोपियाँ, बाजूबद, चूडियाँ, कानफूल, लटकन, क्लिप, कठहार, कलाई वद, सिंगार पट्टियाँ, वालियाँ आदि सम्मिलित थी। सोने का प्रधान गुण यह है कि हजारो वर्ष मिट्टी मे दवा रहने से भी इस पर न तो जग लगता है और न ही यह अपनी दमक छोडता है। हडप्पा और मोहेजो-दडो की खुदाई मे सोने चाँदी की छोटी से छोटी वस्तु भी यथावत् सुरक्षित पाई गई थी। सिंधु कालीन खडहरो मे चाँदी की वस्तुएँ इतनी सख्या मे नही मिली जितनी कि सोने की, शायद इसलिये कि चाँदी मिट्टी मे दबी रहने से गल सड जाती है। तांबे की तरह इस पर भी हरे रग का जग चढ जाता है और इस दशा मे चाँदी और तांबे मे पहचान करना कठिन होता है। केवल रासायनिक शुद्धि के अनन्तर जव जग उतर जाता है तभी चाँदी और तांबे की वस्तुओ मे भेद-प्रतीति सम्भव है। सिंधु के काठे मे भूषण या छोटे पात्र वनाने के लिये चाँदी का उपयोग किया जाता था। हडप्पा क खुदाई मे चाँदी के मनके, खोखले कगण, टोपियाँ एक छोटा पात्र तथा अन्य कई वस्तुएँ मिली थी।

तांबा और कांसा—शस्त्रोपकरण, वर्तन, भूषण और घरेलू उपयोग की अनन्त वस्तुएँ वनाने के लिए तांबे और कांसे का व्यापक रूप से प्रयोग होता था। सबसे प्रधान उल्लेखनीय उपलब्धि तांबे का देगचा न० २७७ था जो इसी धातु की थाली से ढका हुआ पाया गया था (फलक ४०, ग)। इसमे एक सौ से अधिक तांबे के हथियार, औजार, भूषण आदि वद थे। इसकी उपलब्धि टीला-एफ के खात न० १ के तीसरे स्तर मे सतह जमीन से ५ फुट ६ इञ्च की गहराई पर हुई थी। इसमे अधोलिखित वस्तुएँ सम्मिलित थी—

२१, कुल्हाडे (फलक ४०, ख) भालों के फल और खाल उतारने के छुरे (घ), गदाशिर, बर्छे, दो-दो मुंहे कुल्हाडे (छ), ११ छुरे (ड), तीर का फल (झ), कटार, दो आरे (ड) और दस छेनियां (च)। भूषणो मे कगण, और हारो मे पिरोने की अर्धचद्राकार टोपियां थी। इनके अतिरिक्त घरेलू उपयोग की सात वस्तुएँ थी, जैसे कटोरा, तराजू का डडा, लिखने की कलम आदि। पूर्वोक्त देगचे की पैंदी मे धुएँ की स्याही लगी थी जिससे मालूम होता था कि यह रसोई का वर्तन था और किसी आकस्मिक भय के कारण इसके स्वामी ने इसमे पूर्वोक्त वस्तुएँ डाल्कर इसे दबा दिया था।

तांबे का रथ (फलक ४०, ट)—तांवे की एक और मनोरजक वस्तु दो पहिये का नोकदार छत वाला छोटा-सा रथ है। इस पर आगे कोचवान बैठा है जिस के सिर के लवे वाल जूडे की तरह बधे हैं। उसकी बाईं भुजा ऊपर को उठी है। परन्तु हाथ के टूट जाने से पता नही लगता कि इसमे वह चाबुक पकडे था या बाग-डोर। यह खिलौना रथ सम्भवत ससार मे पहियेदार वाहन का प्राचीनतम उदाहरण है।

हडप्पा के टीलो मे तांबे की और भी कई प्रकार की वस्तुएँ मिली थी, जिनमे लेखाकिन ताम्रखड, मनके, शलाकाएँ, सूइयां, वर्तन, बबूल की फलियो के आकार के चिपटे पत्ते, तार मे बधे हुए तीन उपकरणो—सूआ, चिमटा और आरी—का गुच्छा, वर्णनीय है। इनके अतिरिक्त अन्य विविध वस्तुओ मे देगचे, कलसियां, कटोरे, थालियां, आरे, गोल घटमच, वसुला, कुल्हाडा, छेनियां, छुरे, उस्तरे (फलक ४०, ड) अजन-शलाका, दर्पण, मछली पकडने की कुंडियां (फलक ४०, थ) तीर के फल (ज), कुंडे आदि भी उल्लेखनीय हैं। मोहेजो-दडो मे तांबे की अनेक चौकोण पट्टियां मिली थी जिनके एक ओर चित्राक्षर और दूसरी ओर पशु हैं। ये लेखाकित पट्टियां तथा मनुष्यो और पशुओ की मूर्तियां मोहेंजो-दडो की विशेष उपलब्धियां हैं जो हडप्पा मे अभी तक नही मिली। तांबे की मूर्तियो मे नग्न नर्तकी विशेषतया वर्णनीय है क्योकि यह ताम्र मूर्तिकला का अपूर्व उदाहरण है (फलक ३७, ड)।

तांबा और कांसा—शस्त्रोपकरण, वर्तन, भूषण और घरेलू उपयोग की अनन्त वस्तुएँ बनाने के लिए तांबे और कांसे का व्यापक रूप से प्रयोग होता था। सबसे प्रधान उल्लेखनीय उपलब्धि तांबे का देगचा न० २७७ था जो इसी धातु की थाली से ढका हुआ पाया गया था (फलक ४०, ग)। इसमे एक सौ से अधिक तांबे के हथियार, औजार, भूषण आदि बद थे। इसकी उपलब्धि टीला-एफ के खात न० १ के तीसरे स्तर मे सतह जमीन से ५ फुट ६ इच की गहराई पर हुई थी। इसमे अधोलिखित वस्तुएँ सम्मिलित थी—

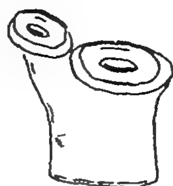
२१, कुल्हाडे (फलक ४०, ख) भालों के फल और खाल उतारने के छुरे (घ), गदाशिर, बर्छे, दो-दो मुंहे कुल्हाडे (छ), ११ छुरे (ड), तीर का फल (झ), कटार, दो आरे (ड) और दस छैणियाँ (च)। भूषणो मे कगण, और हारो मे पिरोने की अर्धचद्राकार टोपियाँ थी। इनके अतिरिक्त घरेलू उपयोग की सात वस्तुएँ थी, जैसे कटोरा, तराजू का डडा, लिखने की कलम आदि। पूर्वोक्त देगचे की पैंदी मे धुएँ की स्याही लगी थी जिससे मालूम होता था कि यह रसोई का वर्तन था और किसी आकस्मिक भय के कारण इसके स्वामी ने इसमे पूर्वोक्त वस्तुएँ डाल्कर इसे दबा दिया था।

तांबे का रथ (फलक ४०, ट)—तांबे की एक और मनोरजक वस्तु दो पहिये का नोकदार छत वाला छोटा-सा रथ है। इस पर आगे कोचवान बैठा है जिस के सिर के लवे बाल जूडे की तरह बधे हैं। उसकी बाईं भुजा ऊपर को उठी है। परन्तु हाथ के टूट जाने से पता नही लगता कि इसमे वह चाबुक पकडे था या बाग-डोर। यह खिलौना रथ सम्भवत ससार मे पहियेदार वाहन का प्राचीनतम उदाहरण है।

हडप्पा के टीलो मे तांबे की और भी कई प्रकार की वस्तुएँ मिली थी, जिनमे लेखाकिन ताम्रखड, मनके, शलाकाएँ, सूइयाँ, वर्तन, बबूल की फलियो के आकार के चिपटे पत्ते, तार मे बधे हुए तीन उपकरणो—सूआ, चिमटा और आरी—का गुच्छा, वर्णनीय है। इनके अतिरिक्त अन्य विविध वस्तुओ मे देगचे, कलसियाँ, कटोरे, थालियाँ, आरे, गोल घटमच, बसुला, कुल्हाडा, छेनियाँ, छुरे, उस्तरे (फलक ४०, ड) अजन-शलाका, दर्पण, मछली पकडने की कुंडियाँ (फलक ४०, थ) तीर के फल (ज), कुंडे आदि भी उल्लेखनीय हैं। मोहेजो-दडो मे तांबे की अनेक चौकोण पट्टियाँ मिली थी जिनके एक ओर चित्राक्षर और दूसरी ओर पशु हैं। ये लेखाकित पट्टियाँ तथा मनुष्यो और पशुओ की मूर्तियाँ मोहेंजो-दडो की विशेष उपलब्धियाँ हैं जो हडप्पा मे अभी तक नही मिली। तांबे की मूर्तियो मे नग्न नर्तकी विशेपतया वर्णनीय है क्योकि यह ताम्र मूर्तिकला का अपूर्व उदाहरण है (फलक ३७, ड)।

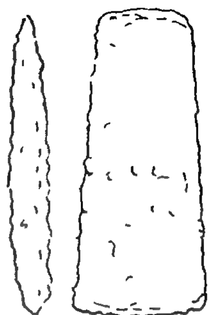


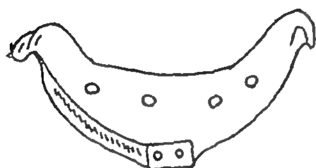


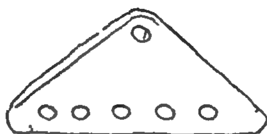


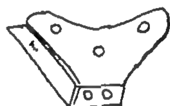






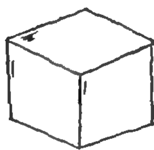


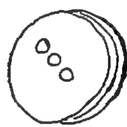








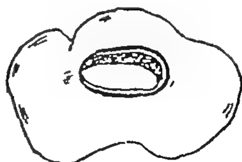








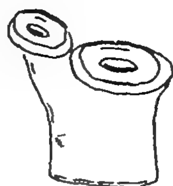




फलक ४१ घरेलू उपयोग की वस्तुएँ

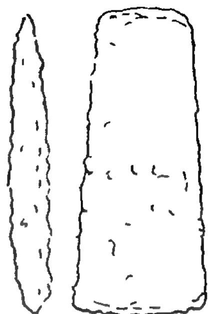


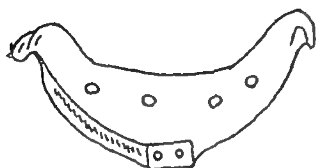


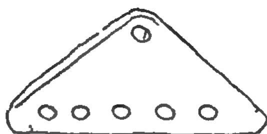


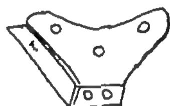






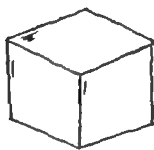


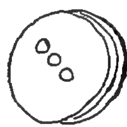








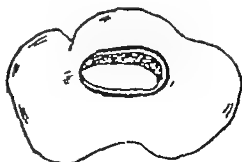












फलक ४१ घरेलू उपयोग की वस्तुएँ

मोटी, थीं, अकित था। इस पर अग्रेजी अक्षर 'वी' के आकार के चिह्नो से विभक्त चार समान भाग वने हुए थे। हर एक विभाग ० ९३४ सैंटीमीटर अर्थात् ० ३६७६ इच के करीब था जो ० ७३७ सख्या का आधा अथवा मिश्र की प्राचीन "हस्त-मान प्रणाली" (अर्थात् २ ९४७ ईच) का आठवां भाग है। फिल्डर्स पिट्री के अनुमार मिश्र की यह प्राचीन मान-प्रणाली २० ६२ इच के प्रचलित 'हस्तमान' पर आश्रित थी जिसे मिश्र के इतिहास मे 'राजकीय-हस्त' के नाम से व्यवहृत किया गया है। यह मान मिश्र के प्राक वशावली काल की राज-समाधियो के समय से प्रयोग मे आता था और 'गुडिया' पतेसी के समय मेसोपोटेमिया मे भी विदित था। पुरातत्त्व के भूतपूर्व रसायन शास्त्री श्री सनाउल्ला के मत मे यह नाप सिंधु-प्रान्त मे विदेश से आया था[1]। इसी प्रकार का एक नाप जो शख के टुकडे पर खुदा है मोहेजो दडो मे पाया गया था। इसका सादृश्य मिश्र के १३ २ इच के 'फुट' (पाद) मान से किया गया है जो प्राचीन मिश्र, लघु एशिया, यूनान, सीरिया आदि देशो मे प्रचलित था। वत्स महोदय लिखते हैं कि पूर्वोक्त दोनो नापो से हडप्पा और मोहेजो-दडो की मुख्य-मुख्य इमारतो के आयाम का परीक्षण किया गया था और इमारतो की लवाई चौडाई पूर्वोक्त नापो का सामान्य गुणनफल था। हडप्पा का नाप मिश्र के 'राजकीय-हस्तमान' के समान और मोहेजो-दडो का नाप १३ २ इच फुट-मान (पाद मान) से मिलना है। वे पुन लिखते हैं कि सम्भवत दोनो मान प्रणालियां, जिनमे से एक 'पाद मान' और दूसरी 'हस्त-मान' पर आश्रित थी, एक ही समय सिंधु-देश मे प्रचलित थी। उनका यह विचार केवल सम्भावना ही है। जव तक इस भांति के वडे नाप इस भूखड मे नही मिलते तव तक इन छोटे-टुकडो के आधार पर मिश्र से सिंधु-सम्यता का सम्बन्ध स्थापन करना अनुचित है। इनने छोटे-छोटे खड जिन पर सदिग्ध अभिप्राय के चिह्न अकित हैं वडी-वडी इमारतो के परीक्षण मे प्रामाणिक नाप नही हो सकते, और न ही इस साक्ष्य के आधार पर इनका अपना मूल्य आंका जा सकता है। अत विश्वस्तरूप से यह कहना सम्भव नही कि इन खडो पर खुदे हुए चिह्न किसी मान-प्रणाली के प्रतीक थे। हो सकता है कि ये निशान किसी और प्रयोजन के लिए लगाये गये हो।

पूर्वोक्त तांवे और कांसे के शास्त्रोपकरणो के अतिरिक्त सिंधु-कालीन लोग इस प्रयोजन के लिए पत्यर का प्रयोग भी करते थे। पत्थर के शस्त्रोपकरणो मे गदा, कुल्हाडा (फलक ४१, घ) खुरचनी (ड, च) वरमा आदि पाए गये हैं। गदा चार आकार की थी—गोल, नाशपाती नुमा, उन्नत्तोदर वृत्ताकार, और ढोल की शकल की। इन सवमे लकडी के दस्ते डालने के लिए छेद थे।

---

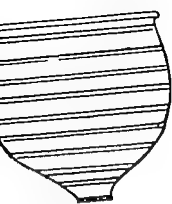
१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ १, पृष्ट ३६५।

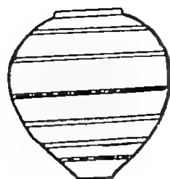
मोटी, थी, अकित था। इस पर अग्रेजी अक्षर 'वी' के आकार के चिह्नो से विभक्त चार समान भाग बने हुए थे। हर एक विभाग ० ६३४ सैंटीमीटर अर्थात् ० ३६७६ इच के करीब था जो ० ७३७ सख्या का आधा अथवा मिश्र की प्राचीन "हस्त-मान प्रणाली" (अर्थात् २ ९४७ ईच) का आठवाँ भाग है। फिल्डर्स पिट्री के अनुमार मिश्र की यह प्राचीन मान-प्रणाली २० ६२ इच के प्रचलित 'हस्तमान' पर आश्रित थी जिसे मिश्र के इतिहास मे 'राजकीय-हस्त' के नाम से व्यवहृत किया गया है। यह मान मिश्र के प्राक वशावली काल की राज-समाधियो के समय से प्रयोग मे आता था और 'गुडिया' पतेसी के समय मेसोपोटेमिया मे भी विदित था। पुरातत्त्व के भूतपूर्व रसायन शास्त्री श्री सनाउल्ला के मत मे यह नाप सिधु-प्रान्त मे विदेश से आया था[1]। इसी प्रकार का एक नाप जो शख के टुकडे पर खुदा है मोहेजो दडो मे पाया गया था। इसका सादृश्य मिश्र के १३ २ इच के 'फुट' (पाद) मान से किया गया है जो प्राचीन मिश्र, लघु एशिया, यूनान, सीरिया आदि देशो मे प्रचलित था। वत्स महोदय लिखते हैं कि पूर्वोक्त दोनो नापो से हडप्पा और मोहेजो-दडो की मुख्य-मुख्य इमारतो के आयाम का परीक्षण किया गया था और इमारतो की लबाई चौडाई पूर्वोक्त नापो का सामान्य गुणनफल था। हडप्पा का नाप मिश्र के 'राजकीय-हस्तमान' के समान और मोहेजो-दडो का नाप १३ २ इच फुट-मान (पाद मान) से मिलता है। वे पुन लिखते हैं कि सम्भवत दोनो मान प्रणालियाँ, जिनमे से एक 'पाद मान' और दूसरी 'हस्त-मान' पर आश्रित थी, एक ही समय सिधु-देश मे प्रचलित थी। उनका यह विचार केवल सम्भावना ही है। जव तक इस भाँति के वडे नाप इस भूखड मे नही मिलते तव तक इन छोटे-टुकडो के आधार पर मिश्र से सिधु-सम्यता का सम्बन्ध स्थापन करना अनुचित है। इनने छोटे-छोटे खड जिन पर सदिग्ध अभिप्राय के चिह्न अकित हैं वडी-वडी इमारतो के परीक्षण मे प्रामाणिक नाप नही हो सकते, और न ही इस साक्ष्य के आधार पर इनका अपना मूल्य आँका जा सकता है। अत विश्वस्तरूप से यह कहना सम्भव नही कि इन खडो पर खुदे हुए चिह्न किसी मान-प्रणाली के प्रतीक थे। हो सकता है कि ये निशान किसी और प्रयोजन के लिए लगाये गये हो।

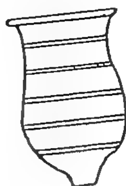
पूर्वोक्त ताँवे और काँसे के शास्त्रोपकरणो के अतिरिक्त सिधु-कालीन लोग इस प्रयोजन के लिए पत्थर का प्रयोग भी करते थे। पत्थर के शस्त्रोपकरणो मे गदा, कुल्हाडा (फलक ४१, घ) खुरचनी (ड, च) वरमा आदि पाए गये हैं। गदा चार आकार की थी—गोल, नाशपाती नुमा, उन्नत्तोदर वृत्ताकार, और ढोल की शकल की। इन सबमे लकडी के दस्ते डालने के लिए छेद थे।

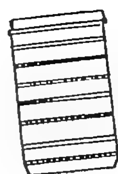
---

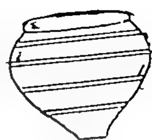
१ वत्स—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्रथ १, पृष्ट ३६५।

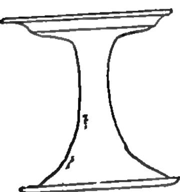




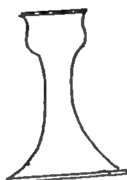






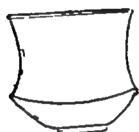




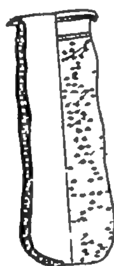






















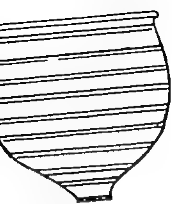


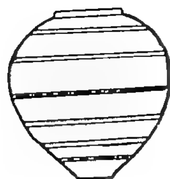


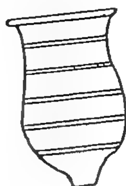


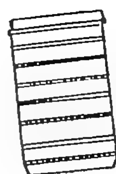


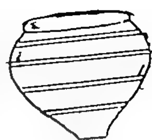
फलक ४२ सिंधु-कालीन कुम्भ-कला के कुछ उदाहरण

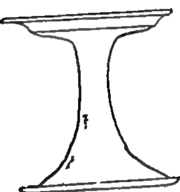




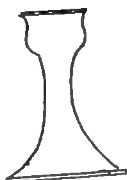






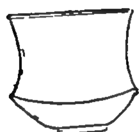




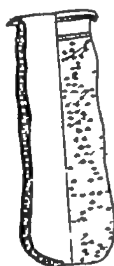






















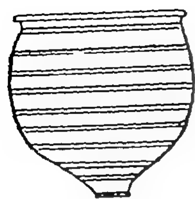


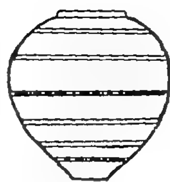




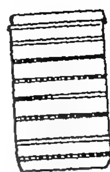


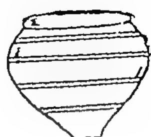
फलक ४२ सिंधु-कालीन कुम्भ-कला के कुछ उदाहरण

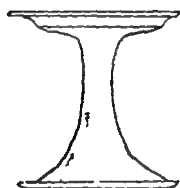

क

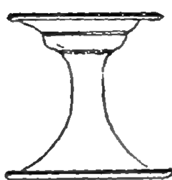

ख

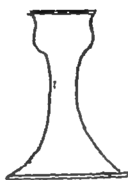

ग


घ


ङ


च


छ

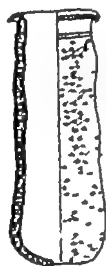

ज


झ


ञ


ट


ठ


ड


ढ


ण


त


थ


द

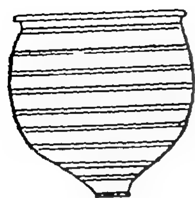

ध

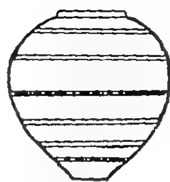

न


प

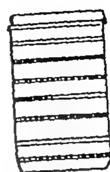


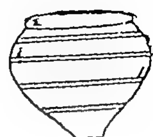
फलक ४२ सिंधु-कालीन कुम्भ-कला के कुछ उदाहरण

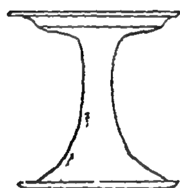

क

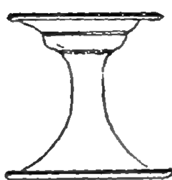

ख

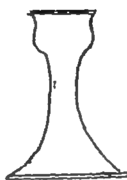

ग


घ


ङ

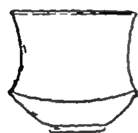

च


छ

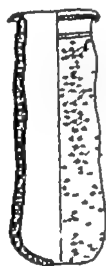

ज


झ


ञ


ट


ठ


ड


ढ


ण

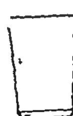

त


थ


द


ध


न


प



फलक ४२ सिंधु-कालीन कुम्भ-कला के कुछ उदाहरण

बर्तन मिले थे जिनमे सादो की सख्या बहुत अधिक थी। चित्रो के अतिरिक्त बर्तनो पर छाप वाले अथवा उत्कीर्ण अलकरण भी थे। चित्रित बर्तन बनाने के लिए पहले उन पर लाल रग का पोता चढ़ाया जाता था और इस लाल जिल्द पर काले अलकरण डाले जाते थे। भट्टी पर चढाने के पहले चित्रित बर्तन को हड्डी अथवा पत्थर के खण्ड से अच्छी प्रकार घोटा जाता था जिससे बर्तन की सतह न केवल चमकीली ही बन जाती थी, किन्तु इसमे से पानी भी नही झर सकता था। चित्र डालने के लिए जो रग प्रयोग मे आते थे वे प्राय गेरु, हरताल, ताँबा, लोहा आदि खनिज पदार्थों से प्रस्तुत किए जाते थे।

मोहेंजो-दडो की तरह हडप्पा के अधिकाश बर्तन भी चाक पर ही बने थे। हाथ के बने बर्तन प्राय क्षुद्राकार और निचले स्तरो मे ही सीमित थे। मालूम होता है कि सिंधु-कालीन लोगो को हाथ से चलाया जाने वाला निकृष्ट चाक ही मालूम था। पैर से चलाया जाने वाला उत्कृष्ट चाक सम्भवत यूनानियो अथवा पार्थियन लोगो द्वारा भारत मे लाया गया था। हाथ के चाक की अपेक्षा पैर के चाक की उत्कृष्टता सर्वविदित है। पहला धीमा है और कुम्हार को इसे बारम्बार हाथ से चलाना पडता है, परन्तु दूसरे मे यह विशेषता है कि कुम्हार इसे निरन्तर पाओ से चलाए रखता है जब कि उसके दोनो हाथ बर्तन बनाने मे व्यस्त रहते हैं। इससे वह अपना काम तीव्र गति से निर्बाध कर सकता है। चाक का प्रथम आविष्कार कहाँ और कब हुआ इस विषय मे बहुत मतभेद है। डा० हाल के मत मे इसका आविष्कार इलम मे हुआ था, परन्तु दूसरे विद्वानो मे से कई इसका श्रेय ईरान को, कई मिश्र को और कई सुमेर को देते हैं। बर्तन बनाने मे जिस चिकनी मिट्टी का प्रयोग किया गया है वह नदी पुलिन से लाई जाती थी। इसमे चूने और रेत का किंचित् मिश्रण है। पकाने के लिए बर्तनो को खुली अथवा बन्द भट्ठियो मे चिन देते थे। आज भी पजाब और सिंध के कुम्हार बर्तनो को इसी विधि से पकाते हैं।

सिंधु-कालीन कुम्भकला उच्च कोटि की है। यह ऐसे कुम्भकारो की कृति है जो परम्परा से इस व्यवसाय मे प्रवृत्त रहने के कारण प्रवीण और अनुभवी हो गए थे। यह कला अपने ढग की निराली है। इलम तथा सुमेर की कुम्भकलाओ से इसका बहुत थोडा सादृश्य है। सिन्धु-सभ्यता के केवल दो ऐसे बर्तन हैं जिनकी तुलना पश्चिमी एशिया के कुछ बर्तनो से की जा सकती है। इनमे एक तो खडी पैंदी का बलि-पात्र है (फलक ४२, च)। जिसके समान पात्र किश, उर, फारा और बाबल मे पाए गए थे। दूसरा कटोरे के आकार का खडी-मूठ का ढकना है (फलक ४२, थ) जिसके समान, रूप ढकने जमदेत नसर की कुम्भकला मे पाए गए थे।

अनाज रखने के बडे माट—हडप्पा और मोहेंजो-दडो के बर्तनो मे सब से

बर्तन मिले थे जिनमे सादो की सख्या बहुत अधिक थी। चित्रो के अतिरिक्त बर्तनो पर छाप वाले अथवा उत्कीर्ण अलकरण भी थे। चित्रित बर्तन बनाने के लिए पहले उन पर लाल रग का पोता चढ़ाया जाता था और इस लाल जिल्द पर काले अलकरण डाले जाते थे। भट्ठी पर चढाने के पहले चित्रित बर्तन को हड्डी अथवा पत्थर के खण्ड से अच्छी प्रकार घोटा जाता था जिससे बर्तन की सतह न केवल चमकीली ही बन जाती थी, किन्तु इसमे से पानी भी नही झर सकता था। चित्र डालने के लिए जो रग प्रयोग मे आते थे वे प्राय गेरु, हरताल, ताँबा, लोहा आदि खनिज पदार्थों से प्रस्तुत किए जाते थे।

मोहेजो-दडो की तरह हडप्पा के अधिकाश बर्तन भी चाक पर ही बने थे। हाथ के बने बर्तन प्राय क्षुद्राकार और निचले स्तरो मे ही सीमित थे। मालूम होता है कि सिंधु-कालीन लोगो को हाथ से चलाया जाने वाला निकृष्ट चाक ही मालूम था। पैर से चलाया जाने वाला उत्कृष्ट चाक सम्भवत यूनानियो अथवा पार्थियन लोगो द्वारा भारत मे लाया गया था। हाथ के चाक की अपेक्षा पैर के चाक की उत्कृष्टता सर्वविदित है। पहला धीमा है और कुम्हार को इसे बारम्बार हाथ से चलाना पडता है, परन्तु दूसरे मे यह विशेषता है कि कुम्हार इसे निरन्तर पाओ से चलाए रखता है जब कि उसके दोनो हाथ बर्तन बनाने मे व्यस्त रहते हैं। इससे वह अपना काम तीव्र गति से निर्बाध कर सकता है। चाक का प्रथम आविष्कार कहाँ और कब हुआ इस विषय मे बहुत मतभेद है। डा० हाल के मत मे इसका आविष्कार इलम मे हुआ था, परन्तु दूसरे विद्वानो मे से कई इसका श्रेय ईरान को, कई मिश्र को और कई सुमेर को देते हैं। बर्तन बनाने मे जिस चिकनी मिट्टी का प्रयोग किया गया है वह नदी पुलिन से लाई जाती थी। इसमे चूने और रेत का किंचित् मिश्रण है। पकाने के लिए बर्तनो को खुली अथवा बन्द भट्ठियो मे चिन देते थे। आज भी पजाब और सिंध के कुम्हार बर्तनो को इसी विधि से पकाते हैं।

सिंधु-कालीन कुम्भकला उच्च कोटि की है। यह ऐसे कुम्भकारो की कृति है जो परम्परा से इस व्यवसाय मे प्रवृत्त रहने के कारण प्रवीण और अनुभवी हो गए थे। यह कला अपने ढग की निराली है। इलम तथा सुमेर की कुम्भकलाओ से इसका बहुत थोडा सादृश्य है। सिन्धु-सभ्यता के केवल दो ऐसे बर्तन हैं जिनकी तुलना पश्चिमी एशिया के कुछ बर्तनो से की जा सकती है। इनमे एक तो खडी पैंदी का बलि-पात्र है (फलक ४२, च)। जिसके समान पात्र किश, उर, फारा और बाबल मे पाए गए थे। दूसरा कटोरे के आकार का खडी-मूठ का ढकना है (फलक ४२, थ) जिसके समान, रूप ढकने जमदेत नसर की कुम्भकला मे पाए गए थे।

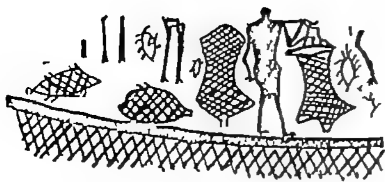
अनाज रखने के बड़े माट—हडप्पा और मोहेंजो-दडो के बर्तनो मे सब से

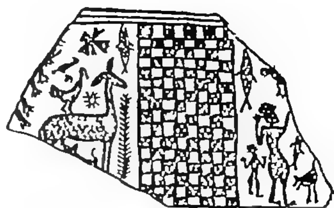
बात का समर्थन करता है कि ये मटके अवश्य किसी निश्चित योजना के अधीन भूमि में गाड़े गए थे। ये गन्दा पानी इकट्ठा करने के मलभांड नहीं थे जैसा कि कई पुरातत्त्वज्ञों का विचार है। इसकी पुष्टि में पहला प्रमाण तो यह है कि फर्श, नालियाँ और दीवारों के टुकड़े जिनके पास ये भांडे पाये गए इतने दुर्बल और अस्थायी थे कि वे मनुष्य के उपयोग के वास्तु नहीं हो सकते थे, जैसे कि मिट्टी की तिकोनी कोटियाँ जो इन मटकों में प्रचुर संख्या में पाई गईं मनुष्य के उपयोग की वस्तुएँ नहीं थीं। वे केवल वास्तविक वास्तुओं और वस्तुओं का अनुकरण मात्र थी। दूसरा कारण यह है कि मटकों के अन्दर की वस्तुएँ तथा आस-पास की मिट्टी पानी के निरन्तर गिरने से हरे रंग की हो गई थी। मार्शल तथा वत्स महोदयों ने पूर्वोक्त विलक्षणताओं का अध्ययन करके इन्हें 'अग्निदाहोत्तर-अस्थिभांड' नाम से निर्दिष्ट किया है। उनके विचार में इन भांडों में अग्निदग्ध शवों की चूर्णित अस्थियाँ थीं, जिन्हें सम्बन्धियों ने पशुबलि तथा अन्य सामग्री के साथ प्रचलित प्रथा के अनुसार इनमें गाड़ दिया था। इस विषय में डा० व्हीलर का पूर्वोक्त विद्वानों से मतभेद है। उनका कथन है कि इन तथाकथित "दाहोत्तर-अस्थिभांडों" का न तो मृतक के दाह और न ही उसकी अन्त्यक्रिया से कुछ सम्बन्ध है। मार्शल के सिद्धान्त के मूल में यह तर्क था कि क्योंकि हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो के आदि-निवासियों का कोई कब्रिस्तान नहीं मिला इसलिए इससे यही निष्कर्ष निकालना सम्भव है कि वे लोग अपने मृतकों का अग्निसंस्कार करते थे। आज भी पंजाब के कई भागों में हिन्दुओं में प्रथा है कि वे अपने अग्निदग्ध मृतकों की अस्थियों को चूर्णित करके निकटवर्ती नदी या जलाशय में फेंक देते हैं।" उनके विचार में इन भांडों में भी अग्निदग्ध शवों की चूर्णित अस्थियों का कुछ अंश गड़ा रहता था।

परन्तु जब सन् १९३७ में 'कब्रिस्तान आर-३७' की उपलब्धि हुई तो सिद्ध हो गया कि सिंधु-सभ्यता के निर्माता लोग भी अपने मृतकों को भूमि में ही गाड़ते थे, जलाते नहीं थे। अतः इन मटकों को 'दाहोत्तर-अस्थिभांड' कहना सर्वथा अनुचित है। फिर भी यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि ये मटके जिनमें समशानशाली की वस्तु-सामग्री मिली थी किसी निश्चित उद्देश्य और निर्धारित योजना के अधीन भूमि में गाड़े गए थे। इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि ये भांडे किसी धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन मृतकों की स्मृति में गाड़े गए थे जो 'कब्रिस्तान-आर-३७' या इसी प्रकार के किसी दूसरे अज्ञात कब्रिस्तान में दबाए गए थे। मालूम होता है कि मनुष्य के मर जाने पर उसके सम्बन्धी बलिरूप से वध किए हुए पशु के अंगों को शव सामग्री के साथ माट में डालकर शहर के उजाड़ भाग में दबा देते थे। माट के पास ही एक छोटी दीवार, नाली और छोटा-सा फर्श बना देते थे। नाली का एक

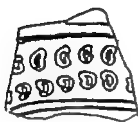
बात का समर्थन करता है कि ये मटके अवश्य किसी निश्चित योजना के अधीन भूमि मे गाडे गए थे। ये गन्दा पानी इकट्ठा करने के मलभांड नही थे जैसा कि कई पुरातत्त्वज्ञो का विचार है। इसकी पुष्टि मे पहला प्रमाण तो यह है कि फर्श, नालियां और दीवारो के टुकडे जिनके पास ये भांडे पाये गए इतने दुर्बल और अस्थायी थे कि वे मनुष्य के उपयोग के वास्तु नही हो सकते थे, जैसे कि मिट्टी की तिकोनी सोटियां जो इन मटको मे प्रचुर सख्या मे पाई गई, मनुष्य के उपयोग की वस्तुए नही थी। वे केवल वास्तविक वास्तुओ और वस्तुओ का अनुकरण मात्र थी। दूसरा कारण यह है कि मटको के अन्दर की वस्तुएं तथा आस-पास की मिट्टी पानी के निरन्तर गिरने से हरे रग की हो गई थी। मार्शल तथा वत्स महोदयो ने पूर्वोक्त विलक्षणताओं का अध्ययन करके इन्हे 'अग्निदाहोत्तर-अस्थिभांड' नाम से निर्दिष्ट किया है। उनके विचार मे इन भांडो मे अग्निदग्ध शवो की चूर्णित अस्थियां थी, जिन्हे सम्बन्धियो ने पशुवलि तथा अन्य सामग्री के साथ प्रचलित प्रथा के अनुसार इनमे गाड दिया था। इस विषय मे डा० व्हीलर का पूर्वोक्त विद्वानो से मतभेद है। उनका कथन है कि इन तथाकथित "दाहोत्तर-अस्थिभांडो" का न तो मृतक के दाह और न ही उसकी अन्त्यक्रिया से कुछ सम्बन्ध है। मार्शल के सिद्धान्त के मूल मे यह तर्क था कि क्योकि हडप्पा और मोहेंजो-दडो के आदि-निवासियो का कोई कब्रिस्तान नही मिला इसलिए इससे यही निष्कर्ष निकालना सम्भव है कि वे लोग अपने मृतको का अग्निसस्कार करते थे। आज भी पजाब के कई भागो मे हिन्दुओ मे प्रथा है कि वे अपने अग्निदग्ध मृतको की अस्थियो को चूर्णित करके निकटवर्ती नदी या जलाशय मे फैंक देते हैं।" उनके विचार मे इन भांडो मे भी अग्निदग्ध शवो की चूर्णित अस्थियो का कुछ अश गडा रहता था।

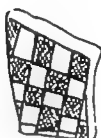
परन्तु जब सन् १९३७ मे 'कब्रिस्तान आर-३७' की उपलब्धि हुई तो सिद्ध हो गया कि सिंधु-सभ्यता के निर्माता लोग भी अपने मृतको को भूमि मे ही गाडते थे, जलाते नही थे। अत इन मटको को 'दाहोत्तर-अस्थिभांड' कहना सर्वथा अनुचित है। फिर भी यह कहने मे कोई आपत्ति नही कि ये मटके जिनमे समतनशली की वस्तु-सामग्री मिली थी किसी निश्चित उद्देश्य और निर्धारित योजना के अधीन भूमि मे गाडे गए थे। इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि ये भांडे किसी धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन मृतको की स्मृति मे गाडे गए थे जो 'कब्रिस्तान-आर-३७' या इसी प्रकार के किसी दूसरे अज्ञात कब्रिस्तान मे दबाए गए थे। मालूम होता है कि मनुष्य के मर जाने पर उसके सम्बन्धी वलिरूप से वध किए हुए पशु के अगो को शव सामग्री के साथ माट मे डालकर शहर के उजाड भाग मे दवा देते थे। माट के पास ही एक छोटी दीवार, नाली और छोटा-सा फर्श बना देते थे। नाली का एक

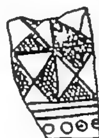

क


ख

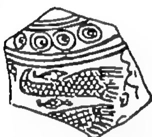

ग

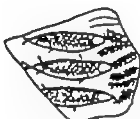

घ


ङ


च

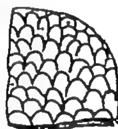

छ

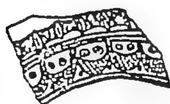

ज

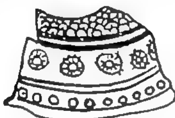

झ


ञ

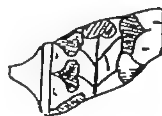

ट


ठ

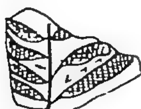

ड


ढ

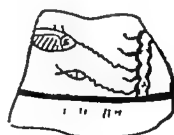

ण


त

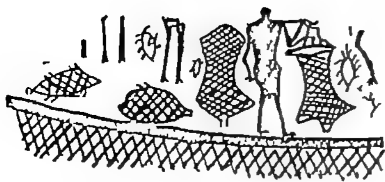

थ

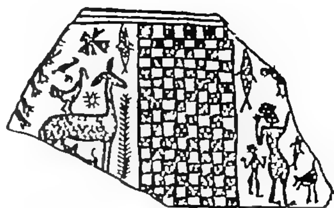

द


ध

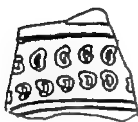

न

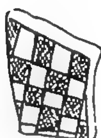
फलक ४३ सिंधु-कालीन कुम्भकला पर चित्रित अलंकरण

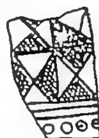

क


ख

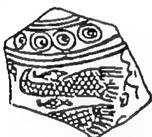

ग

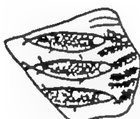

घ


ङ


च

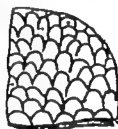

छ

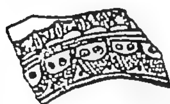

ज

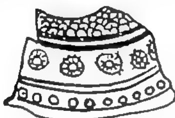

झ


ञ

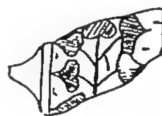

ट


ठ

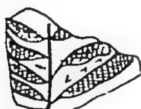

ड


ढ

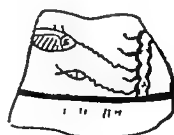

ण


त


थ


द


ध


न

फलक ४३ सिंधु-कालीन कुम्भकला पर चित्रित अलंकरण

१५

शिल्प-कला

मूर्नि तथा मुद्राओ के निर्माण मे सिंधु-निवासी विशेष प्रवीण थे। इसमे सब का ऐकमत्य है। हड्प्पा से उपलब्ध छोटी मूर्तियो से इन कलाकारो की अद्भुत चातुरी का भूरि-भूरि समर्थन होता है। ये मूर्तियाँ 'टीला-एफ' मे एक दूसरी से २५० फुट के अन्तर पर मिली थी। दोनो विना सिर और भुजाओ के हैं। इनमे न० ९०४२ लाल पत्थर की बनी हुई खडे नग्न मनुष्य की मूर्ति है (फलक ३९, क)। इसकी ऊँचाई ३ ७ इच और चौडाई २ ४ इच है। छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह एक अद्वितीय उदाहरण है। इसके अग प्रत्यग मे वास्तविकता की अपूर्व झलक है। यूनानी मूर्ति-कला से २५०० वर्ष प्राचीन होने पर भी कला-दृष्टि से यह उससे किसी बात मे निकृष्ट नही। इस मनुष्य की किंचित् बढ़ी हुई तोद, माँसल शरीर और धँसी हुई छाती से व्यक्त है कि यह चालीस या पचास वर्ष की आयु के तत्कालीन किसी भारतीय की प्रतिकृति है। कन्धो के नीचे और गर्दन पर बने हुए छेद भुजाएं और सिर पृथक् जोडने के लिए बनाए थे, परन्तु स्तनो और कन्धो पर खोखले बरमे से निकाले हुए छेद सम्भवत जडाई के लिए थे। मूर्तियो को खण्डश बनाने की यह कला प्राचीन यूनानियो और भारतीयो को अज्ञात थी।

दूसरी मूर्ति, न० ए-बी ९५९, एक नर्तक का कबन्ध है। यह काले रग के रेतीले पत्थर की बनी है (फलक ३९, ग)। इसकी ऊँचाई ३ ९ इच और चौडाई १ ५ इच है। छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह भी एक अपूर्व उदाहरण है। पहली मूर्ति की तरह इसमे भी भुजाएँ और सिर पृथक् जोडने के लिए कांख और गले मे छेद हैं। इसी प्रकार गर्दन और स्तनो मे बने हुए छोटे रध्रो मे आरम्भ मे शख, हाथी-दांत या फियाँस के टुकडे जडे थे। अपनी अद्भुत नृत्यमुद्रा तथा अग-प्रत्यग के सौष्टव के कारण यह नर्तक-मूर्ति शिल्पकला का एक अद्वितीय उदाहरण है (फलक ३९, ग)। गले की असाधारण मोटाई के कारण मार्शल महोदय लिखते हैं कि 'इस मूर्ति के तीन सिर थे और सम्भवत यह मूर्ति शिव नटेश का पूर्वरूप थी[१]।'

प्रारम्भिक राजावली काल मे मूर्ति को खण्डश बनाने की कला मेसोपोटेमिया

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दडो एण्ड दि इडस सिविलाइज़ेशन, ग्रन्थ १, पष्ठ ५२-५५।

१५

शिल्प-कला

मूर्नि तथा मुद्राओ के निर्माण मे सिंधु-निवासी विशेप प्रवीण थे । इसमे सब का ऐकमत्य है । हडप्पा से उपलब्ध छोटी मूर्तियो से इन कलाकारो की अद्‌भुत चातुरी का भूरि-भूरि समर्थन होता है । ये मूर्तियाँ 'टीला-एफ' मे एक दूसरी से २५० फुट के अन्तर पर मिली थी । दोनो विना सिर और भुजाओ के हैं । इनमे न० ९०४२ लाल पत्थर की बनी हुई खडे नग्न मनुष्य की मूर्ति है (फलक ३९, क) । इसकी ऊँचाई ३ ७ इच और चौडाई २ ४ इच है । छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह एक अद्वितीय उदाहरण है । इसके अग प्रत्यग मे वास्तविकता की अपूर्व झलक है । यूनानी मूर्ति-कला से २५०० वर्ष प्राचीन होने पर भी कला-दृष्टि से यह उससे किसी बात मे निकृष्ट नही । इस मनुष्य की किंचित् बढ़ी हुई तोद, माँसल शरीर और धँसी हुई छाती से व्यक्त है कि यह चालीस या पचास वर्ष की आयु के तत्कालीन किसी भारतीय की प्रतिकृति है । कन्धो के नीचे और गर्दन पर बने हुए छेद भुजाएं और सिर पृथक् जोडने के लिए बनाए थे, परन्तु स्तनो और कन्धो पर खोखले बरमे से निकाले हुए छेद सम्भवत जडाई के लिए थे । मूर्तियो को खण्डश बनाने की यह कला प्राचीन यूनानियो और भारतीयो को अज्ञात थी ।

दूसरी मूर्ति, न० ए-बी ९५९, एक नर्तक का कबन्ध है । यह काले रग के रेतीले पत्थर की वनी है (फलक ३९, ग) । इसकी ऊँचाई ३ ९ इच और चौडाई १ ५ इच है । छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह भी एक अपूर्व उदाहरण है । पहली मूर्ति की तरह इसमे भी भुजाएँ और सिर पृथक् जोडने के लिए काँख और गले मे छेद हैं । इसी प्रकार गर्दन और स्तनो मे वने हुए छोटे रध्रो मे आरम्भ मे शख, हाथी-दाँत या फियाँम के टुकडे जडे थे । अपनी अद्‌भुत नृत्यमुद्रा तथा अग-प्रत्यग के सौष्टव के कारण यह नर्तक-मूर्ति शिल्पकला का एक अद्वितीय उदाहरण है (फलक ३९, ग) । गले की असाधारण मोटाई के कारण मार्शल महोदय लिखते हैं कि 'इस मूर्ति के तीन सिर थे और सम्भवत यह मूर्ति शिव नटेश का पूर्वरूप थी[१] ।'

प्रारम्भिक राजावली काल मे मूर्ति को खण्डश वनाने की कला मेसोपोटेमिया

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दडो एण्ड दि इडस सिविलाइजेशन, ग्रन्थ १, पष्ठ ५२-५५ ।

१५

शिल्प-कला

मूर्ति तथा मुद्राओ के निर्माण मे सिंधु-निवासी विशेष प्रवीण थे। इसमे सब का ऐकमत्य है। हडप्पा से उपलब्ध छोटी मूर्तियो से इन कलाकारो की अद्‌भुत चातुरी का भूरि-भूरि समर्थन होता है। ये मूर्तियाँ 'टीला-एफ' मे एक दूसरी से २५० फुट के अन्तर पर मिली थी। दोनो बिना सिर और भुजाओ के हैं। इनमे न० ९०४२ लाल पत्थर की बनी हुई खडे नग्न मनुष्य की मूर्ति है (फलक ३९, क)। इसकी ऊँचाई ३ ७ इच और चौडाई २ ४ इच है। छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह एक अद्वितीय उदाहरण है। इसके अग प्रत्यग मे वास्तविकता की अपूर्व झलक है। यूनानी मूर्ति-कला से २५०० वर्ष प्राचीन होने पर भी कला-दृष्टि से यह उससे किसी बात मे निकृष्ट नही। इस मनुष्य की किंचित् बढी हुई तोद, मांसल शरीर और धँसी हुई छाती से व्यक्त है कि यह चालीस या पचास वर्ष की आयु के तत्कालीन किसी भारतीय की प्रतिकृति है। कन्धो के नीचे और गर्दन पर बने हुए छेद भुजाएँ और सिर पृथक् जोडने के लिए बनाए थे, परन्तु स्तनो और कन्धो पर खोखले बरमे से निकाले हुए छेद सम्भवत जडाई के लिए थे। मूर्तियो को खण्डश बनाने की यह कला प्राचीन यूनानियो और भारतीयो को अज्ञात थी।

दूसरी मूर्ति, न० ए-बी ९५९, एक नर्तक का कबन्ध है। यह काले रग के रेतीले पत्थर की बनी है (फलक ३९, ग)। इसकी ऊँचाई ३ ९ इच और चौडाई १ ५ इच है। छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह भी एक अपूर्व उदाहरण है। पहली मूर्ति की तरह इसमे भी भुजाएँ और सिर पृथक् जोडने के लिए कांख और गले मे छेद हैं। इसी प्रकार गर्दन और स्तनो मे बने हुए छोटे रध्रो मे आरम्भ मे शख, हाथी-दाँत या फियाँस के टुकडे जडे थे। अपनी अद्‌भुत नृत्यमुद्रा तथा अग-प्रत्यग के सौष्टव के कारण यह नर्तक-मूर्ति शिल्पकला का एक अद्वितीय उदाहरण है (फलक ३९, ग)। गले की असाधारण मोटाई के कारण मार्शल महोदय लिखते हैं कि 'इस मूर्ति के तीन सिर थे और सम्भवत यह मूर्ति शिव नटेश का पूर्वरूप थी[1]।'

प्रारम्भिक राजावली काल मे मूर्ति को खण्डश बनाने की कला मेसोपोटेमिया

१ मार्शल—मोहेंजो-दडो एण्ड दि इडस सिविलाइजेशन, ग्रन्थ १, पष्ठ ५२-५५।

१५

शिल्प-कला

मूर्ति तथा मुद्राओ के निर्माण मे सिंधु-निवासी विशेष प्रवीण थे। इसमे सब का ऐकमत्य है। हडप्पा से उपलब्ध छोटी मूर्तियो से इन कलाकारो की अद्भुत चातुरी का भूरि-भूरि समर्थन होता है। ये मूर्तियाँ 'टीला-एफ' मे एक दूसरी से २५० फुट के अन्तर पर मिली थी। दोनो बिना सिर और भुजाओ के हैं। इनमे न० ९०४२ लाल पत्थर की बनी हुई खडे नग्न मनुष्य की मूर्ति है (फलक ३९, क)। इसकी ऊँचाई ३ ७ इच और चौडाई २ ४ इच है। छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह एक अद्वितीय उदाहरण है। इसके अग प्रत्यग मे वास्तविकता की अपूर्व झलक है। यूनानी मूर्ति-कला से २५०० वर्ष प्राचीन होने पर भी कला-दृष्टि से यह उससे किसी बात मे निकृष्ट नही। इस मनुष्य की किंचित् बढी हुई तोद, मांसल शरीर और धँसी हुई छाती से व्यक्त है कि यह चालीस या पचास वर्ष की आयु के तत्कालीन किसी भारतीय की प्रतिकृति है। कन्धो के नीचे और गर्दन पर बने हुए छेद भुजाएँ और सिर पृथक् जोडने के लिए बनाए थे, परन्तु स्तनो और कन्धो पर खोखले बरमे से निकाले हुए छेद सम्भवत जडाई के लिए थे। मूर्तियो को खण्डश बनाने की यह कला प्राचीन यूनानियो और भारतीयो को अज्ञात थी।

दूसरी मूर्ति, न० ए-बी ९५९, एक नर्तक का कबन्ध है। यह काले रग के रेतीले पत्थर की बनी है (फलक ३९, ग)। इसकी ऊँचाई ३ ९ इच और चौडाई १ ५ इच है। छोटे आकार की मूर्ति-कला का यह भी एक अपूर्व उदाहरण है। पहली मूर्ति की तरह इसमे भी भुजाएँ और सिर पृथक् जोडने के लिए कांख और गले मे छेद हैं। इसी प्रकार गर्दन और स्तनो मे बने हुए छोटे रध्रो मे आरम्भ मे शख, हाथी-दांत या फियाँस के टुकडे जडे थे। अपनी अद्भुत नृत्यमुद्रा तथा अग-प्रत्यग के सौष्टव के कारण यह नर्तक-मूर्ति शिलपकला का एक अद्वितीय उदाहरण है (फलक ३९, ग)। गले की असाधारण मोटाई के कारण मार्शल महोदय लिखते हैं कि 'इस मूर्ति के तीन सिर थे और सम्भवत यह मूर्ति शिव नटेश का पूर्वरूप थी[१]।'

प्रारम्भिक राजावली काल मे मूर्ति को खण्डश बनाने की कला मेसोपोटेमिया

---

१ मार्शल—मोर्हेंजो-दडो एण्ड दि इडस सिविलाइजेशन, ग्रन्थ १, पष्ठ ५२-५५।

शाल ओढा हुआ है (फलक १५, ग)। मालूम होता है कि असली शाल पर यह अलकरण कसीदा काढ कर बनाया गया था। मोहेजो-दडो के एक भूपण-समुदाय मे सोने के तीन सूए थे जो शायद किसी विशेष प्रकार के कसीदा काढने मे व्यवहृत होते होंगे।

चित्रकारी और विलेपन (ग्लेज़)—यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि चित्रकारी एव विलेपन कलाओ मे सिंघु-कालीन लोग प्रवीण थे। इनका माध्य अधिकाश मिट्टी के बर्तन और खिलौने हैं। दो-रगी चित्रो के अतिरिक्त बहुरगी चित्रो के उदाहरण भी मिले हैं जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। विलेपन (ग्लेज़) मिट्टी के बर्तनो, फियाँस, पेस्ट आदि कई प्रकार की अलकरण-वस्तुओ पर चढाया जाता था। ग्लेज़ चढाकर जब कोई वस्तु पकाई जाती थी तो उसकी जिल्द पर एक विशेष चमक आ जाती थी। ग्लेज़ वाली वस्तुएँ गहरे स्तरो से भी मिली हैं जिससे स्पष्ट है कि सिंधु-निवासियो को इस क्रिया का ज्ञान बहुत प्राचीन-काल से था। मालूम नही कि इस कला का आविष्कार किस देश मे हुआ। इतने प्राचीन-काल की ग्लेज़ वाली कोई वस्तु किसी अन्य देश मे अभी तक नही मिली। फिर भी डा० मेके का कहना है कि भारत को इस कला के आविष्कार का श्रेय नही दिया जा सकता। सिंघु-निवासियो को यथार्थ शीशे का ज्ञान नही था, यद्यपि वे फियाँस द्रव्य से भली प्रकार परिचित थे। वेक महोदय के मतानुसार फियाँस एक मिश्रित पदार्थ था और इसके योग मे प्रधान अश क्वाट्र्ज (स्फटिक ?) पत्थर का था। वे लिखते हैं कि इस पत्थर को पीस कर और इसमे गोद, रग तथा अन्य वस्तुएँ मिलाकर इसे आग मे पकाया जाता था और अन्त मे पकी वस्तु पर ग्लेज़ का लेप चढा दिया जाता था। इस कृत्रिम द्रव्य से विविध वस्तुएँ बनती थी, जैसे गन्ध-पात्र, चूडियाँ, कर्णफूल, बटन, मुद्राएँ आदि।

सुवर्णकार की कला—सिंघु-कालीन सुवर्णकार उन्नत कोटि का कलाकार था। इसका समर्थन उन भूपण-समुदायो से होता है जो हड़प्पा और मोहेजो-दडो मे मिले। धातो को पिघलाने, जोडने, तथा मीनाकारी और जडाई के कामो मे वह सुतरां अभिज्ञ था। सकीर्ण गलहार, मेखला, सिरके काँटे, क्लिप और लटकन, बाजूबन्द, चूडियाँ, कगण, कर्णफूल, बटन आदि भूपणो को वह सुगमता से बना सकता था और सूक्ष्म जडाई के काम से इनके सौन्दर्य को बढा सकता था। इसी प्रकार पत्थर का काम करने वाले शिल्पी तथा कुँदेरे भी अपने व्यवसाय मे प्रवीण थे। वे गोमेदा (अकीक), केलसीडोनी, जैसे कठिन पत्थरो को सुगमता से घड तथा वेध सकते थे और इन पर पालिश भी चढा सकते थे। पत्थरो मे छेद निकालने के लिये दो प्रकार के बरमे प्रयोग मे आते थे। इनमे एक सूचीमुख शलाकाकार और दूसरा नलिकाकार खोखला था।

शाल ओढा हुआ है (फलक १५, ग)। मालूम होता है कि असली शाल पर यह अलकरण कसीदा काढ कर बनाया गया था। मोहेजो-दडो के एक भूषण-समुदाय मे सोने के तीन सूए थे जो शायद किसी विशेष प्रकार के कसीदा काढने मे व्यवहृत होते होंगे।

चित्रकारी और विलेपन (ग्लेज़)—यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि चित्रकारी एव विलेपन कलाओ मे सिंधु-कालीन लोग प्रवीण थे। इनका माध्य अधिकाश मिट्टी के बर्तन और खिलौने हैं। दो-रगी चित्रो के अतिरिक्त बहुरगी चित्रो के उदाहरण भी मिले हैं जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। विलेपन (ग्लेज़) मिट्टी के बर्तनो, फियाँस, पेस्ट आदि कई प्रकार की अलकरण-वस्तुओ पर चढाया जाता था। ग्लेज़ चढाकर जब कोई वस्तु पकाई जाती थी तो उसकी जिल्द पर एक विशेष चमक आ जाती थी। ग्लेज़ वाली वस्तुएँ गहरे स्तरो से भी मिली हैं जिससे स्पष्ट है कि सिंधु-निवासियो को इस क्रिया का ज्ञान बहुत प्राचीन-काल से था। मालूम नही कि इस कला का आविष्कार किस देश मे हुआ। इतने प्राचीन-काल की ग्लेज़ वाली कोई वस्तु किसी अन्य देश मे अभी तक नही मिली। फिर भी डा० मेके का कहना है कि भारत को इस कला के आविष्कार का श्रेय नही दिया जा सकता। सिंधु-निवासियो को यथार्थ शीशे का ज्ञान नही था, यद्यपि वे फियाँस द्रव्य से भली प्रकार परिचित थे। बेक महोदय के मतानुसार फियाँस एक मिश्रित पदार्थ था और इसके योग मे प्रधान अश क्वार्ट्ज़ (स्फटिक ?) पत्थर का था। वे लिखते है कि इस पत्थर को पीस कर और इसमे गोद, रग तथा अन्य वस्तुएँ मिलाकर इसे आग मे पकाया जाता था और अन्त मे पकी वस्तु पर ग्लेज़ का लेप चढा दिया जाता था। इस कृत्रिम द्रव्य से विविध वस्तुएँ बनती थी, जैसे गन्ध-पात्र, चूडियाँ, कर्णफूल, बटन, मुद्राएँ आदि।

सुवर्णकार की कला—सिंधु-कालीन सुवर्णकार उन्नत कोटि का कलाकार था। इसका समर्थन उन भूषण-समुदायो से होता है जो हड़प्पा और मोहेजो-दडो मे मिले। धातो को पिघलाने, जोडने, तथा मीनाकारी और जडाई के कामो मे वह सुतराँ अभिज्ञ था। सकीर्ण गलहार, मेखला, सिरके काँटे, क्लिप और लटकन, बाजूबन्द, चूडियाँ, कगण, कर्णफूल, बटन आदि भूषणो को वह सुगमता से बना सकता था और सूक्ष्म जडाई के काम से इनके सौन्दर्य को बढा सकता था। इसी प्रकार पत्थर का काम करने वाले शिल्पी तथा कुंदेरे भी अपने व्यवसाय मे प्रवीण थे। वे गोमेदा (अकीक), केलसीडोनी, जैसे कठिन पत्थरो को सुगमता से घड तथा वेध सकते थे और इन पर पालिश भी चढा सकते थे। पत्थरो मे छेद निकालने के लिये दो प्रकार के बरमे प्रयोग मे आते थे। इनमे एक सूचीमुख शलाकाकार और दूसरा नलिकाकार खोखला था।

१६

मनुष्य और पशुओ की मूर्तियाँ

मोहेंजो-दडो की मूर्तियो की तरह हडप्पा की अधिकाश मूर्तियाँ भी पकी मिट्टी की हैं। वे सब हाथ की बनी हैं और उनके शरीर ठोस तथा चेहरे पक्षियो जैसे हैं। मुख और आँखो की अभिव्यक्ति चिपकाई हुई मिट्टी की गोलियो से की गई है (फलक ३६, ख, घ-ण)। मुख की प्रतीक गोली मे लकडी से गहरी रेखा डालकर मुखरध्र को दिखलाया गया है। टाँगें और भुजाएँ मिट्टी की गोल बत्तियो की बनी हैं। इनमे हाथ पाँव की अगुलियो की अभिव्यक्ति नही की गई। नाक, जो बहुत ऊँची और बेढब है, चिपका कर नही किन्तु चेहरे की मिट्टी को अगुलियो से दबा कर बनाई गई थी। नासावश प्राय मस्तक के समतल है परन्तु कान किसी भी मूर्ति के नही बने हैं। अपने विकृति पशुसमान चेहरो के कारण सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियो की तुलना मेसोपोटेमिया और ईरान की प्राचीनतम मूर्तियो से की जा सकती है[१]। डॉ० मेके का विचार है कि सिन्धुकालीन बहुत सी मनुष्य मूर्तियाँ आरम्भ मे लाल-काले दोरगी चित्रो से चित्रित थी।

पार्थिव मनुष्य मूर्तियाँ हडप्पा और मोहेजो-दडो के अतिरिक्त भारत के ऐतिहासिक काल के खडहरो मे भी व्यापक रूप से मिली हैं। समकालीन सामाजिक जीवन के चित्रण की अभिलाषा मानव हृदय मे सदा प्रबल रही है। इसे मूर्त स्वरूप देने के लिये स्वभावत उसने मिट्टी जैसे बेमोल के माध्य से बहुत काम लिया। मनुष्य के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक जीवन की मूर्त अभिव्यक्ति मे मिट्टी के खिलौनो ने प्रमुख भाग लिया है। इनका और भी महत्त्व इस बात मे है कि लोकप्रिय कला

---

१ पशु-समान चेहरो और कुरूप आकृतियो के विषय मे ईरान के प्रागैतिहासिक खडहर 'अनौ' से प्राप्त मनुष्य-मूर्तियाँ सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियो से बहुत सादृश्य रखती हैं।

किग—हिस्टरी आफ सुमेर एण्ड एक्कड, फलक न० १६।

समकालीन उर से उपलब्ध मिट्टी की मनुष्य-मूर्तियो के सिर भी वैसे ही पशुओ के सिरो के समान हैं, जैसे गारा से प्राप्त मुद्राओ पर खुदी हुई मूर्तियो तथा सूसा की कुम्भकला पर चित्रित मूर्तियो के हैं। कई विद्वानो के मत मे इन पशु-मुख मूर्तियो का कुछ तान्त्रिक अभिप्राय था।

—एटक्विटी, ग्र० १५, न० ५८, पृ० १६३।

१६

मनुष्य और पशुओ की मूर्तियाँ

मोहेंजो-दडो की मूर्तियो की तरह हडप्पा की अधिकाश मूर्तियाँ भी पकी मिट्टी की हैं। वे सब हाथ की बनी हैं और उनके शरीर ठोस तथा चेहरे पक्षियो जैसे हैं। मुख और आँखो की अभिव्यक्ति चिपकाई हुई मिट्टी की गोलियो से की गई है (फलक ३६, ख, घ-ण)। मुख की प्रतीक गोली मे लकडी से गहरी रेखा डालकर मुखरध्र को दिखलाया गया है। टाँगें और भुजाएँ मिट्टी की गोल बत्तियो की बनी हैं। इनमे हाथ पाँव की अगुलियो की अभिव्यक्ति नही की गई। नाक, जो बहुत ऊँची और बेढब है, चिपका कर नही किन्तु चेहरे की मिट्टी को अगुलियो से दबा कर बनाई गई थी। नासावश प्राय मस्तक के समतल है परन्तु कान किसी भी मूर्ति के नही बने हैं। अपने विकृति पशुसमान चेहरो के कारण सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियो की तुलना मेसोपोटेमिया और ईरान की प्राचीनतम मूर्तियो से की जा सकती है[1]। डॉ० मेके का विचार है कि सिन्धुकालीन बहुत सी मनुष्य मूर्तियाँ आरम्भ मे लाल-काले दोरगी चित्रो से चित्रित थी।

पार्थिव मनुष्य मूर्तियाँ हडप्पा और मोहेजो-दडो के अतिरिक्त भारत के ऐतिहासिक काल के खडहरो मे भी व्यापक रूप से मिली हैं। समकालीन सामाजिक जीवन के चित्रण की अभिलाषा मानव हृदय मे सदा प्रबल रही है। इसे मूर्त स्वरूप देने के लिये स्वभावत उसने मिट्टी जैसे बेमोल के माध्य से बहुत काम लिया। मनुष्य के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक जीवन की मूर्त अभिव्यक्ति मे मिट्टी के खिलौनो ने प्रमुख भाग लिया है। इनका और भी महत्त्व इस बात मे है कि लोकप्रिय कला

---

१ पशु-समान चेहरो और कुरूप आकृतियो के विषय मे ईरान के प्रागैतिहासिक खडहर 'अनौ' से प्राप्त मनुष्य-मूर्तियाँ सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियो से बहुत सादृश्य रखती हैं।

किग—हिस्टरी आफ सुमेर एण्ड एक्कड, फलक न० १६।

समकालीन उर से उपलब्ध मिट्टी की मनुष्य-मूर्तियो के सिर भी वैसे ही पशुओ के सिरो के समान हैं, जैसे गारा से प्राप्त मुद्राओ पर खुदी हुई मूर्तियो तथा सूसा की कुम्भकला पर चित्रित मूर्तियो के हैं। कई विद्वानो के मत मे इन पशु-मुख मूर्तियो का कुछ तान्त्रिक अभिप्राय था।

—एटक्विटी, ग्र० १५, न० ५८, पृ० १६३।

होने के कारण इसमे निम्नस्तर के साधारण लोगो के जीवन का चित्रण है। इस दृष्टिकोण से जब हम सिन्धुकालीन खिलौनो का अध्ययन करते हैं तो पता लगता है कि इनमे हजारों वर्ष पुरानी प्रथाओ और रीति-रिवाजो का अनमोल कोष भरा पडा है। इनके द्वारा चिरकाल से काल-गर्भ मे विलीन मानव समाज के वेश, भूषा, व्यवसाय आदि का विशद विवरण मिलता है। यह दरिद्रनारायण की कला है और इससे हम प्रागैतिहासिक काल का अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पत्थर, शख, हाथीदांत आदि बहुमूल्य तथा दुष्प्राप्य माध्यो की बनी हुई वस्तुओ से यह ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही।

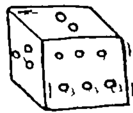
सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियो मे साठ प्रतिशत के लगभग स्त्रियाँ हैं और शेष पुरुष। मूर्तियाँ स्थान और आसीन दोनो मुद्राओ मे पाई गई हैं। खडी स्त्री-मूर्तियाँ जो सिरो पर उन्नत शिरोवेष्टन, गलहार, मेखला और कटिवस्त्र पहने हैं सम्भवत मातृदेवी की प्रतिकृतियाँ हैं। उनमे से कई एक अपने दोनो हाथो से शिरोवेष्टन को छू रही हैं मानो अभिवादन कर रही हो। ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि इस अभिवादन मुद्रा का तात्पर्य सम्भवत सिन्धु-युग के अश्वत्थाधिष्ठातृ परमदेवता के प्रतीक शृंगमुकुट का आदर करना था। असाधारण स्त्री मूर्तियो मे कई एक उल्लेखनीय हैं—एक गर्भवती स्त्री, दूसरी अपने हाथ मे एक गोल वस्तु (रोटी ?) और तीसरी सीगो वाला मुकुट (शृंगमुकुट) उठाये हुए है। कई स्त्रियाँ बच्चो को स्तन पिला रही हैं, एक के सिर पर पुष्पमाला है (फलक ३५, ग, ञ) और एक दूसरी स्त्री अपनी कांख मे खडी पैंदी की थाली उठाये हुए है।

मृण्मय पुरुष-मूर्तियाँ प्राय सभी नग्न हैं। कई खडी और कई बैठी हैं। उनका केशविन्यास कई पकार का है। कई मूर्तियाँ गलो मे हार पहने हैं। कई के सिरो पर स्त्रियो की तरह लवे केश और कई के सिर मुंडित हैं। उनकी मूंछें मुडी हुई और दाढ़ियाँ छोटी तथा कुछ नुकीली हैं (फलक ३६, ड, छ)। कई के गले मे कालर (फलक ३६, ज, ञ) और मस्तक पर सिगार पट्टी है। कई पुरुष टाँगें समेट और दोनो भुजाओ से उन्हे दबाकर चूतडो के बल इस प्रकार बैठे हैं जैसे ग्रामीण लोग शीतकाल मे प्राय धूप सेकने बैठते हैं (फलक ३६, झ)। एक और विचित्र आसन मुद्रा है जिसमे मनुष्य ने टाँगें लबी तानी हैं और हाथ नमस्कार मुद्रा मे छाती पर रखे हैं (फलक ३६, ट)। पूर्वोक्ति दोनो मुद्राएं किसी धार्मिक अभिप्राय की प्रतीत होती हैं। शायद ये मनुष्य देवपूजा अथवा किसी साधना मे सलग्न हैं। एक पुरुष की मुद्रा से ऐसा मालूम होता है मानो वह व्यायाम कर रहा हो। उसकी दोनो भुजाएँ पीछे की ओर तनी हैं और घुटने कुछ बाहर को निकले हैं। एक मनुष्य ने अपने लबे केशो को चोटी के आकार मे सजाया है, दूसरा गले मे दुपट्टा पहने है (फलक ३६, ञ)

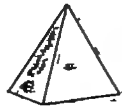
होने के कारण इसमे निम्नस्तर के साधारण लोगो के जीवन का चित्रण है। इस दृष्टिकोण से जब हम सिन्धुकालीन खिलौनो का अध्ययन करते हैं तो पता लगता है कि इनमे हजारों वर्ष पुरानी प्रथाओ और रीति-रिवाजो का अनमोल कोष भरा पडा है। इनके द्वारा चिरकाल से काल-गर्भ मे विलीन मानव समाज के वेश, भूषा, व्यवसाय आदि का विशद विवरण मिलता है। यह दरिद्रनारायण की कला है और इससे हम प्रागैतिहासिक काल का अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। पत्थर, शख, हाथीदांत आदि बहुमूल्य तथा दुष्प्राप्य माध्यो की बनी हुई वस्तुओ से यह ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही।

सिन्धुकालीन मनुष्य-मूर्तियो मे साठ प्रतिशत के लगभग स्त्रियाँ हैं और शेष पुरुष। मूर्तियाँ स्थान और आसीन दोनो मुद्राओ मे पाई गई हैं। खडी स्त्री-मूर्तियाँ जो सिरो पर उन्नत शिरोवेष्टन, गलहार, मेखला और कटिवस्त्र पहने हैं सम्भवत मातृदेवी की प्रतिकृतियाँ हैं। उनमे से कई एक अपने दोनो हाथो से शिरोवेष्टन को छू रही हैं मानो अभिवादन कर रही हो। ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि इस अभिवादन मुद्रा का तात्पर्य सम्भवत सिन्धु-युग के अश्वत्थाधिष्ठातृ परमदेवता के प्रतीक शृंगमुकुट का आदर करना था। असाधारण स्त्री मूर्तियो मे कई एक उल्लेखनीय हैं—एक गर्भवती स्त्री, दूसरी अपने हाथ मे एक गोल वस्तु (रोटी ?) और तीसरी सींगो वाला मुकुट (शृंगमुकुट) उठाये हुए है। कई स्त्रियाँ बच्चो को स्तन पिला रही हैं, एक के सिर पर पुष्पमाला है (फलक ३५, ग, ञ) और एक दूसरी स्त्री अपनी कांख मे खडी पैंदी की थाली उठाये हुए है।

मृण्मय पुरुष-मूर्तियाँ प्राय सभी नग्न हैं। कई खडी और कई बैठी हैं। उनका केशविन्यास कई पकार का है। कई मूर्तियाँ गलो मे हार पहने हैं। कई के सिरो पर स्त्रियो की तरह लबे केश और कई के सिर मुंडित हैं। उनकी मूंछें मुडी हुई और दाढ़ियाँ छोटी तथा कुछ नुकीली हैं (फलक ३६, ड, छ)। कई के गले मे कालर (फलक ३६, ज, ञ) और मस्तक पर सिगार पट्टी है। कई पुरुष टाँगें समेट और दोनो भुजाओ से उन्हे दबाकर चूतडो के बल इस प्रकार बैठे हैं जैसे ग्रामीण लोग शीतकाल मे प्राय धूप सेकने बैठते हैं (फलक ३६, झ)। एक और विचित्र आसन मुद्रा है जिसमे मनुष्य ने टाँगें लबी तानी हैं और हाथ नमस्कार मुद्रा मे छाती पर रखे हैं (फलक ३६, ट)। पूर्वोक्ति दोनो मुद्राएं किसी धार्मिक अभिप्राय की प्रतीत होती हैं। शायद ये मनुष्य देवपूजा अथवा किसी साधना मे सलग्न हैं। एक पुरुष की मुद्रा से ऐसा मालूम होता है मानो वह व्यायाम कर रहा हो। उसकी दोनो भुजाएँ पीछे की ओर तनी हैं और घुटने कुछ बाहर को निकले हैं। एक मनुष्य ने अपने लबे केशो को चोटी के आकार मे सजाया है, दूसरा गले मे दुपट्टा पहने है (फलक ३६, ञ)

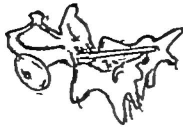

क


ख

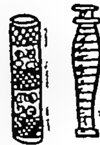

ग

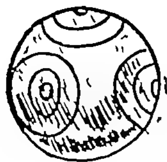

घ


ङ

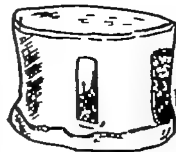

च


छ


ज


झ


ञ


ट


ठ

अन्त्याक्षर



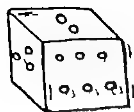
प्रारम्भाक्षर

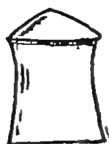

ड

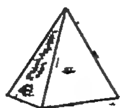

ढ


ण

फलक ४५ खिलौने तथा विनोद की वस्तुएँ


क


ख

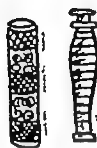

ग

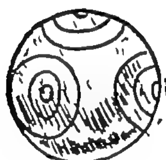

घ


ङ

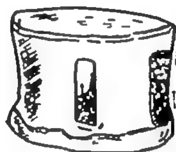

च

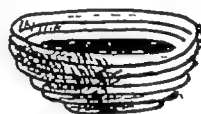

छ


ज


झ


ञ


ट


ठ

अन्त्याक्षर



आरम्भाक्षर



ड


ढ


ण

फलक ४५ खिलौने तथा विनोद की वस्तुएं

अक्षो का रहस्य फेंके जाने के अनन्तर इनकी अपेक्षाकृत स्थिति पर निर्भर था। हडप्पा मे एक शलाकाकार तथाकथित अक्ष के एक सिरे पर तांबे की टोपी चढी थी जिससे प्रतीत होता था कि सम्भवत ये किसी हार का लटकन था। हो सकता है कि इन अक्षो में से कई एक शायद लटकनो या तावीजो के रूप मे प्रयोग मे आते थे और इन पर जो निशान अंकित हैं उनका कुछ तान्त्रिक रहस्य हो।

पत्थर, फेंस, मिट्टी आदि के बने हुए लिंगाकार शकुओ में भी कई सम्भवत' खेलने के मोहरे ही होगे (फलक ४५, ख)। इनका एक बडा समुदाय जो हडप्पा से मिला शायद क्रीडा या अलकरण का साधन था। सिंधु-निवासियो के पास खेलें खेलने के लिए क्रीडापट्ट भी थे। एक बडी ईंट जिस पर आडी टेढी रेखाओ के परस्पर काटने से कोष्ठ बने थे शायद इसी प्रयोजन का एक क्रीडा-फलक था। मोहेंजो-दडो मे एक पकी मिट्टी के फलक (टाईल) पर त्रिभुज बने थे जिनमे से एक मे 'घर' का प्रतीक एक चिह्न अकित था। मिश्र और सुमेर के प्राचीन खण्डहरो मे भी क्रीडापट्ट मिले थे। बच्चे गोलियाँ खेलते थे। कई एक गोलियाँ जिन पर समान केन्द्र वृत्त बने हैं खेल की ही वस्तुएँ थी (फलक ४५, झ)।

स्वभाव और रीति-रिवाज—सिंधु निवासी भारी माँसभक्षक थे। इसका समर्थन हडप्पा और मोहेंजो-दडो के टीलो मे गो-जाति के पशुओ की हड्डियो के अम्बारो से होता है। लोग आखेट के शौकीन थे। कुत्ते और मुर्ग को पालते थे। परन्तु इस बात का पता नही कि वे कुत्तो से शिकार करते थे या नही। सम्भवत मुर्गों का द्वन्द्व युद्ध एक विनोद समझा जाता था। सूअर और दूसरे जगली जानवरों को जाल आदि से पकडना और मछलियो का शिकार करना लोकप्रिय विनोद और व्यवसाय भी थे। गेहूँ और जौ उनके प्रधान अन्न थे। परन्तु फल, दूध, दही, माखन आदि भी खाद्य वस्तुएँ थी। साँभर और बारह सीगे के सीग, पीली हरताल, शिला-जीत, आदि वस्तुएँ औषधियो के काम आती थी। शिलाजीत नेपाल के पहाडी इलाको से आती थी। यह हिमालय की चट्टानो से एक प्रकार का स्राव निकलता है जिसे इकट्ठा कर के पहाडी लोग आज भी मैदानो मे ले आते हैं और अजीर्ण तथा यकृत् की बीमारियो के लिए दवाई के रूप मे बेचते हैं।

अक्षो का रहस्य फेंके जाने के अनन्तर इनकी अपेक्षाकृत स्थिति पर निर्भर था। हडप्पा मे एक शलाकाकार तथाकथित अक्ष के एक सिरे पर तांबे की टोपी चढी थी जिससे प्रतीत होता था कि सम्भवत ये किसी हार का लटकन था। हो सकता है कि इन अक्षो में से कई एक शायद लटकनो या तावीजो के रूप मे प्रयोग मे आते थे और इन पर जो निशान अकित हैं उनका कुछ तान्त्रिक रहस्य हो।

पत्थर, फेंस, मिट्टी आदि के बने हुए लिंगाकार शकुओ में भी कई सम्भवत खेलने के मोहरे ही होगे (फलक ४५, ख)। इनका एक बडा समुदाय जो हडप्पा से मिला शायद क्रीडा या अलकरण का साधन था। सिंधु-निवासियो के पास खेलें खेलने के लिए क्रीडापट्ट भी थे। एक बडी ईंट जिस पर आडी टेढी रेखाओ के परस्पर काटने से कोष्ठ बने थे शायद इसी प्रयोजन का एक क्रीडा-फलक था। मोहेंजो-दडो मे एक पकी मिट्टी के फलक (टाईल) पर त्रिभुज बने थे जिनमे से एक मे 'घर' का प्रतीक एक चिह्न अकित था। मिश्र और सुमेर के प्राचीन खण्डहरो मे भी क्रीडापट्ट मिले थे। बच्चे गोलियाँ खेलते थे। कई एक गोलियाँ जिन पर समान केन्द्र वृत्त बने हैं खेल की ही वस्तुएँ थी (फलक ४५, झ)।

स्वभाव और रीति-रिवाज—सिंधु निवासी भारी मांसभक्षक थे। इसका समर्थन हडप्पा और मोहेंजो-दडो के टीलो मे गो-जाति के पशुओ की हड्डियो के अम्बारो से होता है। लोग आखेट के शौकीन थे। कुत्ते और मुर्ग को पालते थे। परन्तु इस बात का पता नही कि वे कुत्तो से शिकार करते थे या नही। सम्भवत मुर्गों का द्वन्द्व युद्ध एक विनोद समझा जाता था। सूअर और दूसरे जगली जानवरों को जाल आदि से पकडना और मछलियो का शिकार करना लोकप्रिय विनोद और व्यवसाय भी थे। गेहूँ और जौ उनके प्रधान अन्न थे। परन्तु फल, दूध, दही, माखन आदि भी खाद्य वस्तुएँ थी। साभर और बारह सींगे के सींग, पीली हरताल, शिलाजीत, आदि वस्तुएँ औषधियो के काम आती थी। शिलाजीत नेपाल के पहाडी इलाको से आती थी। यह हिमालय की चट्टानो से एक प्रकार का स्राव निकलता है जिसे इकट्ठा कर के पहाडी लोग आज भी मैदानो मे ले आते हैं और अजीर्ण तथा यकृत् की बीमारियो के लिए दवाई के रूप मे बेचते हैं।










फलक ४६ सिंधु-कालीन मुद्राएँ तथा चित्र-लिपि

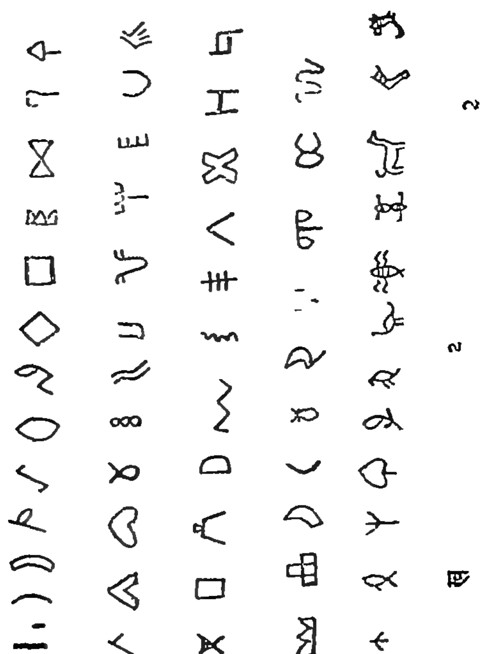


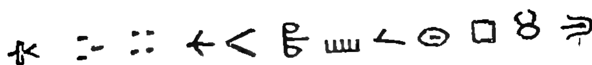


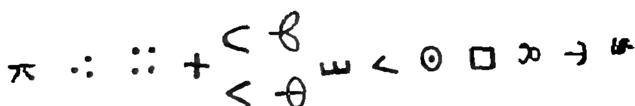




फलक ४६ सिंधु-कालीन मुद्राएं तथा चित्र-लिपि







फलक ४७ (क) सिन्धु-लिपि से ब्राह्मी-लिपि के सादृश्य।
(ख) सिंधु-लिपि के मौलिक चित्राक्षर।

BASIC SIGNS

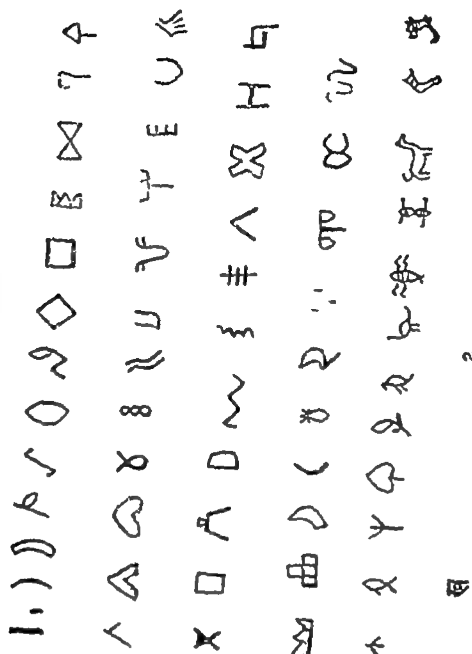
सिन्धुलिपि के मौलिक प्रकार

सिन्धुलिपि

ब्राह्मीलिपि

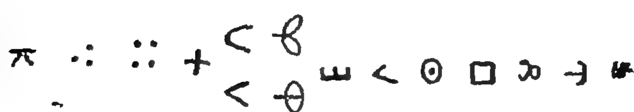
फलक ४७ (क) सिन्धु-लिपि से ब्राह्मी-लिपि के सादृश्य।

(ख) सिंधु-लिपि के मौलिक चित्राक्षर।

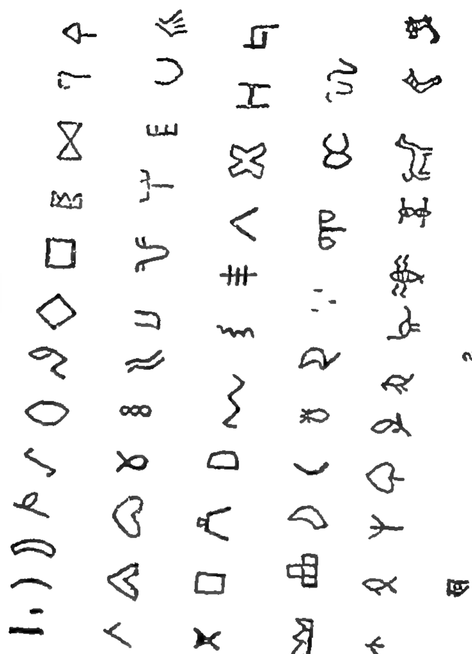




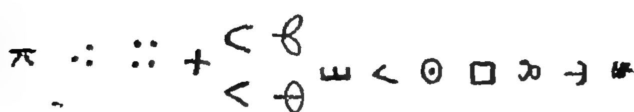
a (अ) i (इ) i (ई) ku (क) gu (ग) cun (च) ja (ज) la (ल) thu (थ) ba (ब) ma (म) ya (य)



फलक ४७ (क) सिन्धु-लिपि से ब्राह्मी-लिपि के सादृश्य।
(ख) सिधु-लिपि के मौलिक चित्राक्षर।







फलक ४७ (क) सिन्धु-लिपि से ब्राह्मी-लिपि के सादृश्य।
(ख) सिन्धु-लिपि के मौलिक चित्राक्षर।

रेखाओ के द्वारा किया जाता था जो कभी-कभी अकेली परन्तु अक्सर दो या अधिक की सख्या मे होती थी।

कुछ भी हो, जहाँ तक आरम्भ और अन्त्य अक्षरो का सम्बन्ध है मुझे उनकी युक्ति की निर्दोषता मे बहुत सन्देह है। उनका निर्णय इस कल्पना पर आधारित है कि मिश्र और सुमेर की चित्र-लिपियो की तरह सिंधु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। अन्त प्रमाणो के आधार पर विश्वस्त रूप से कहा जा सकता है कि अशोक कालीन ब्राह्मी-लिपि की तरह प्रागैतिहासिक सिंधु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को ही लिखी जाती थी।

सिंधु-लिपि और ब्राह्मी-लिपि—प्रो० लेंगडन ने सिंधु और ब्राह्मी-लिपियो मे बहुत से सादृश्य दिखलाये हैं। उनका विश्वास है कि ब्राह्मी का जन्म सिन्धु-लिपि से हुआ था[1], क्योकि ब्राह्मी के बहुत से अक्षर सिंधु-लिपि के चित्राक्षरो के समान-रूप हैं (फलक ४७, क)। न केवल यही, किन्तु ब्राह्मी-लिपि की सहायता से उन्होने सिंधु-लिपि के कई चित्राक्षरो का आनुमानिक ध्वन्यात्मक मूल्य भी आका है। उनके विचार मे सिंधु-लिपि मे स्वर-व्यजन सयोग से उच्चारण-समर्थ पदाश (सिलेबल) का इस प्रकार विकास नही हुआ था जैसा कि ब्राह्मी मे पाया जाता है। लेंगडन तथा स्मिथ की सम्मति मे सिंधु-लिपि का सम्बन्ध न तो सुमेरियन और न ही इलम की प्राचीन लिपियो मे है। पहले विद्वान् के मत मे इस लिपि के अक्षर सुमेर की चित्रमय तथा कीलाक्षर लिपियो की अपेक्षा मिश्र की चित्र-लिपि से अधिक समानता रखते हैं। ऐसा होने पर भी सिंधु-लिपि मे लगमात्रा आदि लगाने की व्यवस्था एक ऐसी विलक्षणता है जो विदेशीय चित्रलिपियो मे नही पाई जाती। ब्राह्मी तथा सिंधु-लिपियो मे सम्बन्ध यद्यपि अभी स्पष्ट नही, फिर भी निश्शक रूप मे कहा जा सकता है कि ब्राह्मी का सिंधु-लिपि से दूर का परम्परा-सम्बन्ध अवश्य था, क्योकि इन दोनो के मध्यकाल की कोई लिपि अभी उपलब्ध नही हुई इसलिए ब्राह्मी के क्रमिक विकास की अन्तर्दशाओ का जानना कठिन है।

आज से एक शताब्दी पहले भारत के विख्यात पुरातत्त्वज्ञ सर एलेग्ज़ेंडर कनिंघम ने अनुमान लगाया था कि ब्राह्मी-लिपि किसी भारतीय चित्र-लिपि की सन्तान होनी चाहिए। वेबर और ब्युह्लर ने ब्राह्मी को फिनिशियन लिपि से, इज़ाक टेलर ने अरब की सेबियन लिपि से, और डीक ने असीरिया और बेबीलन की कीलाक्षर लिपि से प्रादुर्भूत माना था। परन्तु लेंगडन की सम्मति मे इन विद्वानो की ये सब कल्पनाएँ निर्मूल एव निरर्थक सिद्ध हुई हैं। गैड ने सिंधु-लिपि के कई चित्राक्षरो

---

१ मार्शल—वही, ग्रन्थ १, पृष्ठ ४१।

रेखाग्रो के द्वारा किया जाना था जो कभी-कभी अकेली परन्तु अक्सर दो या अधिक की सख्या मे होती थी ।

कुछ भी हो, जहाँ तक आरम्भ और अन्त्य अक्षरो का सम्बन्ध है मुझे उनकी युक्ति की निर्दोषता मे बहुत सन्देह है । उनका निर्णय इस कल्पना पर आधारित है कि मिश्र और सुमेर की चित्र-लिपियो की तरह सिधु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी । अन्त प्रमाणो के आधार पर विश्वस्त रूप से कहा जा सकता है कि अशोक कालीन ब्राह्मी-लिपि की तरह प्रागैतिहासिक सिंधु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को ही लिखी जाती थी ।

सिंधु-लिपि और ब्राह्मी-लिपि—प्रो० लेंगडन ने सिंधु और ब्राह्मी-लिपियो मे बहुत से सादृश्य दिखलाये हैं । उनका विश्वास है कि ब्राह्मी का जन्म सिन्धु-लिपि से हुआ था[1], क्योकि ब्राह्मी के बहुत से अक्षर सिंधु-लिपि के चित्राक्षरो के समान-रूप हैं (फलक ४७, क) । न केवल यही, किन्तु ब्राह्मी-लिपि की सहायता से उन्होने सिंधु-लिपि के कई चित्राक्षरो का आनुमानिक ध्वन्यात्मक मूल्य भी आका है । उनके विचार मे सिंधु-लिपि मे स्वर-व्यजन सयोग से उच्चारण-समर्थ पदाश (सिलेबल) का इस प्रकार विकास नही हुआ था जैसा कि ब्राह्मी मे पाया जाता है । लेंगडन तथा स्मिथ की सम्मति मे सिंधु-लिपि का सम्बन्ध न तो सुमेरियन और न ही इलम की प्राचीन लिपियो मे है । पहले विद्वान् के मत मे इस लिपि के अक्षर सुमेर की चित्रमय तथा कीलाक्षर लिपियो की अपेक्षा मिश्र की चित्र-लिपि से अधिक समानता रखते हैं । ऐसा होने पर भी सिंधु-लिपि मे लगमात्रा आदि लगाने की व्यवस्था एक ऐसी विलक्षणता है जो विदेशीय चित्रलिपियो मे नही पाई जाती । ब्राह्मी तथा सिंधु-लिपियो मे सम्बन्ध यद्यपि अभी स्पष्ट नही, फिर भी निश्शक रूप मे कहा जा सकता है कि ब्राह्मी का सिंधु-लिपि से दूर का परम्परा-सम्बन्ध अवश्य था, क्योकि इन दोनो के मध्यकाल की कोई लिपि अभी उपलब्ध नही हुई इसलिए ब्राह्मी के क्रमिक विकास की अन्तर्दशाओ का जानना कठिन है ।

आज से एक शताब्दी पहले भारत के विख्यात पुरातत्त्वज्ञ सर एलेग्ज़ेंडर कनिंघम ने अनुमान लगाया था कि ब्राह्मी-लिपि किसी भारतीय चित्र-लिपि की सन्तान होनी चाहिए । वेबर और व्युह्लर ने ब्राह्मी को फिनिशियन लिपि से, इज़ाक टेलर ने अरब की सेबियन लिपि से, और डीक ने असीरिया और बेबीलन की कीलाक्षर लिपि मे प्रादुर्भूत माना था । परन्तु लेंगडन की सम्मति मे इन विद्वानो की ये सब कल्पनाएँ निर्मूल एव निरर्थक सिद्ध हुई हैं । गैंड ने सिंधु-लिपि के कई चित्राक्षरो

---

१ मार्शल—वही, ग्रन्थ १, पृष्ठ ४१ ।

नुसार इस पर खुदे हुए लेख और अभिप्राय प्राक्-सार्गानकाल के हैं। इस पर उत्कीर्ण 'पशु पक्ति' अभिप्राय सुमेर तथा इलम की प्राचीनतम कला-शैली का व्यजक है। इस मुद्रा पर खुदे हुए लेख मे छ चित्राक्षर हैं (फलक ४६, क १)। लेख के अतिरिक्त दो सीगो वाला बैल भी इस पर खुदा है और बैल के सामने टोकरा धरा है। सुमेरियन टककला मे 'बैल और टोकरा' अभिप्राय (फलक १५, क) अज्ञात है। डा० हिसज्जाक को लगाश के खण्डहर मे एक वृत्ताकार छापमुद्रा मिली थी। इस खण्डहर मे ३००० ईसापूर्व के बाद की अभी तक कोई वस्तु नही मिली। इसलिए यह मुद्रा भी प्राक् सार्गान काल की ही है। यह कुछ हरे रग के कोमल पत्थर की बनी है और इस पर एक पचाक्षरी लेख (फलक ४६, क २) उत्कीर्ण है। इसी खण्डहर से प्राप्त खड़िया पत्थर की बनी सिंधु-शैली की एक और मुद्रा डा० थ्यूरो-डेंगिन ने प्रकाशित की थी जो इस समय लूवर सग्रहालय मे सुरक्षित है। इस पर सिंधु-लिपि के छ चित्राक्षर खुदे हैं जैसा कि फलक ४६, क ३ मे प्रदर्शित हैं[1]। इसी प्रकार की प्राक्-सार्गानकाल की एक और मुद्रा डा० मेके को किश खण्डहर की खुदाई मे रणदेवता इल-बाबा के मन्दिर मे राजा समसु-इलुना के फर्श के नीचे मिली थी। इस पर केवल चार चित्राक्षर खुदे हैं (फलक ४६, क ४)।

पश्चिमी एशिया से सम्पर्क—सिंधु-सभ्यता के काल-निर्णय-प्रसग मे डा० मार्टीमर व्हीलर और प्रो० पिगट सिंधु-शैली की पूर्वोक्त मुद्राओ का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि "इन ३० मुद्राओ मे केवल १२ ही ऐसी हैं जिनके काल के सम्बन्ध मे विश्वस्त रूप से निर्णय हो सका है। इन १२ मे से केवल एक या दो ही प्राक्-सार्गानकाल की हैं और बाकी या तो सार्गान के काल की या उससे भी बाद की हैं।" इस साक्ष्य के आधार पर वे इस निर्णय पर पहुँचे कि सिंधु-प्रान्त और मेसोपोटेमिया मे परस्पर जो सम्पर्क हुए वे सार्गानकाल (२४वी शती ई० पू०) मे ही घटित हुए होंगे।

परन्तु डा० व्हीलर का यह निर्णय निर्दोष नही है। यह कहना कि मेसोपोटेमिया मे उत्खात १२ सिंधु-मुद्राओ मे केवल एक या दो ही प्राक्-सार्गानकाल की हैं, अयुक्त है। प्रो० लैंगडन का दृढ़ विश्वास है कि इनमे कम से कम चार या पाँच मुद्राएँ इस काल की हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भावना है कि अज्ञातकाल शेष १८ मुद्राओ में से शायद कुछ और भी इसी काल की थी। मेसोपोटेमिया मे प्राक्-सार्गानकाल की सिंधु-मुद्राओ की उपलब्धि ही एक ऐसा अकाट्य प्रमाण है जो सिद्ध करता है कि तीसरी सहस्राब्दी के आरम्भ मे सिंधु-सभ्यता का पश्चिमी एशिया के

१ मार्शल—मोहेंजो-दडो एण्ड दि इडस सिविलाइजेशन, ग्रन्थ २, पृष्ठ ४२५।

नुसार इस पर खुदे हुए लेख और अभिप्राय प्राक्-सार्गानकाल के हैं। इस पर उत्कीर्ण 'पशु पक्ति' अभिप्राय सुमेर तथा इलम की प्राचीनतम कला-शैली का व्यजक है। इस मुद्रा पर खुदे हुए लेख मे छ चित्राक्षर हैं (फलक ४६, क १)। लेख के अतिरिक्त दो सीगो वाला बैल भी इस पर खुदा है और बैल के सामने टोकरा धरा है। सुमेरियन टककला मे 'बैल और टोकरा' अभिप्राय (फलक १५, क) अज्ञात है। डा० डि सज्ज़ाक को लगाश के खण्डहर मे एक वृत्ताकार छापमुद्रा मिली थी। इस खण्डहर मे ३००० ईसापूर्व के बाद की अभी तक कोई वस्तु नही मिली। इसलिए यह मुद्रा भी प्राक् सार्गान काल की ही है। यह कुछ हरे रग के कोमल पत्थर की बनी है और इस पर एक पचाक्षरी लेख (फलक ४६, क २) उत्कीर्ण है। इसी खण्डहर से प्राप्त खडिया पत्थर की बनी सिधु-शैली की एक और मुद्रा डा० थ्यूरो-डेंगिन ने प्रकाशित की थी जो इस समय लूवर सग्रहालय मे सुरक्षित है। इस पर सिधु-लिपि के छ चित्राक्षर खुदे हैं जैसा कि फलक ४६, क ३ मे प्रदर्शित हैं[1]। इसी प्रकार की प्राक्-सार्गानकाल की एक और मुद्रा डा० मेके को किश खण्डहर की खुदाई मे रणदेवता इल-बाबा के मन्दिर मे राजा सम्सु-इलुना के फर्श के नीचे मिली थी। इस पर केवल चार चित्राक्षर खुदे हैं (फलक ४६, क ४)।

पश्चिमी एशिया से सम्पर्क—सिधु-सभ्यता के काल-निर्णय-प्रसग मे डा० मार्टीमर व्हीलर और प्रो० पिगट सिधु-शैली की पूर्वोक्त मुद्राओ का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि "इन ३० मुद्राओ मे केवल १२ ही ऐसी हैं जिनके काल के सम्बन्ध मे विश्वस्त रूप से निर्णय हो सका है। इन १२ मे से केवल एक या दो ही प्राक्-सार्गानकाल की हैं और बाकी या तो सार्गान के काल की या उससे भी बाद की हैं।" इस साक्ष्य के आधार पर वे इस निर्णय पर पहुँचे कि सिधु-प्रान्त और मेसोपोटेमिया मे परस्पर जो सम्पर्क हुए वे सार्गानकाल (२४वी शती ई० पू०) मे ही घटित हुए होंगे।

परन्तु डा० व्हीलर का यह निर्णय निर्दोष नही है। यह कहना कि मेसोपोटेमिया मे उत्खात १२ सिधु-मुद्राओ मे केवल एक या दो ही प्राक्-सार्गानकाल की हैं, अयुक्त है। प्रो० लैंगडन का दृढ़ विश्वास है कि इनमे कम से कम चार या पाँच मुद्राएँ इस काल की हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भावना है कि अज्ञातकाल शेष १८ मुद्राओ में से शायद कुछ और भी इसी काल की थी। मेसोपोटेमिया मे प्राक्-सार्गानकाल की सिधु-मुद्राओ की उपलब्धि ही एक ऐसा अकाट्य प्रमाण है जो सिद्ध करता है कि तीसरी सहस्राब्दी के आरम्भ मे सिधु-सभ्यता का पश्चिमी एशिया के

---

१ मार्शल—मोहेंजो-दडो एण्ड दि इडस सिविलाइजेशन, ग्रन्थ २, पृष्ठ ४२५।

पूर्व-निर्दिष्ट लिपि-सादृश्य के साक्ष्य की बिलकुल ही अवहेलना कर गए हैं। इसमे सन्देह नही कि यह साक्ष्य उनके द्वारा निर्धारित सिंधु-सभ्यता की तिथि के लिए घातक सिद्ध होता है। परन्तु काल-निर्णय मे एक श्रद्धेय एव दृढ प्रमाण होने के कारण इस की उपेक्षा नही की जा सकती। लिपि-साक्ष्य के अतिरिक्त और भी बहुत से प्रमाण हैं जो डा० व्हीलर के सिद्धान्त पर कुठाराघात करते हैं और जिनसे सिंधु-सभ्यता के आरम्भकाल की सीमा चौथी सहस्राब्दी ई० पू० तक पहुँच जाती है।

लेंगडन, सिडने स्मिथ, गैड और हटर प्रमुख लिपि-शास्त्रियो का इस विषय मे ऐकमत्य है कि मिश्र तथा सुमेरियन लिपियो के समान सिंधु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। परन्तु अपने मत के समर्थन मे जो प्रमाण उन्होने दिये हैं वे अधूरे तथा दोषग्रस्त हैं। इस लिपि के सगठन मे जहाँ तक मैंने अनुसन्धान किया है उससे यही प्रतीत होता है कि ब्राह्मी के समान सिंधु-लिपि भी बाएँ से दाएँ को ही लिखी जाती थी।

सन् १६२०-२१ से १६३०-३१ तक जो खननकार्य हड़प्पा और मोहेंजो-दडो मे हुआ उसमे ३००० के लगभग लेखाकित मुद्राएँ और मुद्राछापें उपलब्ध हुई थी (फलक ४६, घ)। विधिपूर्वक छानबीन के अनन्तर इन पर उत्कीर्ण चित्राक्षरो की सूचियाँ सर जान मार्शल और श्री माधोसरूप वत्स ने अपने ग्रथो मे प्रकाशित की हैं। भावी अनुसन्धान के लिए जिज्ञासुओ को इनसे बहुत सहायता मिल सकती है। इन सूचियो मे दिये हुए मौलिक अक्षरो तथा उनके रूपान्तरो की कुल सख्या ४५० के करीब है। परन्तु यदि इसमे १६३१ के बाद उपलब्ध चित्राक्षर भी मिला दें तो सख्या ६५० के लगभग पहुँच जाती है।

कई एक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने इस लिपि के पढने का प्रशसनीय प्रयास किया है। परन्तु इन सब मे डा० हटर का अनुसन्धान जो उनकी पुस्तक 'स्क्रिप्ट ऑफ् हड़प्पा एण्ड मोहेंजो-दडो' मे समाविष्ट है, सर्वश्रेष्ठ है, क्योकि इसमे उन्होंने वैज्ञानिक रीति से इसे पढने का प्रयास किया है। तथापि उनके सिद्धान्तो मे कई एक आपत्तियाँ हैं जिनसे वे अशेषत मान्य नही हो सकते। इनमे से उनका एक सिद्धान्त यह है कि सिंधु-लिपि दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। इसी प्रकार पूर्वोक्त सिद्धान्त पर आधारित कई मुद्राकित लेखो का जो अर्थ उन्होंने निश्चित किया है, वह भी श्रद्धेयता की कोटि तक नही पहुँचता। उदाहरणत, उनका दावा है कि उन्होंने ऐसे शब्दो को पढ लिया है कि जिनका अर्थ 'भूमि का स्वामी', 'देवता', 'पुत्र', 'दास' आदि था, परन्तु यह सब शुद्धरूप से कपोलकल्पना मात्र ही है।

वस्तुत यह लिपि अभी तक एक रहस्य ही बनी हुई है। कई एक विख्यात

पूर्व-निर्दिष्ट लिपि-सादृश्य के साक्ष्य की बिलकुल ही अवहेलना कर गए हैं। इसमे सन्देह नही कि यह साक्ष्य उनके द्वारा निर्धारित सिंधु-सभ्यता की तिथि के लिए घातक सिद्ध होता है। परन्तु काल-निर्णय मे एक श्रद्धेय एव दृढ प्रमाण होने के कारण इस की उपेक्षा नही की जा सकती। लिपि-साक्ष्य के अतिरिक्त और भी बहुत से प्रमाण हैं जो डा० व्हीलर के सिद्धान्त पर कुठाराघात करते हैं और जिनसे सिंधु-सभ्यता के आरम्भकाल की सीमा चौथी सहस्राव्दी ई० पू० तक पहुँच जाती है।

लेंगडन, सिडने स्मिथ, गैड और हटर प्रमुख लिपि-शास्त्रियो का इस विषय मे ऐकमत्य है कि मिश्र तथा सुमेरियन लिपियो के समान सिंधु-लिपि भी दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। परन्तु अपने मत के समर्थन मे जो प्रमाण उन्होने दिये हैं वे अधूरे तथा दोषग्रस्त हैं। इस लिपि के सगठन मे जहाँ तक मैंने अनुसन्धान किया है उससे यही प्रतीत होता है कि ब्राह्मी के समान सिंधु-लिपि भी बाएँ से दाएँ को ही लिखी जाती थी।

सन् १९२०-२१ से १९३०-३१ तक जो खननकार्य हड़प्पा और मोहेंजो-दड़ो मे हुआ उसमे ३००० के लगभग लेखांकित मुद्राएँ और मुद्राछापें उपलब्ध हुई थी (फलक ४६, घ)। विधिपूर्वक छानबीन के अनन्तर इन पर उत्कीर्ण चित्राक्षरो की सूचियाँ सर जान मार्शल और श्री माधोसरूप वत्स ने अपने ग्रथो मे प्रकाशित की हैं। भावी अनुसन्धान के लिए जिज्ञासुओ को इनसे बहुत सहायता मिल सकती है। इन सूचियो मे दिये हुए मौलिक अक्षरो तथा उनके रूपान्तरो की कुल सख्या ४५० के करीब है। परन्तु यदि इसमे १९३१ के बाद उपलब्ध चित्राक्षर भी मिला दें तो सख्या ६५० के लगभग पहुँच जाती है।

कई एक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने इस लिपि के पढने का प्रशसनीय प्रयास किया है। परन्तु इन सब मे डा० हटर का अनुसन्धान जो उनकी पुस्तक 'स्क्रिप्ट ऑफ् हड़प्पा एण्ड मोहेंजो-दड़ो' मे समाविष्ट है, सर्वश्रेष्ठ है, क्योकि इसमे उन्होंने वैज्ञानिक रीति से इसे पढने का प्रयास किया है। तथापि उनके सिद्धान्तो मे कई एक आपत्तियाँ हैं जिनसे वे अशेषत मान्य नही हो सकते। इनमे से उनका एक सिद्धान्त यह है कि सिंधु-लिपि दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। इसी प्रकार पूर्वोक्त सिद्धान्त पर आधारित कई मुद्रांकित लेखो का जो अर्थ उन्होंने निश्चित किया है, वह भी श्रद्धेयता की कोटि तक नही पहुँचता। उदाहरणत, उनका दावा है कि उन्होंने ऐसे शब्दो को पढ लिया है कि जिनका अर्थ 'भूमि का स्वामी', 'देवता', 'पुत्र', 'दास' आदि था, परन्तु यह सब शुद्धरूप से कपोलकल्पना मात्र ही है।

वस्तुत यह लिपि अभी तक एक रहस्य ही बनी हुई है। कई एक विख्यात

मोहेंजो-दडो नगर को भी सिन्धु-सभ्यता के लोगो ने प्रचण्ड बाढो के आतक से पीडित होकर ही छोडा था, न कि वैदिक आर्यों के प्रचण्ड आक्रमणो के कारण ।

ईसापूर्व २५००-१५०० की तिथि, जो सिन्धु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल के लिये अब व्यवहार में आ रही है, भी डाक्टर व्हीलर की पूर्वोक्त हडप्पा-खुदाई पर ही आधारित है[1] । आश्चर्य की बात है कि अपनी खुदाई की स्तर-रचना का मूल्य आँकते समय डा० व्हीलर प्राक् १९४६ की खुदाई के महत्त्व को एकदम भूल गये । फलक ७ को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगता है कि जब कि 'टीला ए-बी' मे पहली आबादी का स्तर उच्छ्राय-रेखा ५५८ ५ पर स्थित है, तो पास के 'टीला-एफ' मे इसी आबादी का स्तर अच्छ्राय-रेखा ५१९ ५ पर खडा है । दोनो पडोसी टीलो की पहली आबादियो के स्तरो मे परस्पर प्राय ४० फुट का अन्तर है । स्मरण रहे कि दोनो टीले कई स्तरो के भग्नावशेषो के मलबे से बने होने के कारण कृत्रिम बनावट के हैं । तात्पर्य यह निकला कि 'टीला ए-बी' की पहली आबादी के लोग जब ४० फुट ऊँची भूमि पर रह रहे थे तो उसी समय 'टीला-एफ' के इसी आबादी के लोग ४० फुट नीची जमीन पर घर बनाकर जीवन निर्वाह कर रहे थे । प्रचण्ड बाढो के आतक से यदि 'टीला ए-बी' मे पहली आबादी के स्तर को उच्छ्राय-रेखा ५५८ ५ तक उठाने की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी थी तो 'टीला-एफ' के पहले स्तर के समकालीन लोग उच्छ्राय-रेखा ५१९ ५, जो बाढ से बचने की सुरक्षा-रेखा से २५ फुट नीची है, पर कैसे रह रहे थे ? इस विकट समस्या का समाधान किये बिना ही डाक्टर व्हीलर अपने काल-निर्णय पर पहुँच गये हैं ।

इस समस्या का समाधान केवल एक ही है और वह यह कि, जब 'टीला ए-बी' मे उच्छ्राय-रेखा ५४० पर दुर्ग-प्राकार की नीव रखी गयी तो 'टीला-एफ' उजाड हो चुका था और मनुष्य के निवास के अनुपयुक्त था क्योकि इसमे उत्खात आठो स्तरो की इमारतें उच्छ्राय-रेखा ५४५ के नीचे स्थित होने के कारण विनाशकारी बाढो की पहुँच मे थी, जैसा कि व्हीलर महोदय की खुदाई से स्पष्ट हो गया है । अत सिद्ध हुआ कि समूचा 'टीला-एफ' ही 'टीला ए-बी' के दुर्ग-प्राकार की अपेक्षा प्राचीनतर है, और 'टीला-एफ' मे २५ फुट ऊँचा मलवे का भराव, जिसमें आठ स्तरो की आबादियाँ पाई गयी हैं, एक हजार वर्ष से कम काल की आयु का नही है ।

अब यदि, जैसा कि डाक्टर व्हीलर का मत है, दुर्ग-प्राकार का निर्माण-काल ई० पू० २५०० था, तो 'टीला-एफ' की पहली आबादी की तिथि निर्विवाद ईसापूर्व

---

१ एन्शेंट इण्डिया, न० ३, पृ० ८२ ।

मोहेंजो-दडो नगर को भी सिन्धु-सभ्यता के लोगो ने प्रचण्ड बाढो के आतक से पीडित होकर ही छोडा था, न कि वैदिक आर्यों के प्रचण्ड आक्रमणो के कारण ।

ईसापूर्व २५००-१५०० की तिथि, जो सिन्धु-सभ्यता के समस्त जीवन-काल के लिये अब व्यवहार में आ रही है, भी डाक्टर व्हीलर की पूर्वोक्त हडप्पा-खुदाई पर ही आधारित है[1] । आश्चर्य की बात है कि अपनी खुदाई की स्तर-रचना का मूल्य आंकते समय डा० व्हीलर प्राक् १९४६ की खुदाई के महत्त्व को एकदम भूल गये । फलक ७ को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगता है कि जब कि 'टीला ए-बी' मे पहली आबादी का स्तर उच्छ्राय-रेखा ५५८ ५ पर स्थित है, तो पास के 'टीला-एफ' मे इसी आबादी का स्तर अच्छ्राय-रेखा ५१९ ५ पर खडा है । दोनो पडोसी टीलो की पहली आबादियो के स्तरो मे परस्पर प्राय ४० फुट का अन्तर है । स्मरण रहे कि दोनो टीले कई स्तरो के भग्नावशेषो के मलबे से बने होने के कारण कृत्रिम बनावट के हैं । तात्पर्य यह निकला कि 'टीला ए-बी' की पहली आबादी के लोग जब ४० फुट ऊँची भूमि पर रह रहे थे तो उसी समय 'टीला-एफ' के इसी आबादी के लोग ४० फुट नीची जमीन पर घर बनाकर जीवन निर्वाह कर रहे थे । प्रचण्ड बाढो के आतक से यदि 'टीला ए-बी' मे पहली आबादी के स्तर को उच्छ्राय-रेखा ५५८ ५ तक उठाने की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी थी तो 'टीला-एफ' के पहले स्तर के समकालीन लोग उच्छ्राय-रेखा ५१९ ५, जो बाढ से बचने की सुरक्षा-रेखा से २५ फुट नीची है, पर कैसे रह रहे थे ? इस विकट समस्या का समाधान किये बिना ही डाक्टर व्हीलर अपने काल-निर्णय पर पहुँच गये हैं ।

इस समस्या का समाधान केवल एक ही है और वह यह कि, जब 'टीला ए-बी' मे उच्छ्राय-रेखा ५४० पर दुर्ग-प्राकार की नीव रखी गयी तो 'टीला-एफ' उजाड हो चुका था और मनुष्य के निवास के अनुपयुक्त था क्योकि इसमे उत्खात आठो स्तरो की इमारतें उच्छ्राय-रेखा ५४५ के नीचे स्थित होने के कारण विनाशकारी बाढो की पहुँच मे थी, जैसा कि व्हीलर महोदय की खुदाई से स्पष्ट हो गया है । अत सिद्ध हुआ कि समूचा 'टीला-एफ' ही 'टीला ए-बी' के दुर्ग-प्राकार की अपेक्षा प्राचीनतर है, और 'टीला-एफ' मे २५ फुट ऊँचा मलबे का भराव, जिसमें आठ स्तरो की आबादियां पाई गयी हैं, एक हजार वर्ष से कम काल की आयु का नही है ।

अब यदि, जैसा कि डाक्टर व्हीलर का मत है, दुर्ग-प्राकार का निर्माण-काल ई० पू० २५०० था, तो 'टीला-एफ' की पहली आबादी की तिथि निर्विवाद ईसापूर्व

---

१ एन्शेंट इण्डिया, न० ३, पृ० ८२ ।

विष्ट हैं। इसी प्रकार रगपुर और रोपड की कुम्भकला पर शमी, केला, ताड, मछली, मोर, बकरा आदि वनस्पति और पशुपक्षियो के प्राकृतिक अभिप्राय भी नही हैं।

पूर्वोक्त समालोचना से यह सिद्ध नही होता कि रगपुर और रोपड के निवासी सिन्धु-सभ्यता की समस्त सास्कृतिक विशिष्टताओ से सज्जित थे। सिन्धु-सभ्यता की अनुपलब्ध विशिष्टताओ की निर्दिष्ट सूची इस तथ्य का श्रद्धेय प्रमाण है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो साक्ष्य इन स्थानो की खुदाई से प्राप्त हुआ है स्पष्ट रूप से बतलाता है कि हडप्पा-सस्कृति के सम्वाहक जो इन स्थानो मे आकर आबाद हुए कई पीढियो से सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र-स्थानो (हडप्पा-मोहेजो-दडो) से सम्पर्क छोड बैठे थे और इस सभ्यता की उत्कृष्ट कला-शैलियो को प्राय भूल चुके थे। इन्हे अपने धर्म और चित्र-लिपि का भी ज्ञान विस्मृत हो गया था। सिन्धु-युग के लोग पीपल और शमी वृक्षो को पूज्य मानते थे। रगपुर और रोपड मे कोई ऐसा प्रमाण नही मिला जो सिद्ध करता कि यहाँ के निवासी सिन्धु-सस्कृति के लोग अभी अपने प्राचीन धर्म के अनुयायी थे और सिन्धु-युग के देवताओ को पूजते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग अनपढ़ और अशिक्षित थे। रोपड मे जो एक सिन्धु-मुद्रा मिली है वह आकस्मिक है और यह सिद्ध नही करती कि आम लोग साक्षर अथवा व्यापारी थे।

सिन्धु-सभ्यता के पूर्वोक्त दो उपनिवेशो की सस्कृति का जो चित्र निर्माण किया जा सकता है उससे पता लगता है कि ओजस्वी सिन्धु-सभ्यता, जिसने सिन्धु नद की विशाल उपत्यका पर १५०० वर्ष आधिपत्य जमाया, अन्त मे इन स्थानो मे पहुँच कर किस प्रकार धीरे-धीरे क्षीण होकर प्रलय के गर्भ मे समा गयी। ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध मे जब सिन्धु-राज्य का पतन हुआ तो केन्द्र-नगरो के बहुत से लोग नये घरो की तलाश मे भिन्न-भिन्न दिशाओ मे बिखर गये थे। सम्भवत पहले वे सिन्धु के काठे की सीमाओ पर आबाद हुए और समय के अतिक्रम के साथ आगे सरकते गये। मातृभूमि से वे जितना दूर होते गये अपनी मूल-सस्कृति के प्रभाव से उतना ही उनका सम्पर्क छूटता गया।

रगपुर और रोपड की कला-कृतियाँ उस क्षीयमाण सस्कृति-धारा के टपकते हुए बिन्दुओ के समान हैं जिसके जीवनभूत पोषक स्रोत चिरकाल से सूख रहे थे। या यूँ कहिये कि ये उस उत्तम सस्कृति-दीपशिखा की छायामात्र थी जिसकी प्राण-रूप तैलधारा अब विच्छिन्न हो रही थी। सिन्धु-सभ्यता जब अपनी जन्मभूमि मे उत्सन्न हो गयी तो रोपड और रगपुर मे उत्खात अवनत दशा तक पहुँचने के लिये इसे कुछ शताब्दियो का समय अवश्य लगा होगा। साधारणत किसी सस्कृति की उत्कृष्ट विशिष्टताओ को अशेषत भूलने के लिये उतना ही समय आवश्यक है जितना उन्हे सीखने और उन्नत करने के लिए। उत्खाताओ के विचार के अनुसार रगपुर और

विष्ट हैं। इसी प्रकार रगपुर और रोपड की कुम्भकला पर शमी, केला, ताड, मछली, मोर, वकरा आदि वनस्पति और पशुपक्षियो के प्राकृतिक अभिप्राय भी नही हैं।

पूर्वोक्त समालोचना से यह सिद्ध नही होता कि रगपुर और रोपड के निवासी सिन्धु-सभ्यता की समस्त सास्कृतिक विशिष्टताओ से सज्जित थे। सिन्धु-सभ्यता की अनुपलब्ध विशिष्टताओ की निर्दिष्ट सूची इस तथ्य का श्रद्धेय प्रमाण है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो साक्ष्य इन स्थानो की खुदाई से प्राप्त हुआ है स्पष्ट रूप से बतलाता है कि हडप्पा-सस्कृति के सम्वाहक जो इन स्थानो मे आकर आवाद हुए कई पीढियो से सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र-स्थानो (हडप्पा-मोहेजो-दडो) से सम्पर्क छोड बैठे थे और इस सभ्यता की उत्कृष्ट कला-शैलियो को प्राय भूल चुके थे। इन्हे अपने धर्म और चित्र-लिपि का भी ज्ञान विस्मृत हो गया था। सिन्धु-युग के लोग पीपल और शमी वृक्षो को पूज्य मानते थे। रगपुर और रोपड मे कोई ऐसा प्रमाण नही मिला जो सिद्ध करता कि यहाँ के निवासी सिन्धु-सस्कृति के लोग अभी अपने प्राचीन धर्म के अनुयायी थे और सिन्धु-युग के देवताओ को पूजते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग अनपढ़ और अशिक्षित थे। रोपड मे जो एक सिन्धु-मुद्रा मिली है वह आकस्मिक है और यह सिद्ध नही करती कि आम लोग साक्षर अथवा व्यापारी थे।

सिन्धु-सभ्यता के पूर्वोक्त दो उपनिवेशो की सस्कृति का जो चित्र निर्माण किया जा सकता है उससे पता लगता है कि ओजस्वी सिन्धु-सभ्यता, जिसने सिन्धु नद की विशाल उपत्यका पर १५०० वर्ष आधिपत्य जमाया, अन्त मे इन स्थानो मे पहुँच कर किस प्रकार धीरे-धीरे क्षीण होकर प्रलय के गर्भ मे समा गयी। ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध मे जव सिन्धु-राज्य का पतन हुआ तो केन्द्र-नगरो के वहुत से लोग नये घरो की तलाश मे भिन्न-भिन्न दिशाओ मे विखर गये थे। सम्भवत पहले वे सिन्धु के काठे की सीमाओ पर आवाद हुए और समय के अतिक्रम के साथ आगे सरकते गये। मातृभूमि से वे जितना दूर होते गये अपनी मूल-सस्कृति के प्रभाव से उतना ही उनका सम्पर्क छूटता गया।

रगपुर और रोपड की कला-कृतियाँ उस क्षीयमाण सस्कृति-धारा के टपकते हुए विन्दुओ के समान हैं जिसके जीवनभूत पोषक स्रोत चिरकाल से सूख रहे थे। या यूँ कहिये कि ये उस उत्तम सस्कृति-दीपशिखा की छायामात्र थी जिसकी प्राण-रूप तैलधारा अव विच्छिन्न हो रही थी। सिन्धु-सभ्यता जव अपनी जन्मभूमि मे उत्सन्न हो गयी तो रोपड और रगपुर मे उत्खात अवनत दशा तक पहुँचने के लिये इसे कुछ शताब्दियो का समय अवश्य लगा होगा। साधारणत किसी सस्कृति की उत्कृष्ट विशिष्टताओ को अशेषत भूलने के लिये उतना ही समय आवश्यक है जितना उन्हे सीखने और उन्नत करने के लिए। उत्खाताओ के विचार के अनुसार रगपुर और

विष्ट हैं। इसी प्रकार रगपुर और रोपड की कुम्भकला पर शमी, केला, ताड, मछली, मोर, वकरा आदि वनस्पति और पशुपक्षियो के प्राकृतिक अभिप्राय भी नही हैं।

पूर्वोक्त समालोचना से यह सिद्ध नही होता कि रगपुर और रोपड के निवासी सिन्धु-सभ्यता की समस्त सास्कृतिक विशिष्टताओ से सज्जित थे। सिन्धु-सभ्यता की अनुपलब्ध विशिष्टताओ की निर्दिष्ट सूची इस तथ्य का श्रद्धेय प्रमाण है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो साक्ष्य इन स्थानो की खुदाई से प्राप्त हुआ है स्पष्ट रूप से वतलाता है कि हडप्पा-सस्कृति के सम्वाहक जो इन स्थानो मे आकर आवाद हुए कई पीढ़ियो से सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र-स्थानो (हडप्पा-मोहेजो-दडो) से सम्पर्क छोड वैठे थे और इस सभ्यता की उत्कृष्ट कला-शैलियो को प्राय भूल चुके थे। इन्हे अपने धर्म और चित्र-लिपि का भी ज्ञान विस्मृत हो गया था। सिन्धु-युग के लोग पीपल और शमी वृक्षो को पूज्य मानते थे। रगपुर और रोपड मे कोई ऐसा प्रमाण नही मिला जो सिद्ध करता कि यहाँ के निवासी सिन्धु-सस्कृति के लोग अभी अपने प्राचीन धर्म के अनुयायी थे और सिन्धु-युग के देवताओ को पूजते थे। ऐसा प्रतीत होता हैं कि ये लोग अनपढ़ और अशिक्षित थे। रोपड मे जो एक सिन्धु-मुद्रा मिली है वह आकस्मिक है और यह सिद्ध नही करती कि आम लोग साक्षर अथवा व्यापारी थे।

सिन्धु-सभ्यता के पूर्वोक्त दो उपनिवेशो की सस्कृति का जो चित्र निर्माण किया जा सकता है उससे पता लगता है कि ओजस्वी सिन्धु-सभ्यता, जिसने सिन्धु नद की विशाल उपत्यका पर १५०० वर्ष आधिपत्य जमाया, अन्त मे इन स्थानो मे पहुँच कर किस प्रकार धीरे-धीरे क्षीण होकर प्रलय के गर्भ मे समा गयी। ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध मे जव सिन्धु-राज्य का पतन हुआ तो केन्द्र-नगरो के वहुत से लोग नये घरो की तलाश मे भिन्न-भिन्न दिशाओ मे विखर गये थे। सम्भवत पहले वे सिन्धु के काठे की सीमाओ पर आवाद हुए और समय के अतिक्रम के साथ आगे सरकते गये। मातृभूमि से वे जितना दूर होते गये अपनी मूल-सस्कृति के प्रभाव से उतना ही उनका सम्पर्क छूटता गया।

रगपुर और रोपड की कला-कृतियाँ उस क्षीयमाण सस्कृति-धारा के टपकते हुए विन्दुओ के समान है जिसके जीवनभूत पोषक स्रोत चिरकाल से सूख रहे थे। या यूं कहिये कि ये उस उत्तम सस्कृति-दीपशिखा की छायामात्र थी जिसकी प्राण-रूप तैलधारा अव विच्छिन्न हो रही थी। सिन्धु-सभ्यता जव अपनी जन्मभूमि मे उत्सन्न हो गयी तो रोपड और रगपुर मे उत्खात अवनत दशा तक पहुँचने के लिये इसे कुछ शताब्दियो का समय अवश्य लगा होगा। साधारणत किसी सस्कृति की उत्कृष्ट विशिष्टताओ को अशेषत भूलने के लिये उतना ही समय आवश्यक है जितना उन्हे सीखने और उन्नत करने के लिए। उत्खाताओ के विचार के अनुसार रगपुर और

विष्ट हैं। इसी प्रकार रगपुर और रोपड की कुम्भकला पर शमी, केला, ताड, मछली, मोर, वकरा आदि वनस्पति और पशुपक्षियो के प्राकृतिक अभिप्राय भी नही हैं।

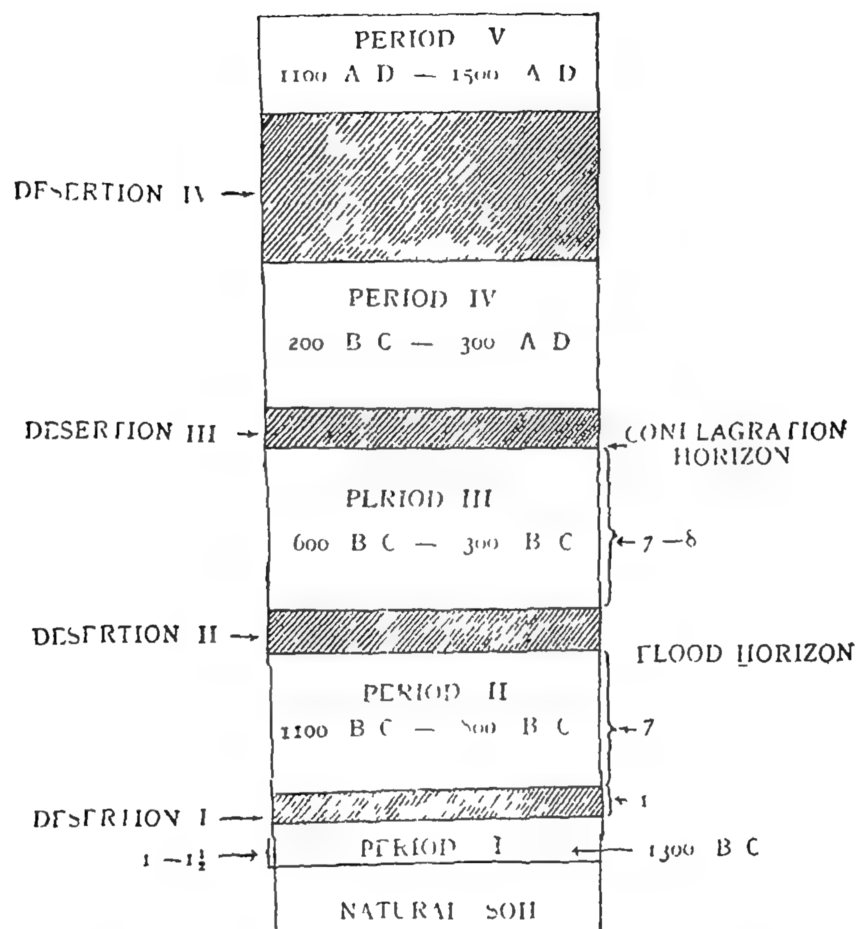
पूर्वोक्त समालोचना से यह सिद्ध नही होता कि रगपुर और रोपड के निवासी सिन्धु-सभ्यता की समस्त सास्कृतिक विशिष्टताओ से सज्जित थे। सिन्धु-सभ्यता की अनुपलब्ध विशिष्टताओ की निर्दिष्ट सूची इस तथ्य का श्रद्धेय प्रमाण है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो साक्ष्य इन स्थानो की खुदाई से प्राप्त हुआ है स्पष्ट रूप से बतलाता है कि हडप्पा-सस्कृति के सम्वाहक जो इन स्थानो मे आकर आवाद हुए कई पीढ़ियो से सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र-स्थानो (हडप्पा-मोहेजो-दडो) से सम्पर्क छोड बैठे थे और इस सभ्यता की उत्कृष्ट कला-शैलियो को प्राय भूल चुके थे। इन्हे अपने धर्म और चित्र-लिपि का भी ज्ञान विस्मृत हो गया था। सिन्धु-युग के लोग पीपल और शमी वृक्षो को पूज्य मानते थे। रगपुर और रोपड मे कोई ऐसा प्रमाण नही मिला जो सिद्ध करता कि यहाँ के निवासी सिन्धु-सस्कृति के लोग अभी अपने प्राचीन धर्म के अनुयायी थे और सिन्धु-युग के देवताओ को पूजते थे। ऐसा प्रतीत होता हैं कि ये लोग अनपढ़ और अशिक्षित थे। रोपड मे जो एक सिन्धु-मुद्रा मिली है वह आकस्मिक है और यह सिद्ध नही करती कि आम लोग साक्षर अथवा व्यापारी थे।

सिन्धु-सभ्यता के पूर्वोक्त दो उपनिवेशो की सस्कृति का जो चित्र निर्माण किया जा सकता है उससे पता लगता है कि ओजस्वी सिन्धु-सभ्यता, जिसने सिन्धु नद की विशाल उपत्यका पर १५०० वर्ष आधिपत्य जमाया, अन्त मे इन स्थानो मे पहुँच कर किस प्रकार धीरे-धीरे क्षीण होकर प्रलय के गर्भ मे समा गयी। ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध मे जब सिन्धु-राज्य का पतन हुआ तो केन्द्र-नगरो के बहुत से लोग नये घरो की तलाश मे भिन्न-भिन्न दिशाओ मे विखर गये थे। सम्भवत पहले वे सिन्धु के काठे की सीमाओ पर आवाद हुए और समय के अतिक्रम के साथ आगे सरकते गये। मातृभूमि से वे जितना दूर होते गये अपनी मूल-सस्कृति के प्रभाव से उतना ही उनका सम्पर्क छूटता गया।

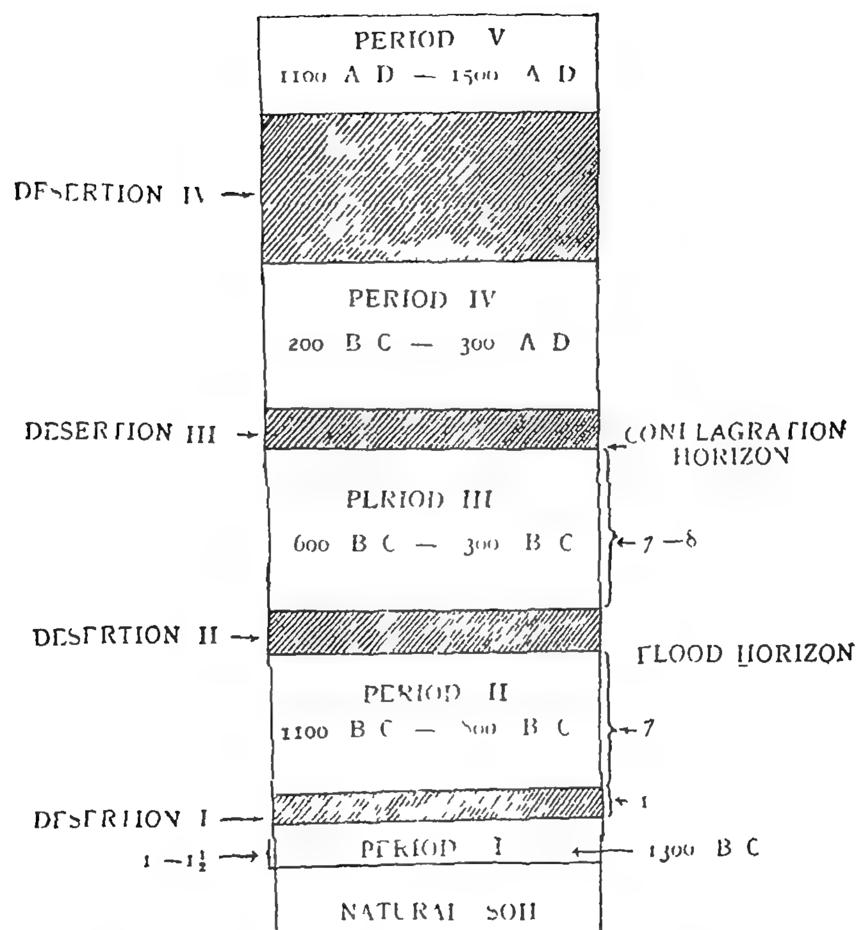
रगपुर और रोपड की कला-कृतियाँ उस क्षीयमाण सस्कृति-धारा के टपकते हुए बिन्दुओ के समान है जिसके जीवनभूत पोषक स्रोत चिरकाल से सूख रहे थे। या यूँ कहिये कि ये उस उत्तम सस्कृति-दीपशिखा की छायामात्र थी जिसकी प्राण-रूप तैलधारा अब विच्छिन्न हो रही थी। सिन्धु-सभ्यता जब अपनी जन्मभूमि मे उत्सन्न हो गयी तो रोपड और रगपुर मे उत्खात अवनत दशा तक पहुँचने के लिये इसे कुछ शताब्दियो का समय अवश्य लगा होगा। साधारणत किसी सस्कृति की उत्कृष्ट विशिष्टताओ को अशेषत भूलने के लिये उतना ही समय आवश्यक है जितना उन्हे सीखने और उन्नत करने के लिए। उत्खाताओ के विचार के अनुसार रगपुर और



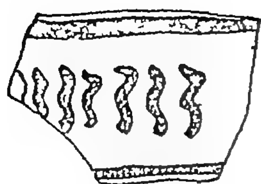


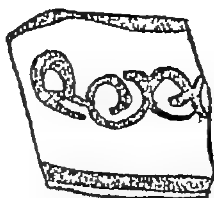


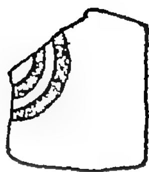
फलक ४६ हस्तिनापुर के खण्डहर की स्तर-रचना का दृश्य



फलक ४६ हस्तिनापुर के खण्डहर की स्तर-रचना का दृश्य


1


2


3


4


5


6


7

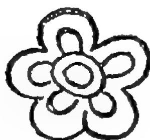

8

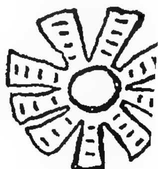

9


10

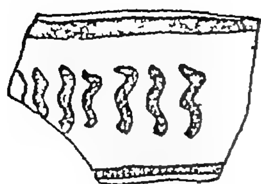

11

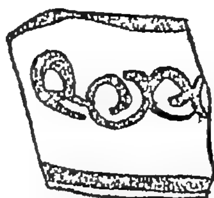

12

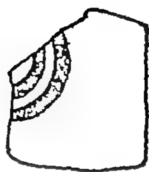

13


14

फलक ५० चित्रित सलेटी कुम्भकला पर अलकरण अभिप्राय


1


2


3


4


5


6


7

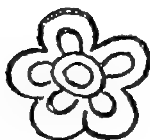

8

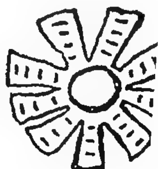

9


10


11


12


13


14

फलक ५० चित्रित सलेटी कुम्भकला पर अलकरण अभिप्राय

कलसियाँ', 'मृतक का अग्निदाह', 'गेरुवर्ण-कब्रें' और 'घोडा' इन तत्वो को भिन्न-भिन्न पुरातत्वज्ञो ने इडो-यूरोपियन जातियो की सामूहिक हलचलो से सम्बद्ध किया है, परन्तु 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को किसी ने भी नही किया[1]। इस कुम्भकला का आर्य-जाति के साथ सम्बन्ध अभी सिद्ध करना शेष है। दूसरी बात यह है कि 'इडो-यूरोपियन' जाति यूनान मे ईसापूर्व १२वी शती मे प्रविष्ट हुई थी। प्रवेश के अनन्तर इसने वहाँ मिनोयन-प्रभव की माइसीनियन सस्कृति को निर्मूल कर दिया था[2]। अत सलेटी कुम्भखड जो थेसली मे मिले ई० पू० बारहवी शती से पहले के नही हो सकते। ऐसी दशा मे यह कल्पना करना असम्भव है कि वह 'इडो-यूरोपियन' आर्यजाति जो १२वी शती ईसापूर्व यूनान मे पहुँची उसी शती मे भारत मे प्राचीन सरस्वती की वादी मे भी आ प्रकट हुई। स्मरण रहे कि उत्तरी भारत मे आर्य जाति के उपनिवेश इस तिथि के कई शताब्दियाँ पहले वन चुके थे।

'वोगाज़-क्यु' का लेख—लघु एशिया के 'वोगाज़-क्यु' नाम प्राचीन खण्डहर मे खत्ती (हिट्टाइट) और मितानियन आर्य राजवशो के बीच निष्पन्न एक अहदनामे का लेख मिला था। हस्तिनापुर मे 'काल-२' के स्तर मे उत्खात 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को वैदिक आर्यों की कृति सिद्ध करने के प्रयत्न मे श्री लाल ने 'वोगाज़-क्यु' के पूर्वोक्त लेख का जो साक्ष्य उपस्थित किया है वह भी अकिञ्चित्कर है। इससे यह सिद्ध नही होता कि मितानियन आर्य लोग, जो चौदहवी शती ईसापूर्व मेसोपोटेमिया मे शासन करते थे, भारत की ओर वढते हुए इण्डो-यूरोपियन आर्य दल का अग्रगामी जत्था था। यदि हम इस मत को स्वीकार करें तो वहुत-सी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। पहली कठिनाई यह है कि यह मत उस सर्वसम्मत सिद्धान्त का विरोधी है जिसके अनुमार वैदिक आर्य उत्तरी भारत मे ईसापूर्व १५०० के लगभग प्रविष्ट हुए थे। ऋग्वेद मे दाशराज्ञ युद्ध का समकालीन घटना के रूप मे वर्णन इस सिद्धान्त का अच्छा समर्थन करता है और पुराणो मे दी हुई वशावलियो से भी इसे पुष्टि मिलती है[3]। दूसरी कठिनाई यह है कि मितानियन आर्य लोग 'इण्डो-यूरोपियन' आर्य-जाति के 'शतम्-भाषी' प्राच्य दल के थे, न कि 'केंटम्-भाषी' प्रतीच्य-दल के[4]। इसका अर्थ यह निकला कि वे या तो 'इण्डो-यूरोपियन' जाति की पूर्वी शाखा का जत्था था जो

---

१ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृष्ठ १४३-१४८, १७६-१८३।

२ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृष्ठ २०८।

३ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृ० ३०७।

४ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृ० ७१-७२।

कलसियाँ', 'मृतक का अग्निदाह', 'गेरुवर्ण-कब्रें' और 'घोडा' इन तत्वो को भिन्न-भिन्न पुरातत्वज्ञो ने इडो-यूरोपियन जातियो की सामूहिक हलचलो से सम्बद्ध किया है, परन्तु 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को किसी ने भी नही किया[१]। इस कुम्भकला का आर्य-जाति के साथ सम्बन्ध अभी सिद्ध करना शेष है। दूसरी बात यह है कि 'इडो-यूरोपियन' जाति यूनान मे ईसापूर्व १२वी शती मे प्रविष्ट हुई थी। प्रवेश के अनन्तर इसने वहाँ मिनोयन-प्रभव की माइसीनियन सस्कृति को निर्मूल कर दिया था[२]। अत सलेटी कुम्भखड जो थेसली मे मिले ई० पू० बारहवी शती से पहले के नही हो सकते। ऐसी दशा मे यह कल्पना करना असम्भव है कि वह 'इडो-यूरोपियन' आर्यजाति जो १२वी शती ईसापूर्व यूनान मे पहुँची उसी शती मे भारत मे प्राचीन सरस्वती की वादी मे भी आ प्रकट हुई। स्मरण रहे कि उत्तरी भारत मे आर्य जाति के उपनिवेश इस तिथि के कई शताब्दियाँ पहले वन चुके थे।

'वोगाज़-क्यु' का लेख—लघु एशिया के 'वोगाज़-क्यु' नाम प्राचीन खण्डहर मे खत्ती (हिट्टाइट) और मितानियन आर्य राजवशो के वीच निष्पन्न एक अहदनामे का लेख मिला था। हस्तिनापुर मे 'काल-२' के स्तर मे उत्खात 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को वैदिक आर्यों की कृति सिद्ध करने के प्रयत्न मे श्री लाल ने 'वोगाज़-क्यु' के पूर्वोक्त लेख का जो साक्ष्य उपस्थित किया है वह भी अकिञ्चित्कर है। इससे यह सिद्ध नही होता कि मितानियन आर्य लोग, जो चौदहवी शती ईसापूर्व मेसोपोटेमिया मे शासन करते थे, भारत की ओर वढते हुए इण्डो-यूरोपियन आर्य दल का अग्रगामी जत्था था। यदि हम इस मत को स्वीकार करें तो वहुत-सी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। पहली कठिनाई यह है कि यह मत उस सर्वसम्मत सिद्धान्त का विरोधी है जिसके अनुसार वैदिक आर्य उत्तरी भारत मे ईसापूर्व १५०० के लगभग प्रविष्ट हुए थे। ऋग्वेद मे दाशराज्ञ युद्ध का समकालीन घटना के रूप मे वर्णन इस सिद्धान्त का अच्छा समर्थन करता है और पुराणो मे दी हुई वशावलियो से भी इसे पुष्टि मिलती है[३]। दूसरी कठिनाई यह है कि मितानियन आर्य लोग 'इण्डो-यूरोपियन' आर्य-जाति के 'शतम्-भाषी' प्राच्य दल के थे, न कि 'केंटम्-भाषी' प्रतीच्य-दल के[४]। इसका अर्थ यह निकला कि वे या तो 'इण्डो-यूरोपियन' जाति की पूर्वी शाखा का जत्था था जो

---

१ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृष्ठ १४३-१४८, १७९-१८३।

२ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृष्ठ २०८।

३ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृ० ३०७।

४ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृ० ७१-७२।

कलसियाँ', 'मृतक का अग्निदाह', 'गेरुवर्ण-कब्रें' और 'घोडा' इन तत्वो को भिन्न-भिन्न पुरातत्वज्ञो ने इडो-यूरोपियन जातियो की सामूहिक हलचलो से सम्बद्ध किया है, परन्तु 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को किसी ने भी नही किया[१] । इस कुम्भकला का आर्य-जाति के साथ सम्बन्ध अभी सिद्ध करना शेष है। दूसरी बात यह है कि 'इडो-यूरोपियन' जाति यूनान मे ईसापूर्व १२वी शती मे प्रविष्ट हुई थी। प्रवेश के अनन्तर इसने वहाँ मिनोयन-प्रभव की माइसीनियन सस्कृति को निर्मूल कर दिया था[२] । अत सलेटी कुम्भखड जो थेसली मे मिले ई० पू० बारहवी शती से पहले के नही हो सकते। ऐसी दशा मे यह कल्पना करना असम्भव है कि वह 'इडो-यूरोपियन' आर्यजाति जो १२वी शती ईसापूर्व यूनान मे पहुँची उसी शती मे भारत मे प्राचीन सरस्वती की वादी मे भी आ प्रकट हुई। स्मरण रहे कि उत्तरी भारत मे आर्य जाति के उपनिवेश इस तिथि के कई शताब्दियाँ पहले वन चुके थे।

'वोगाज-क्यु' का लेख—लघु एशिया के 'वोगाज-क्यु' नाम प्राचीन खण्डहर मे खत्ती (हिट्टाइट) और मितानियन आर्य राजवशो के बीच निष्पन्न एक अहदनामे का लेख मिला था। हस्तिनापुर मे 'काल-२' के स्तर मे उत्खात 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को वैदिक आर्यों की कृति सिद्ध करने के प्रयत्न मे श्री लाल ने 'वोगाज-क्यु' के पूर्वोक्त लेख का जो साक्ष्य उपस्थित किया है वह भी अकिञ्चित्कर है। इससे यह सिद्ध नही होता कि मितानियन आर्य लोग, जो चौदहवी शती ईसापूर्व मेसोपोटेमिया मे शासन करते थे, भारत की ओर वढते हुए इण्डो-यूरोपियन आर्य दल का अग्रगामी जत्था था। यदि हम इस मत को स्वीकार करें तो वहुत-सी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। पहली कठिनाई यह है कि यह मत उस सर्वसम्मत सिद्धान्त का विरोधी है जिसके अनुसार वैदिक आर्य उत्तरी भारत मे ईसापूर्व १५०० के लगभग प्रविष्ट हुए थे। ऋग्वेद मे दाशराज्ञ युद्ध का समकालीन घटना के रूप मे वर्णन इस सिद्धान्त का अच्छा समर्थन करता है और पुराणो मे दी हुई वशावलियो से भी इसे पुष्टि मिलती है[३] । दूसरी कठिनाई यह है कि मितानियन आर्य लोग 'इण्डो-यूरोपियन' आर्य-जाति के 'शतम्-भाषी' प्राच्य दल के थे, न कि 'केंटम्-भाषी' प्रतीच्य-दल के[४] । इसका अर्थ यह निकला कि वे या तो 'इण्डो-यूरोपियन' जाति की पूर्वी शाखा का जत्था था जो

---

१ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृष्ठ १४३-१४८, १७६-१८३ ।

२ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृष्ठ २०८ ।

३ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृ० ३०७ ।

४ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृ० ७१-७२ ।

कलसियाँ', 'मृतक का अग्निदाह', 'गेरुवर्ण-कब्रें' और 'घोडा' इन तत्वो को भिन्न-भिन्न पुरातत्वज्ञो ने इडो-यूरोपियन जातियो की सामूहिक हलचलो से सम्बद्ध किया है, परन्तु 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को किसी ने भी नही किया[1]। इस कुम्भकला का आर्य-जाति के साथ सम्बन्ध अभी सिद्ध करना शेष है। दूसरी बात यह है कि 'इडो-यूरोपियन' जाति यूनान मे ईसापूर्व १२वी शती मे प्रविष्ट हुई थी। प्रवेश के अनन्तर इसने वहाँ मिनोयन-प्रभव की माइसीनियन सस्कृति को निर्मूल कर दिया था[2]। अत सलेटी कुम्भखड जो थेसली मे मिले ई० पू० बारहवी शती से पहले के नही हो सकते। ऐसी दशा मे यह कल्पना करना असम्भव है कि वह 'इडो-यूरोपियन' आर्यजाति जो १२वी शती ईसापूर्व यूनान मे पहुँची उसी शती मे भारत मे प्राचीन सरस्वती की वादी मे भी आ प्रकट हुई। स्मरण रहे कि उत्तरी भारत मे आर्य जाति के उपनिवेश इस तिथि के कई शताब्दियाँ पहले बन चुके थे।

'बोगाज़-क्यु' का लेख—लघु एशिया के 'बोगाज़-क्यु' नाम प्राचीन खण्डहर मे खत्ती (हिट्टाइट) और मितानियन आर्य राजवशो के बीच निष्पन्न एक अहदनामे का लेख मिला था। हस्तिनापुर मे 'काल-२' के स्तर मे उत्खात 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को वैदिक आर्यों की कृति सिद्ध करने के प्रयत्न मे श्री लाल ने 'बोगाज़-क्यु' के पूर्वोक्त लेख का जो साक्ष्य उपस्थित किया है वह भी अकिञ्चित्कर है। इससे यह सिद्ध नही होता कि मितानियन आर्य लोग, जो चौदहवी शती ईसापूर्व मेसोपोटेमिया मे शासन करते थे, भारत की ओर बढते हुए इण्डो-यूरोपियन आर्य दल का अग्रगामी जत्था था। यदि हम इस मत को स्वीकार करें तो बहुत-सी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। पहली कठिनाई यह है कि यह मत उस सर्वसम्मत सिद्धान्त का विरोधी है जिसके अनुसार वैदिक आर्य उत्तरी भारत मे ईसापूर्व १५०० के लगभग प्रविष्ट हुए थे। ऋग्वेद मे दाशराज्ञ युद्ध का समकालीन घटना के रूप मे वर्णन इस सिद्धान्त का अच्छा समर्थन करता है और पुराणो मे दी हुई वशावलियो से भी इसे पुष्टि मिलती है[3]। दूसरी कठिनाई यह है कि मितानियन आर्य लोग 'इण्डो-यूरोपियन' आर्य-जाति के 'शतम्-भाषी' प्राच्य दल के थे, न कि 'केंटम्-भाषी' प्रतीच्य-दल के[4]। इसका अर्थ यह निकला कि वे या तो 'इण्डो-यूरोपियन' जाति की पूर्वी शाखा का जत्था था जो

---

१ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृष्ठ १४३-१४८, १७६-१८३।

२ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृष्ठ २०८।

३ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृ० ३०७।

४ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृ० ७१-७२।

कलसियाँ', 'मृतक का अग्निदाह', 'गेरुवर्ण-कब्रें' और 'घोडा' इन तत्वो को भिन्न-भिन्न पुरातत्वज्ञो ने इडो-यूरोपियन जातियो की सामूहिक हलचलो से सम्बद्ध किया है, परन्तु 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को किसी ने भी नही किया[1]। इस कुम्भकला का आर्य-जाति के साथ सम्बन्ध अभी सिद्ध करना शेष है। दूसरी बात यह है कि 'इडो-यूरोपियन' जाति यूनान मे ईसापूर्व १२वी शती मे प्रविष्ट हुई थी। प्रवेश के अनन्तर इसने वहाँ मिनोयन-प्रभव की माइसीनियन सस्कृति को निर्मूल कर दिया था[2]। अत सलेटी कुम्भखड जो थेसली मे मिले ई० पू० बारहवी शती से पहले के नही हो सकते। ऐसी दशा मे यह कल्पना करना असम्भव है कि वह 'इडो-यूरोपियन' आर्यजाति जो १२वी शती ईसापूर्व यूनान मे पहुँची उसी शती मे भारत मे प्राचीन सरस्वती की वादी मे भी आ प्रकट हुई। स्मरण रहे कि उत्तरी भारत मे आर्य जाति के उपनिवेश इस तिथि के कई शताब्दियाँ पहले बन चुके थे।

'बोगाज़-क्यु' का लेख—लघु एशिया के 'बोगाज़-क्यु' नाम प्राचीन खण्डहर मे खत्ती (हिट्टाइट) और मितानियन आर्य राजवशो के बीच निष्पन्न एक अहदनामे का लेख मिला था। हस्तिनापुर मे 'काल-२' के स्तर मे उत्खात 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को वैदिक आर्यों की कृति सिद्ध करने के प्रयत्न मे श्री लाल ने 'बोगाज़-क्यु' के पूर्वोक्त लेख का जो साक्ष्य उपस्थित किया है वह भी अकिञ्चित्कर है। इससे यह सिद्ध नही होता कि मितानियन आर्य लोग, जो चौदहवी शती ईसापूर्व मेसोपोटेमिया मे शासन करते थे, भारत की ओर बढते हुए इण्डो-यूरोपियन आर्य दल का अग्रगामी जत्था था। यदि हम इस मत को स्वीकार करें तो बहुत-सी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। पहली कठिनाई यह है कि यह मत उस सर्वसम्मत सिद्धान्त का विरोधी है जिसके अनुसार वैदिक आर्य उत्तरी भारत मे ईसापूर्व १५०० के लगभग प्रविष्ट हुए थे। ऋग्वेद मे दाशराज्ञ युद्ध का समकालीन घटना के रूप मे वर्णन इस सिद्धान्त का अच्छा समर्थन करता है और पुराणो मे दी हुई वशावलियो से भी इसे पुष्टि मिलती है[3]। दूसरी कठिनाई यह है कि मितानियन आर्य लोग 'इण्डो-यूरोपियन' आर्य-जाति के 'शतम्-भाषी' प्राच्य दल के थे, न कि 'केंटम्-भाषी' प्रतीच्य-दल के[4]। इसका अर्थ यह निकला कि वे या तो 'इण्डो-यूरोपियन' जाति की पूर्वी शाखा का जत्था था जो

---

१ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृष्ठ १४३-१४८, १७६-१८३।

२ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृष्ठ २०८।

३ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृ० ३०७।

४ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृ० ७१-७२।

कलसियाँ', 'मृतक का अग्निदाह', 'गेरुवर्ण-कब्रें' और 'घोडा' इन तत्वो को भिन्न-भिन्न पुरातत्वज्ञो ने इडो-यूरोपियन जातियो की सामूहिक हलचलो से सम्वद्ध किया है, परन्तु 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को किसी ने भी नही किया[१]। इस कुम्भकला का आर्य-जाति के साथ सम्बन्ध अभी सिद्ध करना शेष है। दूसरी बात यह है कि 'इडो-यूरोपियन' जाति यूनान मे ईसापूर्व १२वी शती मे प्रविष्ट हुई थी। प्रवेश के अनन्तर इसने वहाँ मिनोयन-प्रभव की माइसीनियन सस्कृति को निर्मूल कर दिया था[२]। अत सलेटी कुम्भखड जो थेसली मे मिले ई० पू० बारहवी शती से पहले के नही हो सकते। ऐसी दशा मे यह कल्पना करना असम्भव है कि वह 'इडो-यूरोपियन' आर्यजाति जो १२वी शती ईसापूर्व यूनान मे पहुँची उसी शती मे भारत मे प्राचीन सरस्वती की वादी मे भी आ प्रकट हुई। स्मरण रहे कि उत्तरी भारत मे आर्य जाति के उपनिवेश इस तिथि के कई शताब्दियाँ पहले बन चुके थे।

'बोगाज़-क्यु' का लेख—लघु एशिया के 'बोगाज़-क्यु' नाम प्राचीन खण्डहर मे खत्ती (हिट्टाइट) और मितानियन आर्य राजवशो के बीच निष्पन्न एक अहदनामे का लेख मिला था। हस्तिनापुर मे 'काल-२' के स्तर मे उत्खात 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' को वैदिक आर्यों की कृति सिद्ध करने के प्रयत्न मे श्री लाल ने 'बोगाज़-क्यु' के पूर्वोक्त लेख का जो साक्ष्य उपस्थित किया है वह भी अकिञ्चित्कर है। इससे यह सिद्ध नही होता कि मितानियन आर्य लोग, जो चौदहवी शती ईसापूर्व मेसोपोटेमिया मे शासन करते थे, भारत की ओर बढते हुए इण्डो-यूरोपियन आर्य दल का अग्रगामी जत्था था। यदि हम इस मत को स्वीकार करें तो बहुत-सी कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। पहली कठिनाई यह है कि यह मत उस सर्वसम्मत सिद्धान्त का विरोधी है जिसके अनुसार वैदिक आर्य उत्तरी भारत मे ईसापूर्व १५०० के लगभग प्रविष्ट हुए थे। ऋग्वेद मे दाशराज्ञ युद्ध का समकालीन घटना के रूप मे वर्णन इस सिद्धान्त का अच्छा समर्थन करता है और पुराणो मे दी हुई वशावलियो से भी इसे पुष्टि मिलती है[३]। दूसरी कठिनाई यह है कि मितानियन आर्य लोग 'इण्डो-यूरोपियन' आर्य-जाति के 'शतम्-भाषी' प्राच्य दल के थे, न कि 'कॅंटम्-भाषी' प्रतीच्य-दल के[४]। इसका अर्थ यह निकला कि वे या तो 'इण्डो-यूरोपियन' जाति की पूर्वी शाखा का जत्था था जो

---

१ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृष्ठ १४३-१४८, १७९-१८३।

२ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृष्ठ २०८।

३ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज, पृ० ३०७।

४ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स, पृ० ७१-७२।

क ׀ कला का भारत के पश्चिमोत्तरी सीमाप्रान्त तथा आस-पास के क्षेत्र मे अत्यन्ताभाव है। यह वही भू-खण्ड है जहाँ भारत मे प्रवेश करने के अनन्तर वैदिक आर्य चिरकाल तक आबाद रहे। स्वभावत यह कुम्भकला इस प्रान्त मे प्रचुर-सख्या मे मिलनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा देखने मे नही आया। ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि देश मे ही सीमित होने के कारण यह सम्भावना भी असगत है कि यह कुम्भकला विदेशीय लोगो की कृति थी और भारत मे कही बाहर से लाई गई थी।

हस्तिनापुर के टीलो मे 'काल-२' के स्तर मे जो बाढ के निशान मिले हैं आवश्यक नही कि वे निचक्षु के समय की बाढ के ही हो, जब तक कि इसके समर्थक अन्य प्रमाण नही मिलते। निचक्षु के समय की बाढ एक अभूतपूर्व दैवी कोप था जिसने समस्त हस्तिनापुर का नाम तक मिटा दिया। इसी स्तर से प्राप्त घोडे की हड्डियो के अकेले प्रमाण से यह सिद्ध नही होता कि इस समय के लोग अवश्य ही आर्य थे। हडप्पा[1] और मोहेजो-दडो के खण्डहरो मे घोडे की हड्डियाँ पाई गयी थी परन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि सिन्धु-सस्कृति आर्य-सस्कृति थी।

हडप्पा-सस्कृति की चर्चा के प्रसग मे श्री बी० बी० लाल लिखते हैं कि "यह सस्कृति सिन्धुनद की उपत्यका मे ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्य से दूसरी सहस्राब्दी के मध्य तक फली फूली।" यह तिथि जो उन्होने सिन्धु-सभ्यता के समस्त जीवनकाल की दी है डाक्टर मार्टिमर व्हीलर के दोषग्रस्त कालमान पर आधारित है। जैसा कि मैंने ऊपर सिद्ध किया है सिन्धु-सभ्यता का आरम्भ ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध तक जा पहुँचता है। इसका समर्थन न केवल हडप्पा और मोहेजो-दडो के टीलो की स्तर-रचना से ही अपितु सिन्धु प्रान्त तथा मैसोपोटेमिया से उपलब्ध भौतिक प्रमाणो के साक्ष्य से भी होता है।

---

१ वत्स, माधोस्वरूप—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० १, पृ० १४२।

क ः कला का भारत के पश्चिमोत्तरी सीमाप्रान्त तथा आस-पास के क्षेत्र मे अत्यन्ताभाव है। यह वही भू-खण्ड है जहाँ भारत मे प्रवेश करने के अनन्तर वैदिक आर्य चिरकाल तक आबाद रहे। स्वभावत यह कुम्भकला इस प्रान्त मे प्रचुर-सख्या मे मिलनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा देखने मे नही आया। ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षि देश मे ही सीमित होने के कारण यह सम्भावना भी असगत है कि यह कुम्भकला विदेशीय लोगो की कृति थी और भारत मे कही बाहर से लाई गई थी।

हस्तिनापुर के टीलो मे 'काल-२' के स्तर मे जो बाढ़ के निशान मिले हैं आवश्यक नही कि वे निचक्षु के समय की बाढ के ही हो, जब तक कि इसके समर्थक अन्य प्रमाण नही मिलते। निचक्षु के समय की बाढ एक अभूतपूर्व दैवी कोप था जिसने समस्त हस्तिनापुर का नाम तक मिटा दिया। इसी स्तर से प्राप्त घोडे की हड्डियो के अकेले प्रमाण से यह सिद्ध नही होता कि इस समय के लोग अवश्य ही आर्य थे। हडप्पा[1] और मोहेजो-दडो के खण्डहरो मे घोडे की हड्डियाँ पाई गयी थी परन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि सिन्धु-सस्कृति आर्य-सस्कृति थी।

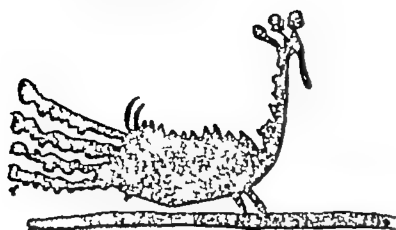
हडप्पा-सस्कृति की चर्चा के प्रसग मे श्री बी० बी० लाल लिखते हैं कि "यह सस्कृति सिन्धुनद की उपत्यका मे ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी के मध्य से दूसरी सहस्राब्दी के मध्य तक फली फूली।" यह तिथि जो उन्होने सिन्धु-सभ्यता के समस्त जीवनकाल की दी है डाक्टर मार्टिमर व्हीलर के दोषग्रस्त कालमान पर आधारित है। जैसा कि मैंने ऊपर सिद्ध किया है सिन्धु-सभ्यता का आरम्भ ईसापूर्व चौथी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध तक जा पहुँचता है। इसका समर्थन न केवल हडप्पा और मोहेजो-दडो के टीलो की स्तर-रचना से ही अपितु सिन्धु प्रान्त तथा मैसोपोटेमिया से उपलब्ध भौतिक प्रमाणो के साक्ष्य से भी होता है।

---

१ वत्स, माधोनरूप—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० १, पृ० १४२।

RANGPUR

HARAPPA


I

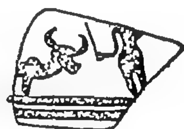

2


3


4

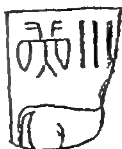

5


6


8


7


9


10


11

फलक ५१ रंगपुर तथा हड़प्पा से उत्खात अभिप्रायों की तुलना

अभिप्रायो मे समानान्तर पट्टियाँ, रेखापूर्ण अण्डार्ध, शक्करपारा, लहरिया आदि वर्णनीय हैं।

रगपुर और रोपड की अपेक्षा लोथल प्राचीनतर—खण्डहर की स्तर-रचना से पता लगता है कि रगपुर और रोपड की अपेक्षा लोथल पाँच सौ वर्ष अधिक प्राचीन था (फलक ५२)। इस खण्डहर के अन्दर बीस फुट ऊँचे मलवे के भराव मे केवल सिन्धु सस्कृति के ही अवशेष मिले, किसी अन्य सस्कृति के नही। इससे व्यक्त होता है कि इस खण्डहर के जीवन-काल मे आरम्भ से अन्त तक यहाँ केवल सिन्धु-सस्कृति के लोग ही आबाद रहे। भारत-पुरातत्त्व विभाग की रिपोर्ट मे लिखा है कि "रगपुर और रोपड के स्थानो मे हडप्पा-सस्कृति के लोगो की पहली बस्ती ईसापूर्व २००० के लगभग शुरू हुई और ईसापूर्व १५०० के आस-पास समाप्त हो गयी। इसके अनन्तर रोपड मे कोई विजातीय लोग, जो चित्रित सलेटी कुम्भकला का प्रयोग करते थे, आकर बस गये। परन्तु रगपुर मे हडप्पा-सस्कृति के लोग धीरे-धीरे बदलते गये और अन्त मे 'चमकीली लाल कुम्भकला' के निर्माताओ के रूप मे परिणत हो गये।

प्राकार-काल—ईसापूर्व २००० के लगभग लोथल के स्थान पर बाढकाण्ड से बचने अथवा शत्रुओ के डर से एक प्राकार बनाया गया। इस प्राकार-काल से पहले एक लम्बा प्राक्-प्राकारकाल का युग था जो पाँच सौ वर्ष के लगभग लम्बा था (फलक ५२)। सन् १९४६ मे डाक्टर व्हीलर ने हडप्पा मे 'टीला ए-बी' के इर्द-गिर्द भी एक दुर्ग-प्राकार की खुदाई की थी। लोथल की तरह हडप्पा खण्डहर के जीवन मे भी एक लम्बा 'प्राक्-प्राकार युग' काल था, यद्यपि डाक्टर व्हीलर इसे नही मानते। उनके मत मे हडप्पा का दुर्ग-प्राकार नवागन्तुक प्रौढ सिन्धु-सस्कृति के सम्वाहको की पहली कृति थी, और उनके पहले इस स्थान पर कोई विजातीय लोग निवास करते थे। जैसा कि मैं पहले निर्देश कर चुका हूँ, मेरा दृढ विश्वास है कि हडप्पा के 'टीला ए-बी' मे बना हुआ दुर्ग-प्राकार 'टीला-एफ' के पहले स्तर की इमारतो की अपेक्षा एक हजार वर्ष बाद का है[1]।

लोथल का महत्त्व—सिन्धु-सभ्यता के कालनिर्णय के लिये लोथल का खडहर एक मानदड है। टीले के अदर की स्तर-रचना की परीक्षा से पता लगता है कि यह स्थान रगपुर और रोपड के खडहरो से पाँच सौ वर्ष अधिक पुराना था। इस टीले मे हडप्पा-सस्कृति के पहले स्तर की तिथि, उत्खाता के अपने अनुमान से, ईसापूर्व २५०० वर्ष है (फलक ५२)। डॉक्टर व्हीलर की सम्मति मे यही तिथि प्रौढ सिन्धु-सस्कृति

---

१ दिसम्बर १९५४ मे इण्डियन हिस्टरी कॉंग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन से जो लेख मैंने दिया था उसमे मैंने यही विचार उपस्थित किया था।

हो सकता। पहले निर्देश किया गया है कि सिन्धु-सभ्यता हड़प्पा के दुर्ग-प्राकार से एक हजार वर्ष अधिक प्राचीन है। लोथल की स्तर-रचना का साक्ष्य मेरे कालनिर्णय का समर्थन और डॉक्टर व्हीलर के कालनिर्णय का निराकरण करता है। लोथल के साक्ष्य के आलोक मे डॉक्टर व्हीलर के कालमान (ई० पू० २५००-१५००) मे सशोधन की आवश्यकता है। इस समय पुरातत्त्वज्ञ और ऐतिहासिक उन्ही के कालनिर्णय को मान्य समझ कर व्यवहार मे ला रहे हैं।

रगपुर का साक्ष्य—सन् १९५४-५५ मे रगपुर मे जो खनन हुआ उससे इस खडहर के निम्न स्तरो मे हडप्पा-सस्कृति के और सब से ऊपर के स्तर मे "उत्तरी काली घृटी कुम्भकला" के अवशेष मिले थे 'इडियन आर्क्यालोजी' (सन् १९५४-५५) मे लिखा है कि "रगपुर मे हडप्पा सस्कृति अपनी स्वाभाविक मौत से मरी। यह धीरे धीरे क्षीण होती गयी और अन्त मे उत्तरकालीन "चमकीली लाल कुम्भकला" की सस्कृति मे परिणत होकर अपनी स्वतत्र सत्ता को अशेषत खो बैठी।" मैंने इस कुम्भकला को राष्ट्रीय सग्रहालय नई दिल्ली मे पुरातत्व प्रदर्शनी मे सूक्ष्म दृष्टि से देखा था। मेरा विश्वास है कि यह हडप्पा की कुम्भकला से इतनी ही भिन्न है जितनी 'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला। इसी की तरह 'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला भी चमकीली और लाल रग की है। दोनो मे परस्पर बहुत समानता है। न केवल इनके आकार, रग और मिट्टी ही समान हैं, अपितु इन पर चित्रित अभिप्राय भी परस्पर बहुत सादृश्य रखते हैं। उदाहरणत, रगपुर के बर्तनो पर जो हिरण चित्रित हैं (फलक ५१, ग) उनकी तुलना 'कब्रिस्तान-एच' के बर्तनो पर बने हिरणो से इस बात मे की जा सकती है कि दोनो भाँति के हिरणो के सीग वक्र हैं, दुमे शरीर से चिमटी हुई ऊपर को उठी हैं, और उनके शरीर भी कई बातो मे समान हैं (फलक ५१, ग-घ) इसी प्रकार रगपुर के ठीकरो पर बने हुए गो-जाति के पशुओ के सिरो पर (फलक ४९, ड) मध्योन्नत आकार के सीग और खडे कान 'कब्रिस्तान-एच' की कुम्भकला पर बने हुए पशुओ के सीगो के बहुत अनुरूप हैं (फलक ५१, छ, ज, ट)[१]।

चमकीली लाल कुम्भकला—यह भली प्रकार मालूम है कि 'कब्रिस्तान-एच' मे गडे हुए लोग हडप्पा-सस्कृति के लोगो से भिन्न जाति के थे। वे हडप्पा मे उस समय आये जब सिन्धु-सस्कृति प्रबल वेग से अवनति की ओर लुढक रही थी। अत यह अनुमान लगाना युक्तिसगत होगा कि कब्रिस्तान-एच के लोगो की तरह 'चमकीली लाल कुम्भकला' के कर्ता भी विजातीय थे और वे रगपुर मे उस समय आकर

---

१ वत्स, माधोसरूप—एक्सकेवेशन्स एट हडप्पा, ग्र० २, फलक ६३,१०; फलक ६४, २, ३, फलक ६६, ५३, ६४ आदि।

वसे जव हडप्पा सस्कृति वहाँ अपने जीवन के अन्तिम क्षणो मे थी। हडप्पा की तरह रगपुर मे 'चमकीली लाल कुम्भकला' का अस्तित्व इस कारण नही था कि सिन्धु-सस्कृति के लोगों मे धीरे-धीरे परिवर्तन हो गया था, अपितु इसलिये कि यहाँ भी एक विजातीय लोगो का दल महसा प्रकट हुआ था। सम्भवत ये 'कब्रिस्तान-एच' के ही लोग थे जो सिन्धु-सस्कृति के लोगो का अनुसरण करते हुए हडप्पा से चलते-चलते उस समय रगपुर मे पहुँचे जव हडप्पा-सस्कृति अन्तिम क्षणो मे थी।

रगपुर के एक वर्तन पर चित्रित मोर (फलक ५१, क)[१] भी सिद्ध करता है कि सिन्धु-सस्कृति का यह रूप उत्तरकालीन, अवनत और निकृष्ट था। यह हडप्पा के वर्तनो पर वने हुए मोरो (फलक ५१, ख) से इतना भिन्न है कि इसे सिन्धु-सस्कृति की कलाकृति कहने में मन सकुचाता है। रगपुर का मोर हडप्पा के मोर का विकृति रूप है और निस्सन्देह इस सस्कृति के अवनति काल का है। रगपुर और लोथल मे लाल और मटियाली कुम्भकलाओ के ठीकरे जो समान स्तरो मे मिले इस तथ्य का अतिरिक्त प्रमाण हैं कि रगपुर मे उद्घाटित सिन्धु-सस्कृति का रूप इसके ह्रासकाल का है। हडप्पा और मोहेंजो-दडो मे सिन्धु-सस्कृति के स्तरो मे केवल लाल कुम्भकला के ही खड मिले थे। रगपुर और लोथल मे हडप्पा-सस्कृति के स्तरो मे एक साथ लाल और मटियाली कुम्भकलाओ का मिलना इस वात का प्रतीक है कि सौराष्ट्र के निवासी सिन्धु-सस्कृति के लोगो और हडप्पा-निवासी उनके पूर्वजो मे एक लवे समय का व्यवधान पड चुका था।

रोपड़ का साक्ष्य—सन् १९५४-५५ मे रोपड के खडहर मे जो खनन हुआ वह हडप्पा-सस्कृति के कब्रिस्तान में ही केन्द्रित रहा। यद्यपि रोपड का प्रागैतिहासिक कब्रिस्तान हडप्पा के 'कब्रिस्तान-आर-३७' से सादृश्य रखता है, तथापि इसमे हडप्पा कब्रिस्तान के वहुत से तत्वो और विलक्षणताओ का अभाव है। इस वात का अनुभव करने के लिये एन्शेंट इडिया न० ३ मे प्रकाशित शव-वस्तुसामग्री का परिशीलन करना आवश्यक है[२]। इससे पता चलता है कि हडप्पा के कब्रिस्तान आर-३७ मे शवो के साथ जो वर्तन तथा दूसरी वस्तुएँ रखी जाती थी वे कितनी विचित्र और अनेकरूप होती थी। इनमे खुले मुँह और भावदुम पैंदी के नाँद अडाकार और गोल मटके, गोलार्ध आकार के ढकने, वृत्ताकार मजूषाएँ आदि, जिनमे प्रेत के उपभोग के लिये खाद्य पदार्थ रखे जाते थे, समाविष्ट थे। इन पर मोर, शमी, पीपल आदि धार्मिक अभिप्राय के चित्र वने थे (फलक ३४, क-ज)। रोपड के कब्रिस्तान मे ये सव विशिष्ट-

---

१ इडियन आर्क्योलोजी, १९५४-५५, फलक १२ ए।

२. एन्शेंट इडिया न० ३, चित्र १३ से २३ तक और फलक ४६, ४७।

ताएँ नही मिलती। न ही इसमे प्रेत के उपभोग के लिये कब्र मे शव के साथ तांबे के दर्पण (फलक ३४, झ), काजल और लेप डालने की सीपियाँ व कटोरियाँ आदि शृगार की वस्तुएँ, जो हडप्पा की कब्रो मे पाई गईं, मिली हैं। हडप्पा की कई कब्रो मे शवो के साथ बलिरूप से वध किये हुए पशुओ और पक्षियो की अस्थियाँ थी। ये सब विलक्षणताएँ रोपड के शव-स्थान में नही मिली।

रोपड मे उत्खात प्रागैतिहासिक शवस्थान सिन्धु-सस्कृति से प्रभावित अवश्य था, परन्तु हडप्पा के शवस्थान आर-३७ का समकालीन नही हो सकता। प्रतीत होता है कि रोपड के कब्रिस्तान के लोगो का सम्पर्क चिरकाल से सिन्धु-सभ्यता के केन्द्र-स्थानो से छूट चुका था। मनुष्य समाज में जन्म-मरण-सम्बन्धी रीति-रिवाज कठिनता से बदलते हैं। यही कारण है कि सिन्धु-सभ्यता के केन्द्रस्थानो से सम्बन्ध छूट जाने पर भी रोपड मे शव गाडने की प्रथा जारी रही, परन्तु इस अन्तर मे ये लोग अपनी बहुत सी प्राचीन प्रथाओ और परम्पराओ को भूल गये। अन्यथा रोपड के कब्रि-स्थान मे सिन्धु-सस्कृति की पूर्वोक्त विलक्षणताओ के अत्यन्ताभाव का कारण बतलाना कठिन है। 'इडियन आर्क्यालोजी' १९५३-५४ मे लिखा था कि रोपड मे उद्घाटित हडप्पा-सस्कृति का रूप पूर्ण विकसित, प्रौढ एव सब लक्षणो से युक्त था। मैंने अपने पहले लेख मे निर्देश किया था कि हडप्पा-सस्कृति का यह रूप उत्तरकालीन है। मुझे हर्ष है कि इडियन आर्क्यालोजी के १९५४-५५ के सस्करण मे पुरातत्व विभाग ने अपने पिछले वर्ष के विचार मे यह सशोधन कर दिया है कि "रोपड मे सिन्धु-सस्कृति का जो रूप प्रकाश मे आया वह प्रौढ़ हडप्पा-सस्कृति का उत्तरकालीन रूप है।"

बाडा और सलौरा का साक्ष्य—सन् १९५४-५५ मे पुरातत्व विभाग ने रोपड के निकट बाडा और सलौरा नाम के दो और प्रागैतिहासिक खडहरो का उद्घाटन कराया। ये खडहर एक दूसरे से लगभग ३०० गज के अन्तर पर स्थित हैं। 'बाडा' का सारा टीला हडप्पा-सस्कृति की बस्तियो से भरा पडा था। परन्तु 'सलौरा' के टीले मे इस सस्कृति की एक भी बस्ती नही थी। इसमे सबसे नीचे की आबादी मे 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के ठीकरे मिले थे[1]। इन टीलो की खुदाई से भी पता लगता है कि सिन्धु-सस्कृति के लोग और 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता इन स्थानो मे भी कभी परस्पर सम्पर्क मे नही आये। ऐसी ही परिस्थिति रोपड, हस्तिनापुर आदि उन समस्त प्राचीन टीलो मे पाई गई थी जहाँ-जहाँ "चित्रित सलेटी कुम्भकला" हडप्पा-सस्कृति के स्तरो के ऊपर पडी थी। इस नवीन साक्ष्य के आधार पर एक बार फिर यह कहना पडता है कि 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' वैदिक आर्यों की कृति नही थी।

---

१ इडियन आर्क्यालोजी, १९५४-५५, चित्र ३।

यदि ऐसा होता तो प्राचीन टीलो से उत्खात अन्त प्रमाण इस बात का समर्थन करते। स्मरण रहे कि आर्य-जाति लबे और कठोर सघर्ष के बाद भारत की मूल जातियो को, जिनमे एक सिन्धु-सभ्यता के लोग भी थे, पराजित करके अपने वश मे लाने के समर्थ हुई थी। 'हस्तिनापुर के खडहर और महाभारत-काल' शीर्षक अपने लेख मे इस समस्या पर आलोचना करने के अनन्तर मैं इस निर्णय पर पहुँचा था कि 'चित्रित सलेटी कुम्भकला' के निर्माता वैदिक आर्य नही थे। 'वाडा' और 'सलौरा' टीलो की खुदाई मे जो प्रमाण मिले वे मेरे पूर्वोक्त निर्णय को पुष्ट करते हैं।

सहायक-ग्रन्थ

१ —ऐतरेय ब्राह्मण
२ —एटिक्विटी, ग्र० १३
३ —एटिक्विटी, ग्र० १९, अक ७६
४ —आर्क्योलाजीकल सर्वे ऑफ इडिया, वार्षिक रिपोर्ट, सन् १९११-१२
५ —आर्क्योलाजीकल सर्वे ऑफ इडिया, वार्षिक रिपोर्ट, सन् १९३४-३५
६ बार्टन—आरिजिन एड डिवेलपमेंट ऑफ वेबीलोनियन राइटिंग
७ —केम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इडिया, ग्र० १
८ चाइल्ड, वी० जी०—न्यू लाईट आन दि मोस्ट एन्शेंट ईस्ट
९ चाइल्ड, वी० जी०—दि आर्यन्स
१० कनिघम, सर एलेग्जेंडर—सी० एस० आर०, न० ५
११ —धन्वन्तरीय निघण्टु
१२ —एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका
१३ ईवान्स, सर आर्थर—पेलेस ऑफ मिनास एट नॉसस
१४ फ्रेंकफर्ट, एच—सिलिडर सील्स
१५. फ्रेंकफर्ट, एच—टेल आस्मर एड खाफजे
१६. फ्रेंकफर्ट, एच—आर्क्योलोजी एड सुमेरियन प्राब्लेम
१७. घोष, ए०— इडियन आर्क्योलोजी, १९५३-५४
१८ घोष, ए०—इडियन आर्क्योलोजी, १९५४-५५
१९. घोष, ए०—एन्शेंट इडिया न० १० एड ११
२०. घोष, ए०—राजस्थान डेजर्ट, इट्स आर्क्योलाजिकल एस्पेक्ट
२१ हाल, एच० आर—ए सीज़न्स वर्क एट 'उर'
२२ हाल एड वूली—अल' उवेद
२३ हटर, जी० आर०—स्क्रिप्ट ऑफ हडप्पा एड मोहेजो-दडो
२४. —इलस्ट्रेटड लडन न्यूज, अक्तूबर ९, १९५२
२५ किग एल० डवल्यू०—हिस्टरी ऑफ सुमेर एड एक्कड

२६ मेकडानेल, ए० ए०—वैदिक माइथालोजी
२७ मेकडानेल एड कीथ—वैदिक इडेक्स
२८ मेके, ई०—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेजो-दडो
२९ मेके, ई०—चन्हुदडो एक्सकेवेशन्स
३० मेके, ई०—सुमेरियन पेलेस एड दि ए' सिमेट्री एट किश।
३१ मेकेंजी, डी० ए०—मिथ्ज ऑफ बेबीलोनिया एड एसीरिया
३२ —महाभारत, कर्णपर्व
३३ मजुमदार, एन० जी०—एक्सप्लोरेशन इन् सिंध
३४ मजुमदार, आर० सी०—दि वैदिक एज
३५ मार्शल, सर जान—मोहेंजो-दडो एड दि इडस वेली सिविलाइजेशन
३६ मेककौन—कम्पेरेटिव स्ट्रेटिग्राफी ऑफ अर्ली ईरान
३७ पार्जीटर, एफ० ई०—एन्शेंट इन्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन
३८ स्टार, एफ० एस०—इडस वेली पेंटड पॉटरी
३९ स्टाईन, सर आरल—आर्क्योलाजिकल टुअर इन वजीरिस्तान, मेमायर न० ३७
४० स्टाईन, सर आरल—आर्क्योलाजीकल टुअर इन गेड्रोसीया, मेमायर न० ४३
४१ वत्स, माधोसरूप—एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा
४२ वार्ड—सिलिंडर सील्स ऑफ वेस्टर्न एशिया
४३ व्हीलर, सर मार्टीमर—एन्शेंट इडिया न० १
४४ व्हीलर, सर मार्टीमर—एन्शेंट इडिया न० ३
४५ व्हीलर, सर मार्टीमर—दि इडस सिविलाइजेशन (सप्लीमेंटरी टु दि केम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इडिया)
४६ वूली, सर लिओनार्ड—उर एक्सकेवेशन्स